: १ :

वर्षा की पहली रात है। अभी थोड़ी देर पहले खूब खुलकर पानी बरस चुका है और अब केवल फुहार गिर रही है। नन्हीं-नन्हीं झरती हुई बूँदें ऊपर वाले कमरों से—और मोती-सी बड़ी-बड़ी बूँदें बिजली के तारों पर दौड़ती हुई—देखने में इतनी प्यारी मालूम पड़ रही हैं कि तप्त मन की कल्पना कह उठती है, काश मौसम सदा ऐसा ही सुहावना बना रहता। सड़क के दोनों ओर बहता हुआ पानी, छल-छल करता और कहीं-कहीं उछलता हुआ छिटककर बहता, मानो कह रहा है कि मैं जीवन-रस हूँ; नित्य इसी तरह प्रवहमान रहना मेरी प्रकृति है। और झिल्ली की झनकार के साथ उसका स्वर मिलकर तो एक सामूहिक रव बन जाता है और ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे यही विश्व-वाणी है; इसी शिंजन में मनुष्य अपने जीवन को भी देख लेता है। तपन से झुलसी हुई धरती ने आज जी भरकर प्यास बुझाने का जो अवसर पाया है, तो उसकी भीगी देह से एक अनोखी सोंधी-सोंधी सुगन्ध फूट रही है। नीम के सघन वृक्षों पर मोर बोल उठते हैं, तो ऐसा कोलाहल मच जाता है कि जीवन की सारी सुधियाँ जैसे कानों पर ही उतर आना चाहती हैं।

गिरधारी लाला का कमरा, जिसमें तीन दरवाजे पूरब की ओर खुलते हैं, उसके दो फ़ीट नीचे से ही फुटपाथ प्रारम्भ हो जाता है। उसके उत्तर की ओर खुलनेवाला दरवाजा अन्तःपुर से जा मिला है। कमरे में उत्तर-दक्षिण जो बिजली के लैम्प लगे हैं वे जलाये नहीं गये। एक तीसरा लैम्प पश्चिमी दीवाल पर है, वही जल रहा है। और उसके ऊपर बैठी हुई छिपकली

शिकार की ताक में चुपचाप शांत भाव से चिपकी है। उसकी कंजी आँखों की पुतलियाँ बदल रही हैं और दरवाज़े से लगी दीवाल के पास वाले कोने से चींटियों की एक सेना चली जा रही है। सड़क पर से मोटर-बाइक के जाने का फट-फट स्वर, पानी से तर भूमि से उठनेवाले छर-छर स्वर के साथ, एक विजातीय नाते का-सा परिचय दे उठता है। कमरे में जो सोफ़ा-सेट पड़ा हुआ है, उसका आवरण कुछ पुराना हो गया है। बीच में एक छोटी टेबिल रखी है। पश्चिम की दीवाल में तीन आलमारियाँ हैं, जिनमें तीन-तीन ताले पड़े हुए हैं। इन आलमारियों में शीशे नहीं हैं, पल्लों से वे पूरी ढकी हुई हैं। उनके बीच में खूँटियाँ गड़ी हैं, जिनमें से एक पर छाता, दूसरे पर छड़ी और तीसरे पर हंटर टँगा है।

गिरधारी लाला चुपचाप खमीरे का हुक्का गुड़गुड़ा रहे हैं। उनके बदन पर धुला हुआ बनियान और पायजामा है। बनियान की सीवन बाईं ओर कुछ उधिड़ गई है। उनके पैरों में हाल के खरीदे हुए रबर के स्लीपर हैं, जिनमें से एक खाली पड़ा हुआ है। दूसरे में उनका पैर रखा है। और छत पर लगा पंखा फर-फर बोल रहा है।

लालाजी मन-ही-मन उस जमाने की तस्वीर देख रहे हैं, जब ऐसी ही काली भयावनी रात होगी, जैसी आज है। बादल इसी तरह गरज रहे होंगे, जैसे आज। और आज का हट्टा-कट्टा यह शरीर कृश होकर एक टूटी हुई चारपाई पर पड़ा कराहता होगा। उस समय उसकी पिंडलियों, गाँटों— यहाँ तक कि नस-नस में इतना दर्द होगा कि उठा तक न जायगा। ज्वर की तीव्रता से प्यास के मारे दम घुट रहा होगा, पर स्वच्छ बर्तन में निर्मल शीतल जल पिलानेवाला यहाँ कोई न होगा। लड़कियों का अपना-अपना संसार बन जायगा, पत्नी इस दुनिया से कूच कर चुकी होगी और पैसे के अभाव में नौकर तो कभी के विदा ले चुके होंगे!

हुक्का गुड़गुड़ बोल रहा था।

इसी समय उन्हें एक साथ कई एक बातें याद हो आईं: कालीचरन और सोनी को कल तनख्वाह देनी है, बिजली का बिल चुकाना है और शारदा

तथा विमला को पुस्तकें लेनी हैं। जब चिन्ता जग उठती है, तब मनुष्य का शरीर चिता की भाँति जल उठता है।···शारदा ने कहा था—'बड़ी चाची को सोमवती अमावस के खर्चे के लिए पचास रुपये चाहिएँ।' और हाँ, चौधरी शंकरदयाल के यहाँ अब जाना चाहिए। उनका लड़का पी. ए. यस्. में निकल गया है। अगर यह सम्बन्ध तय हो गया, तो——तो——दस हज़ार इसके लिए चाहिए।···इससे तो कहीं अच्छा होता कि मैं अब इस संसार से कूच ही कर जाता। मगर नहीं, अभी मुझे अपना कर्म-फल जो भोगना है।···मरा कर्म-फल! मुझे किसी का भय नहीं है!

इतने में यकायक भीतर की ओर खुलनेवाले दरवाज़े की चिक का परदा उठा, तो लालाजी कुछ कड़कीले स्वर से बोले—"कौन?···काली? हाँ, क्या है?"

"भोजन तैयार है।"

"मैं आज भोजन नहीं करूँगा।"

"एँ! भोजन नहीं करेंगे! कहते क्या हैं! ऐसा कहीं हुआ है! भोजन तो सरकार करना ही पड़ता है।"

भौंहों में गाँठें पड़ गईं। हुक्के की निगाली पकड़े हुए तीव्र दृष्टि से देखकर वे बोले—"मुझे सीख देने की कोशिश मत करो काली! जाओ अपना काम देखो।"

काली चला गया। चिक का परदा उठा और गिरा। और तस्वीर देखने का सिलसिला फिर चल पड़ा।

उसके बाद एक दिन ऐसा भी आयेगा, जब मैं खाट पर बेहोश पड़ा रहूँगा। नाते-रिश्तेवाले लोग आपस में काना-फूसी करने लगेंगे। एक दूसरे से कहेगा—"मुझे तो कुछ बतलाया नहीं कि कहाँ क्या है। तुमको शायद बतलाया हो!" और उसे उत्तर मिलेगा–

"···ए रतन के काका, बहुत बनो नहीं हमसे! हमका सब मालुम है। ···रत्ती-रत्ती। ई हमार मूड़े क बार धूप मा नाहीं सपेद भे।"

···उस समय उनको मुझे दवा पिलाने की उतनी फ़िकर न होगी, जितनी

मेरी सम्पत्ति हड़पने की। और जिस समय मेरे प्राण-पखेरू उड़नेवाले होंगे, उस समय कोई गोदान करानेवाला भी मेरे पास न होगा। क्योंकि ये लड़कियाँ एक तो अपने-अपने घरों में होंगी और यदि कोई यहाँ होगी भी तो, वह अपने बच्चों को प्यार से चिपटाये इतमीनान से सोती रहेगी। क्योंकि तब तक मेरी तीमारदारी में उनके नैश जागरण की सीमाएँ कभी की समाप्त हो चुकी होंगी।

हुक्का गुड़-गुड़ बोल रहा था।

इसी समय यकायक पूर्व की ओर से दो आदमियों ने प्रवेश किया, जिनमें से एक गाँठों तक मोटी धोती, बदन में चारखाने की एकाध जगह कुछ मसकी हुई कमीज़ और सिर पर खासे का एक साफ़ दुपट्टा धारण किये हुए था। उसकी गड्ढों में धँसी खोखली आँखों में दैन्य और बेबसी की म्लान छाया प्रतीत होती। जवानी में ही गाल पिचक गए थे और कनपटी के ऊपर की अस्थि तो इमली के गिरे हुए पेड़ की ऐंठी हुई जड़ के समान उभरी जान पड़ती थी। वह कीचड़ से भरा हुआ चमरौधा जूता पहने हुए था, जिसका तला एड़ियों पर से दायें-बायें बिलकुल घिस गया था।

दूसरा व्यक्ति लालाजी का दूर का रिश्तेदार होता था। उसके सिर पर एक पुरानी काली टोपी थी और अवस्था में भी वह लालाजी से बड़ा था। उसके दायें हाथ में सोने की एक अँगूठी थी, जिसमें पुखराज का नग जड़ा हुआ था। उसका कुछ ढीला-ढाला टसर का कोट बन्द गले का था, जिसमें संकोच-जैसी मूक सिकुड़नें पड़ी हुई थीं। उसके आगे के दाँत गिर गए थे और सिर के ऊपर का चंदोवा मैदान की तरह साफ़ हो चुका था। उसकी मूँछें ही नहीं, सिर और भौंहों के बाल भी सफ़ेद हो गए थे। लेकिन उसका ललाट बड़ा प्रशस्त था और बोलते क्षण एक ऐसे व्यक्तित्व की झलक उत्पन्न करता था, जो टूट सकता है, पर लच नहीं सकता।

प्रवेश करते ही लालाजी के मुँह से निकल गया—"आख्खाः दादाजी हैं। प्रणाम करता हूँ।"

"खुश रहो भाई !" दादा आशीर्वाद देते हुए गिरधारी लाला को ध्यान से देखने लगे।

गिरधारी लाला बोले—"ऐसे निकल आइए। आज बहुत दिनों में दीख पड़े दादा !"

"जीवन ही कुछ ऐसा मशीन-सा बन गया है गिरधारी कि कहीं आने-जाने का अवसर ही नहीं मिलता।" कहते-कहते दादा कुरसी पर बैठ गए।

"वह भी एक दिन थे दादा, जब हम आपके यहाँ, उस अधबने मकान के एक कमरे में, घंटों ताश खेलते रहते थे। वहीं बैठे-बैठे हमारा भोजन आ जाता था। बात-बात पर कितना शोर-गुल मचाते थे हम लोग। दादा कहाँ चले गए वे सुनहले दिन ?"

"क्या बतलाऊँ, कहाँ चले गए !" सोफ़े पर बैठते हुए दादा ने कहा ही था कि गिरधारी लाला बोल उठे—"मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि काल उन्हें अपने मुँह में रखकर चट कर गया। और····।"

दादा ने छाते को खूँटी पर टाँग दिया और गिरधारी लाला ने उत्तर की ओर का दरवाज़ा, जिसमें सींखचे लगे थे, खोलते और फिर यथास्थान बैठते हुए कह दिया—"और यह मक्कार दुनिया और इसकी हिंसक सभ्यता उन्हें हजम कर गई।"

दादा मुसकराये और सोचने लगे—यह एक नम्बर का बना हुआ चलता-पुर्ज़ा आदमी भी वही कह रहा है, जो मुझे कहना चाहिए ! ख़ूब !!

पर गिरधारी लाला बिना रुके कहते चले गए—"समय आगे बढ़ता गया और हमारे सुख पीछे छूटते गए। हमने ब्याह किया; बाल-बच्चे हुए। उनकी ज़िम्मेदारियाँ क्या कन्धों पर आईं, मानो हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ियाँ डाल दी गईं। और हमसे कह दिया गया—"चलो बेटा ! देखें, कितना तेज चलते हो !"

दादा बोले—"घर-घर यही रोना है गिरधारी ! रूप भले ही बदले हुए हों, पर मूल समस्याएँ मनुष्य-मात्र की एक-सी ही हैं।" और टोपी उतारकर उन्होंने सामने रखी छोटी टेबिल पर रख दी।

गिरधारी बोले—"आराम से बैठिये। जूते उतार दीजिये। यह साथ में कौन है? मैंने पहचाना नहीं।"

"गोपी लोध है। इसी के काम से आया हूँ इस समय।" दादा कोट के ऊपरी बटन खोलते हुए बोले—..."हाँ, तुम इसको न पहचानते होगे। पर इसका बाप तुम्हारे यहाँ हरवाहा था।"

गिरधारी उठे और भीतर की ओर खुलनेवाले दरवाज़े पर जाकर पुकारने लगे—"काली, अरे ओ कालिया!"

क्षण-भर में काली सामने आ गया।

लालाजी बोले—"रसोई अभी बढ़ाई तो गई न होगी?"

"नहीं।" कालीचरन जवाब देकर आगे आने वाली बात की प्रतीक्षा करने लगा।

"तो दादा के लिए खाना परसवाओ।" हाथ खुजलाते-खुजलाते गिरधारी बोले—"और देखो। इसको भी...वहीं लेते जाओ।"

इतने में गोपी सिर पर से साफ़ा उतारते हुए बोला—"हमारी खातिर आप तकलीफ़ ना करें सरकार! आपई के टुकड़ा खाय कें जियत हैं हम लोग। पै आज तो घर तेई जीम के चले हैं।"

कालीचरन चुपचाप खड़ा दादा की ओर देखने लगा। ऊपर के कमरे में शारदा रेडियो खोले बैठी थी। उसमें से एक वाक्य यहाँ, इस कमरे में बैठे, दादा के कान में जा पड़ा—'वह मरते समय भी कुछ सोच-सा रहा था।'

तभी दादा बोले—"वैसे कोई नई बात न थी; अपना ही घर ठहरा। मगर तुमको शायद यह न मालूम होगा कि इधर कई वर्षों से भोजन हम एक ही वक्त करते हैं गिरधारी!

"ऐसा कैसे हो सकता है? एक ज़माने के बाद तो आप पधारे...!"

"इससे क्या? भोजन तो तभी किया जाता है, जब पेट में आग सुलगती है...।"

"अच्छा दूध तो थोड़ा चलेगा?"

"दूध ? मगर दूध हम केवल गाय का लेते हैं और तुम्हारे यहाँ भैंस का आता होगा।"

"मगर दादा, सिर्फ़ एक दिन भैंस का दूध पी लेने से ऐसी कोई हानि न होगी, जो···।"

"जो शरीर के लिए कष्टकारी हो। क्यों ? लगे फिर हमसे बच्चों की-सी बहस करने ! तुम शायद वह दिन भूल गए, जब एक बार मैंने अपने सगे बहनोई से कहा था कि जो लोग केवल एक बार समुचित के बदले निकटवर्ती अनुचित-जैसा पाप करने की सलाह देकर उसके निश्चित दुष्परिणामों की ओर से अंधे, बहरे और गूँगे हो जाना चाहते हैं, वास्तव में मुख्य अपराधी वही लोग हैं। और समाज में सुव्यवस्था स्थिर रखने के लिए हमें सबसे पहले उन्हीं पर विचार करना होगा।"

निरुत्तर से होकर, अन्य उपाय न देखकर, लाला गिरधारी पान की तश्तरी की ओर देखते हुए बोले—"ऐसी बातों पर विचार करने के लिए न तो हमारे पास समय का अभाव है और न ऐसी कोई गम्भीर स्थिति ही हमारे सामने है कि उसके बिना आगे बढ़ना ही दुष्कर हो रहा हो। इसलिए लीजिये, पहले पान खाइये और फिर यह बताइये कि हमारे लिए कौन सी आज्ञा करने को आप पधारे हैं।"

"आज्ञा-वाज्ञा तो आज के ज़माने में बड़ों की कहीं कुछ चलती-वलती नहीं। साफ़-ही-साफ़ कह देने में मैं अधिक विश्वास करता हूँ गिरधारी ! मुझे मालूम हुआ है कि तुमने इधर अपनी काफ़ी ज़मीन उठाई है। सो यह गोपी लोध भी तुम्हारा वह पाँच बीघावाला खेत चाहता है, जिसकी मेड़ पर एक शीशम का पेड़ है।"

सिर से दुपट्टा उतारकर गोपी इसी समय हाथ जोड़ता हुआ बोल उठा—"बारे-बारे तुम्हारे चार बच्चे हैं सरकार ! उनको द्वै रोटियन को परबन्ध कर देयँ, तो मैं जी जाऊँ। बस इतनी अरज है।"

"हूँ, तो यह कहो कि तुम अपने बच्चों की रोटियों का प्रबन्ध करने के बहाने मेरे बच्चों की रोटियाँ छीनने आये हो ! बड़ी हिम्मत है तुम्हारी !

और दादा, तुमने भी यह अच्छा धन्धा शुरू किया है !"

"बहुत बहको मत गिरधारी ! शैतान की आँतें साधारण आदमियों की आँतों से बहुत बड़ी होती हैं, मानता हूँ। मगर एक घर वह भी छोड़ता है।"

"लेकिन मैं एक के बदले ढाई घर छोड़नेवाला जीव हूँ दादा !" कुरसी से उठते, फिर दो क़दम दक्षिण की ओर बढ़कर स्थिर होते हुए गिरधारी बोले—"मैं सौदे को केवल सौदे की तरह देखता हूँ। उसे भीख का रूप देने में कोई सुन्दरता नहीं है। उसमें दया और ममता की पुट देना तो सरासर बेवकूफ़ बनाना है। मैं ज़मीन उठा रहा हूँ यह सही है। मगर मैं ज़मीन लुटा नहीं रहा हूँ, यह भी उतना ही सही है। जिस खेत की बाबत ज़िक्र आया है वह मेरा सबसे अधिक उपजाऊ खेत है। उसकी ज़मीन बिलकुल तालाब से लगी हुई है। पाँस और खाद उसमें क़ुदरती तौर पर हमेशा पड़ती रहती है। उसमें सौ मन आलू पैदा होता है। इन सब गुणों के कारण मैं उस खेत के पन्द्रह सौ रुपये नकद लूँगा, और इसमें एक छदाम कम न करूँगा।"

तब खुले हुए कोट का बटन लगाते हुए दादा बोले—"पन्द्रह सौ रुपये बहुत होते हैं गिरधारी ! जैसी ज़मीन तुम बतलाते हो, बिलकुल वैसी, बल्कि उससे भी किसी क़दर अच्छी,—और पाँच नहीं पूरे सात बीघे—कुँवर घन-घोरसिंह ने अभी परसों सिर्फ़ एक हज़ार रुपये नज़राने पर उठाई है ! बात ऐसी करो, जो क़ायदे की हो। ऐसी मत करो, जो ईश्वर को भी सहन न हो।"

ईश्वर की बात आते ही गिरधारी को अदृश्य जगत् की नाना कल्पनाएँ प्रायः घेर लिया करती थीं। अतः कमरे की स्लेप छत दीवालों के ऊपर जहाँ से जुड़ती है, उसके ठीक नीचे कुछ नर-मुण्ड से लटके हुए देखकर लाला गिरधारी पहले तो भय-कातर हो उठे, फिर उन्हें कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वे चेहरे आँखें फाड़-फाड़कर उनकी ओर देख रहे हैं। और वे नर-मुण्ड कैसे ? कोई दाढ़ी रखाए हुए हैं, तो किसी ने मुण्डन करा रखा है। किसी की बत्तीसी खुली हुई है, तो किसी की खोखली आँखें भर हैं। कोई हँसता हुआ मूँछ उमेठ रहा है, तो कोई मुँह फुलाये उदास बैठा है। कोई अट्टहास कर रहा है, तो कोई

अश्रु-पात! फिर क्षण-भर में कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वे सब-के-सब मिलकर चिल्ला उठे हों :

'तुम सिर्फ़ हमारी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते रहे।

तुम श्रम से सदा भागते रहे। धरती की उपज की दलाली को तुमने जीविका बना लिया।

तुमने कुछ नहीं किया। तुम हमारे कुल-कंलक निकले।'

और इसी क्षण कड़-कड़ की आवाज़ के साथ भयंकर रूप में बिजली कड़की और बादल गरजने लगे। ऐसा मालूम हुआ कि वे कुरसी से गिर पड़ेंगे। किन्तु फिर वे सहसा सँभल गए, और साहस के साथ बोले—"मगर बासी भात में खुदा के साझे वाली यह बात मुझे कुछ जँची नहीं दादा, आपको मालूम होना चाहिए कि ज़मींदारी दम तोड़ रही है। जिस धरती की बदौलत हमारे बाप-दादों ने नवाबों और राजा-रईसों की-सी ज़िन्दगी बिताई, वह हमेशा के लिए हमसे छूट रही है। भविष्य में उसका कोई भरोसा नहीं। ऐसी दशा में पूरा न सही, अधूरा हक़ भी हमको न मिले, मेरे विचार में यह भी ईश्वर को कभी सहन न होगा। हाँ, आपका ऐसा कोई इरादा हो, तो बात दूसरी है।"

"मैं आदमी कुछ और क़िस्म का हूँ गिरधारी," पास रखी टोपी को सिर पर धारण करते-करते दादा बोले—"मैं जानता था कि तुमसे बात न बनेगी। पूछो इससे, मैंने वहीं कहा था कि नहीं कि मुझे साथ मत ले चलो। वह किसी की बात मानने लायक़ आदमी है नहीं। उसके पास आने वाले, घर से जो एक उत्साह और आशा लेकर चलते हैं, तो यहाँ से निराश होकर भीतर-ही-भीतर रोते हुए लौटते हैं! उसके यहाँ प्रार्थना फ़र्श पर नाक रगड़ती और हा-हा खाती है, विनय तिरस्कार का पदाघात सहकर सिसकियाँ भरती और दया-ममता अपने अन्दर एक आह छिपाये चुपचाप चल देती हैं! आत्मा का समस्त अमृत वहाँ पानी बनकर आँखों के रास्ते से नित्य झरता रहता है!..."

जिस समय दादा यह वाक्य कह रहे थे, उस समय गिरधारी के कानों

में पूर्वजों की ये बातें आ रही थीं :

——तुम चाहते तो अपनी सैकड़ों बीघे ज़मीन का उपयोग आधुनिक प्रणाली के कृषि-उद्योग के रूप में कर सकते थे।

——तुम चाहते तो ऐसे मकान ही बनवा लेते, जिनमें अतिवृष्टि के समय ग़रीब जनता का जान-माल तो सुरक्षित बना रह सकता। नदियों में बाढ़ आने पर जो सहस्रों नर-नारी काल के मुँह में समा जाते हैं, वे तो बच जाया करते।

——तुम चाहते तो आपस में मिलकर ऐसी कंपनियाँ क़ायम करते और चलाते, जो तरह-तरह की मशीनों के कल-पुरज़े बनातीं; उनमें वैद्य, डाक्टर और रसायन-शास्त्री मिलकर ऐसी दवाइयों और इंजेक्शनों के आविष्कार का काम करते, जो व्यावसायिक समृद्धि के साथ-साथ देश का गौरव बढ़ाते।

——लेकिन तुम ऐसे आलसी, निकम्मे, नशेबाज़, जुआरी, लम्पट और अन्धे साबित हुए कि आगे आनेवाले संकट की हवा तक न पा सके! ···· रोने से क्या होता है? अब तो दूरदर्शिता से काम लो, तभी उद्धार संभव है।

अत: दादा की बात पूर्ण होते ही कुरसी की पीठ पर दोनों हाथ रखते हुए गिरधारी लाला बोले——"नाटकीय संवादों में इस तरह के वाक्य बड़ा काम करते हैं दादा! क्योंकि कविता की थोड़ी-बहुत पुट के बिना उनमें मज़ा नहीं पैदा होता। लेकिन आपको मालूम होना चाहिए कि ज़िन्दगी और कविता में बड़ा अन्तर है। आज तो भविष्य की ओर देखे बिना केवल भावना में बहकर, अगर कोई ग़लत कदम रख देता है तो ठोकर खाकर गिरे बिना बच नहीं पाता। मैं वह दिन बहुत निकट देख रहा हूँ दादा, जब काम-काज के अवसरों पर दूध-दही से लेकर चारा-भूसा तक हमको उन लोगों से ख़रीदना पड़ेगा, जो कभी हमारे हलवाहे थे! और ज़रूरत की ये मामूली चीज़ें हमारे यहाँ दे जाने में अपना गौरव मानते थे!"

"यह बात तुमने ठीक कही गिरधारी; मगर भविष्य का प्रबन्ध करके चलने वाले हमने इस ज़िन्दगी में बहुत देखे हैं। एक तुम बाक़ी रह गए हो, सो तुम्हें भी देखना है। 'सामान सौ बरस का, कल की खबर नहीं!"

कहते-कहते दादा उठ खड़े हुए। छाता उन्होंने खूँटी से उतारा और कह दिया, "चलो गोपी!"

अब गिरधारी लाला कुछ मुस्कराये। बड़े आग्रह से छाता दादा के हाथ से छीनते हुए बोले—"अब इतनी रात को ऐसे बरसते पानी में कहाँ जाओगे दादा! तुम्हारे चरणों के प्रताप से एक गाय भी घर में पली है। उसका दूध पियोगे, तो कभी याद तो करोगे हमारी। फिर हम लेटे-लेटे इतमीनान से बातें करेंगे। ऐसी उतावली भी क्या है! गोपी की बात दूसरी है। पर तुम इस तरह न जा पाओगे।"

कुछ आशा की-सी झलक देखकर गोपी बोल उठा—"बस दादा, जोई हिसाब ठीक रैहे। सरकार से आपई सिगरी बातैं कर लैं. जो अपुन तै कर दी हैं, सो हमको मंजूर होय है। मैं धरमसाले मैं ठैर जैहों औ भोर भये फिर अपुन की खिजमित में हाजिर ह्वै जैहों।"

दादा का छाता फिर यथास्थान टाँग दिया गया। गोपी 'जुहार जू' कहकर कंधे पर झोला लटकाये कमरे की सीढ़ियों से उतरने लगा। तभी दादा बोले—"मुरारी का एक लड़का भी तो था गिरधारी! भला-सा उसका नाम था। याद नहीं आ रहा है। अब तो सयाना हो गया होगा।"

"हाँ, उसके ब्याह की भी एक समस्या है। बाहर कहीं गया है।"

"लेकिन वह तो मेडिकल-कॉलेज में पढ़ता था। छुट्टियाँ ख़तम नहीं हुईं क्या उसके कॉलेज की?"

"सभी कॉलेज खुल गए दादा! मगर उसको तो लीडरी का चस्का लग गया है। बात करोगे, तो हँसोगे उसके जवाब पाकर। कहता है—मैं एक महान् संकल्प लेकर उत्पन्न हुआ हूँ। दुनिया में जिस जाति के लोग नित्य पैदा होते और मर जाते हैं, मैं उस जाति का नहीं हूँ।"

सुनकर दादा हँस पड़े। बोले—"वाह! संकल्प तो वास्तव में बड़ा ऊँचा है।"

इतने में पानी बरसने लगा। और गिरधारी कमरे के किवाड़ बन्द करने लगे।

: २ :

केवट ने पास आकर पूछा—"साँझ हुइ गय बाबू ! का बजा होई भला ?"

"सात बज गया।" युवक ने हाथ-घड़ी देखते हुए कुछ लापरवाही से उत्तर दे दिया।

केवट एक नदी के किनारे एक जामुन के पेड़ की जड़ पर बैठा चिलम फूँक रहा था और युवक नाव पर बैठा ऊँघ रहा था। वह बहुत थका हुआ प्रतीत होता था। उसकी लाल हो रही आँखें अपने-आप झपक जातीं; किन्तु थोड़ी देर बाद जब खुलतीं, तो झट उसे इस बात का ध्यान आ जाता कि न जाने उन रोगियों की क्या दशा हो, जिन्हें मृत्यु ने अपने मकड़ी के-से जाल में मक्खी की तरह फाँस लिया है !

वह मौसमपुर अस्पताल से लौट रहा था। कुछ दवाइयाँ और इन्जेक-शन्स उसे ले आने थे। अस्पताल अस्थायी था, और बाढ़-पीड़ितों की सहा-यतार्थ खोला गया था। इस तरह की सेवा का उसे नया अनुभव हुआ था। इसलिए उसे और भी पीड़ा हो रही थी। कई लोगों को उसने बाढ़ में डूबते देखा था। उसने देखा था कि आदमी डूबता हुआ जब पानी की सतह पर आता है, तब कैसे कुछ कहता-कहता-सा झट डूब जाता है ! उसका शब्द तक नहीं फूट पाता; और उसे डुबकी लग जाती है। उसके प्राण छटपटाते हैं, वह संसार से कुछ कहना चाहता है, वह विदा ले रहा होता है ; लेकिन मृत्यु उसे एक शब्द तक कह लेने का अवकाश नहीं देती ! मानव-जैसे महान् अस्तित्व की यह कैसी विडम्बना है !

उसने ऐसे आदमी को बचते देखा था जो डूब चुका था, डूबते क्षण जिसकी चोटी-मात्र धार पर झलक पड़ी थी। मल्लाह ने झट कूदकर उसे चोटी के ही सहारे उसे धार के विरुद्ध घसीटकर अन्त में पेड़ की डाल की भाँति नाव में फेंक दिया था। और उसने ऐसे आदमी को डूबते देखा था, जिसके बच जाने में कोई सन्देह ही नहीं रह गया था। किन्तु उसी

क्षण पुनः उसको कुछ ऐसी डुबकी लगी कि वह नाव के नीचे जा पड़ा। उसका एक क्षण जीवन का था, दूसरा मृत्यु का !

मृत्यु और जीवन के अन्तिम प्रयत्नों का ऐसा प्रत्यक्ष संघर्ष उसने कभी नहीं देखा था। उसने अनुभव किया कि जब तक अमिट और अक्षय जीवन की घड़ियाँ शेष हैं, तब तक मृत्यु की कोई स्थिति नहीं, उसका कोई अस्तित्व नहीं। बार-बार उसके मन में एक विचित्र-सा प्रश्न उठने लगता; जैसे मृत्यु जीवन पर आक्रमण करने में सक्षम है वैसे ही जीवन भी मृत्यु पर विजय प्राप्त करने में क्यों समर्थ नहीं है ? उसने यह भी अनुभव किया कि पुरुषार्थ का नाम ही जीवन है। भाग्य का अस्तित्व तो तब साकार होता है, जब फल-प्राप्ति हो जाती है। केवल भले दिनों का साथी है वह; किन्तु पुरुषार्थ हमारी संकटकालीन दुरवस्था का एक-मात्र सहारा है।

हॉस्पिटल में भी उसने कई आदमियों को मरते देखा था। एक नारी तीन दिन-रात वर्षा में भीगती रही। वह अपने नवजात शिशु को निरन्तर छाती से चिपटाये रहती। उसकी झोंपड़ी का छप्पर वर्षा के पानी की धार और हवा के झकोरों से आनेवाली पानी की बौछार को सहन करने में असमर्थ था। उसकी चारपाई के नीचे पानी भरा रहता, ऊपर से पानी टपकता और दाईं ओर से भी बौछार बराबर आती। उसे इतनी सुविधा नहीं मिली कि वह कपड़े सुखा सकती। उसे गज-भर भी ऐसी सूखी जमीन नहीं मिली, जहाँ वह अपने लिए कुछ खाना ही बना सकती। उसके पास न तो कोयला था न सूखी लकड़ी; उपले जो-कुछ थे, वे भी सब-के-सब भीग चुके थे। अनाज बह गया था। मिट्टी के घड़ों में रखा थोड़ा सा आटा-दाल मात्र बचा था; उसी में एक दियासलाई की डिब्बी पड़ी थी। वह शौच कहाँ जाती, जब कि मीलों सूखी भूमि का अभाव था। इस प्रकार निराहार वह चारपाई पर बैठी रही। जब बैठे-बैठे थक जाती; तब लेट रहती और जब लेटे-लेटे थक जाती तब फिर बैठ जाती। पहले दिन उसका बच्चा भूख के कारण

रोता रहा। दूसरे दिन उसे ज्वर आ गया। आस-पास कोई यह पूछनेवाला भी न था कि तुम्हारी कैसी तबियत है !

प्रकृति निर्मम और जड़ थी। संहार ही उसकी भूख थी—और संहार ही उसकी प्यास। जब लोग मर जाते, तब उसका संगीत प्रारम्भ होता; पर फिर मृतक के परिवारवाले लोग जब खाना खा-खाकर सोना प्रारम्भ करने लगते, तब वह हा-हा-हा-हा करके हँसती और छम-छम करके नाचना प्रारम्भ कर देती !

कच्चे मकान जलमग्न हो जाने के कारण धराशायी हो गए थे ! झोंपड़ियाँ टूट-टूटकर बह रही थीं ! रात-दिन रोना और चिल्लाना; किसी को जुकाम,किसी को ज्वर, किसी को निमोनियाँ ! बूढ़े कराहते, बच्चे रोते और चिल्लाते ! कोई बच्चा बासी-तिबासी रोटियों का टुकड़ा खाते दीख पड़ता, तो दूसरा उसे छीनकर खा जाता। भुने हुए चनों के चार दाने यदि कोई दे देता तो दिन-भर उसकी प्रशंसा की जाती और आगे आने वाली पीढ़ी-दर-पीढ़ी के सुख से रहने के आशीर्वाद उद्‌गार बनकर फूट पड़ते। बछड़े और बकरियाँ बँबाते, मिमियाते, बीमार पड़ते और मरकर बहन लगते ! पुरुष जाति और पशु जाति का मल-मूत्र उसी पानी में मिलकर इधर-उधर बहता रहता ! गंदगी फैलती, बीमारियाँ जन्म लेतीं और फलतः मरण और विनाश का निर्लज्ज, जड़, मूक हाहाकार चतुर्दिक् व्याप्त हो जाता !

ऐसी दशा में वह नारी अपने बच्चे को कैसे बचाती ! उसकी छाती का स्तन्य सूख गया था। उसका जीवन-रस सूख गया था। जब रक्षा-दल आया और लोग उसको चारपाई सहित उठाकर ले गए, तब वह संज्ञा-हीन थी। जब हास्पिटल में पहुँची और पाँचवें दिन उसने आँखें खोलीं तो इधर-उधर देखकर सबसे पहले उसके मुँह से जो शब्द निकले, वह थे—"मेरा मुन्ना कहाँ है ? मेरा भूखा मुन्ना ! लाओ, मैं उसे दूध पिला दूँ !"

कोई जवाब नहीं दे सका। किसी को क्या पता था कि उसका मुन्ना

वन्य प्रकृति का आहार बन चुका है ! युवक वहीं खड़ा था। उसके हाथ से दूध का गिलास छूट पड़ा ! उससे यह दृश्य देखा नहीं गया।

तब से युवक की विचार-दृष्टि ही मानो बदल गई है। वह अपना सुख-दुःख भूल गया है। वह बार-बार सोचता है, मानवता के ऐसे निर्मम उत्पीड़न के क्षणों में भी हमारा समाज अपने व्यावसायिक धन्धों में बराबर लीन बना रहता है !

कोई उस पार से आवाज़ लगा रहा था—"ए केवट, नाव इधर लाना।"

दो व्यक्ति गाड़ी से उतरे थे, जिनमें एक वृद्ध था, दूसरा युवा। वृद्ध पुरुष था, युवा स्त्री। पुरुष बाबा होता था, युवती उसकी नातिन।

केवट बोला—"नाव उइ पार जाई बाबू !"

लेकिन युवक को झपकी लग गई थी। उसे स्पष्ट कुछ नहीं मालूम पड़ा कि क्या बात हुई। केवल 'बाबू' शब्द वह अपनी संज्ञा में ग्रहण कर सका। लेकिन नींद के झोंके में उत्तर देना उसके लिए सम्भव न हो सका। इसलिए वह चुप ही बना रहा। तब केवट ने इस बार युवक के बिलकुल कान के पास झुककर कहा—"बाबू ! बाबू !"

एक बार अधखुली आँखों से देखकर उन्हें पुनः बन्द करते हुए युवक ने कह दिया—"मुझे यहीं पड़ा रहने दो।" उसका शरीर चूर-चूर हो रहा था। उसके जोड़ों में दर्द था, सिर में पीड़ा थी और कभी-कभी तो वह कराह भी उठता था।

केवट ने पहले सोचा, क्यों न बाँह पकड़कर, कन्धे के सहारे, इन्हें उठा लिया जाय ? पर ऐसा करने का एक तो उसे साहस नहीं हुआ, दूसरे वह इस विचार में पड़ गया कि उठाकर इन्हें फिर लिटाया कहाँ जायगा। उहँ, इससे तो यही अच्छा है कि इन्हें इसी तरह पड़ा रहने दिया जाय। जब वे लोग आ जायँगे तब देखा जायगा।

यही हुआ। युवक नाव पर पड़ा रहा और केवट ने नाव उस पार लगा दी।

"अरे केवट भाई, ज़रा इधर आकर यह ट्रंक तो रखवा लेना।" वृद्ध बोल उठे। अन्य कोई आदमी वहाँ दिखाई नहीं पड़ रहा था। केवट ने देखा, ये लोग बड़े आदमी हैं, अतः तत्काल उसने खड़े-खड़े ट्रंक उस आदमी से ले लिया, जो गाड़ी लेकर आया था।

इतने में युवती बोल उठी—"ट्रंक को सीधा ही रखना होगा। यस्, यस्, ओ के।"

वृद्ध से बिना बोले नहीं रहा गया—"गाँव का अपढ़ आदमी है। इससे अंग्रेज़ी में नहीं बोलना चाहिए बेटा!" फिर उसने केवट से कह दिया—"एक विस्तर है और थरमस भी। उसे भी ले लो।"

युवती के मुख पर थोड़ी लज्जा की छाया झलक पड़ी। पर कोई उत्तर न देकर उसने लापरवाही की मुद्रा से जैसे कह दिया—"होगा।" फिर वह विस्तर रखवाने लगी।—"वहाँ नहीं, यहाँ, इसी ट्रंक के ऊपर, इस तरह।" किन्तु केवट उस आदमी के हाथ से थरमस लेकर जो उल्टा-सीधा रखने लगा, तो युवती बिगड़ उठी—"तुमको बिलकुल अकल नहीं है। लुढ़कता हुआ जो उधर गिर जाता तो!"

"इन लोगों पर इस तरह बिगड़ा नहीं जाता बेटा! इनसे तो समझा-बुझाकर ही काम लिया जा सकता है।" वृद्ध को फिर कहना पड़ा।

पर इस बार युवती ने वृद्ध की बात पर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया। सामान रख लिया गया। वृद्ध और युवती दोनों नाव पर बैठ गए। केवट बाँस के सहारे नाव खेने लगा। सहसा वृद्ध ने पूछा—"यह नौजवान कौन है—?"

"नाव चली जा रही है।" युवक सोचने लगता है। उसके होंठ हिलते हैं, उसकी आँखों की पलक हिलती हैं—उसके स्वप्न हिलते हैं!

युवती बार-बार युवक के मुख का अध्ययन करने लगती थी। नाव अधिक गहराई में आ गई थी। तभी बाँस को नाव पर डालकर दोनों डाँडों से नाव खेता हुआ केवट बोला—

"हमका नाहीं मालुम सरकार!"

इसी समय युवक के कराहने की आवाज़ सुन पड़ी। वृद्ध ने पुनः पूछा—"क्या यह कुछ बीमार है ?"

केवट का उत्तर था—"हमका कुछौ नाहीं मालुम सरकार !"

युवती बोली—"लेकिन हमको तो मालूम होता है, इसको (जांडिस) पीलिया हो गया है।" वह सोचती थी—इस बार युवक पर मेरे कथन की कुछ तो प्रतिक्रिया होगी। पर जब वह टस-से-मस न हुआ तो यकायक उसके मुँह से निकल गया—"ओः माई गाड ! नाव हिलने में कितना डर लगता है बाबा !" और दाईं ओर झुककर धारा के पानी में हाथ डालती हुई छप-छप करने लगी।

"डरने की कोई बात नहीं है। फिर भी तुझे इधर-उधर डोलना नहीं चाहिए।"

युवक चुपचाप सारी बातें सुन रहा था। युवती कौन है यह वह जानता था। फिर भी वह मौन था। एक तो उसकी तबियत ठीक नहीं थी, दूसरे हर दस-पाँच मिनट के बाद उसे हॉस्पिटल की याद आ जाती थी। वह सोचने लगता था—उन छोटे-छोटे बच्चों का क्या होगा, जो केवल उचित चिकित्सा, पथ्य और आहार के बिना काल के जबड़ों के बीच जा पड़े हैं। इतने में पानी की कुछ बूंदें उसके पलकों पर जा पड़ीं। उसने एक बार आँखें खोलीं और धीरे से उसके मुँह से निकल गया—"स्टुपिड !" और फिर उसने पूर्ववत् आँखें बन्द कर लीं।

"आज मुझे बहुत दिनों के बाद··· फिर एक शेर याद आ गया बाबा !"

युवक को उसका यह मज़ाक अच्छा नहीं लगा। अतः जान-बूझकर वह चुपचाप पड़ा रहा।

"क्या मतलब ?" इतने में वृद्ध ने पूछा।

एक चोटी को कन्धे के ऊपर से आगे डालती हुई युवती बोली—"जान पड़ता है आप वह शेर भूल गए हैं।" और अधरों पर उसने दाँत गड़ा दिए, इस आशंका से कि कहीं मंद हास न प्रकट हो जाय।

युवक अनुभव कर रहा था, तन में ही नहीं मन में भी, जैसे कोई सुइयाँ

चभो रहा है ।

वृद्ध ने पूछा—"कौन सा ?"

"यही कि 'एक ढूंढो, हज़ार मिलते हैं'।" युवती झट से कह गई। युवक के कानों में जैसे कोई कह रहा हो, आज औसत दिग्दर्शक इसी तरह का क्षुद्र व्यंग्य-विनोद पसन्द करता है ।

"बुरी बात है बेटा ! परिचित को भी इस तरह नहीं सताना चाहिए। फिर वह तो अपरिचित ठहरा।" वृद्ध ने कुछ इस तरह कहा कि युवक अगर सुन भी रहा हो, तो बुरा न माने । इन बातों के साथ-साथ युवक आँखें मीचे सोच रहा था—'माझी, कितनी दूर किनारा ?' यद्यपि वह बार-बार अनुभव कर रहा था, यह नाव खुलने का क्षण है, यह किनारे से थोड़ा और धारा की ओर बढ़ने का ! फिर जब नाव बीच धारा में आ गई, तब यकायक वह सोचने लगा—'कितने दिनों बाद लक्षणा से आज भेंट हो रही है, सो भी नदी किनारे···बीच धार में !'

वह फिर विचार में पड़ गया। सूर्यास्त होने में अब मिनटों की देर थी। बादल का एक टुकड़ा क्षितिज के ऊपर कुछ इस प्रकार खड़ा था कि उसके और क्षितिज के बीच में अस्तंगत सूर्य की लाली थी और फिर सघन वृक्षों की श्याम छाया ।

एक बार युवक के मन में आया कि मैं उठकर बैठ न जाऊँ, लेकिन आह ! शरीर में बड़ा दर्द है। ज्वर आयगा क्या ? नहीं, ज्वर आकर मुझसे क्या पायगा ? और विस्मय से इधर-उधर देखता हुआ यकायक वह उठकर बैठ गया । तभी उसके मुंह से निकल गया—"क्या आपको भगवान ने यहाँ भेजा है बाबा ?" युवक कहते तो कह गया, पर फिर वह अपनी मूर्खता पर स्वयं लज्जित हो उठा ; क्योंकि तत्काल वह सोचने लगा कि भगवान् ने किसको यहाँ नहीं भेजा ?

इसी क्षण युवती के मुंह से निकल गया—"मैंने आपसे ठीक ही कहा था न" ? और इस बार वह सचमुच हँसने लगी ।

युवक ने देखा, नाव किनारे आ लगी है तब उसने कह दिया—"किसी

की नाव किनारे लगी है ? सभी तो बहे जा रहे हैं !"

इंजेक्शन लगने के बाद शरीर-भर जैसे स्पंदित हो उठता है, ऐसा कुछ मन-ही-मन में अनुभव करते हुए वृद्ध बोले—"पता नहीं क्या बात है ! तुम्हारी बात मुझे बड़ी प्यारी लग रही है युवक !"

नाव किनारे पर खड़ी हो गई। लक्षणा बोली नहीं कुछ, वह झट से उछलकर तट पर आ गई। तब युवक ने झट उठकर वृद्ध का कंधा थाम लिया। अब आगे-आगे युवक था, पीछे-पीछे वृद्ध। युवक पहले तट पर आ गया। फिर उसने वृद्ध का हाथ थामकर, उन्हें सहारा देकर तट पर खींच लिया। तभी वृद्ध बोल उठे—"बहुत बड़ी उम्र हो तुम्हारी ! बड़ा साधु स्वभाव पाया है तुमने ! कहाँ जाना है तुमको ?"

"हम सबको एक ही जगह जाना है बाबा !" युवक ने कुछ ऐसे ढंग से कह दिया कि वृद्ध के होठों पर हास्य फूट पड़ा। बोले—"बात तो इतनी सही कह रहे हो, जैसे कोई योगी कहे, मगर····।"बात पूरी भी न हो पाई थी कि इतने में एक ताँगा आता दिखाई पड़ा और वृद्ध का ध्यान उधर बँट गया। युवती सामान उतरवा रही थी कि यकायक उसके मुँह से निकल गया—"ठहरो ,सामान को सीधे उस ताँगे पर रखना होगा। चलो, आगे बढ़ो। है कितनी दूर ?"

थोड़ी देर में ताँगेवाले ने सामान यथाविधि रख लिया। पहले वृद्ध उस पर बैठे, फिर लक्षणा। वृद्ध न केवट को पुरस्कार में अठन्नी दे दी। केवट प्रसन्न हो उठा, तब वृद्ध मुस्कराते हुए बोले—"जब हम सबको एक ही जगह जाना है तब तुम भी बैठ जाओ न ? लक्षणा, इनको भी जगह दे बेटा !"

युवक के मुँह पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। उसका अनुमान कितना सही निकला ! "मगर जगह ऐसी है कहाँ ?" कहती हुई लक्षणा थोड़ी अस्त-व्यस्त हुई ; कदाचित् इस अभिप्राय से कि देखें, प्रतिक्रिया क्या होती है ? एक बार उसने युवक की ओर देखा भी।

"जगह तो बनाने से बनती है बेटा !" तब तक वृद्ध बोल उठे। तभी

लक्षणा के मुँह से निकल गया—"आ जाओ युवा संन्यासी !" उसके कथन में व्यंग्य था, मुख पर हास और मन में चुहल।

युवक के बैठते ही ताँगा चल पड़ा।

अंधकार धीरे-धीरे घना होता जा रहा था। युवक शरीर से शिथिल था, लेकिन उसका मन तरंग-संकुल हो रहा था। वह सोचने लगा—'समझ में नहीं आता कि इस संयोग का अर्थ क्या है?' फिर वह यह भी सोचने लगा कि यह तो प्रकृति का धर्म है कि हम कभी-कभी मिल जाते हैं। वह अनुभव करने लगा कि सघन द्रुमों की इस श्याम मौन छाया के नीचे पल्लवों का यह मर्मर संगीत अभी तिरोहित हो जायगा! ये चंचल पवन के झकोरे, जो मुझे छू-छूकर चले जाते हैं फिर कभी नहीं लौटेंगे! डालियाँ भुजाएँ पसार-पसारकर, लताएँ डोल-डोलकर जो मुझे आत्मसात् करती जान पड़ती हैं, एक दिन सब-कुछ भूलकर अन्तरिक्ष में मिल जायँगी। सभी वस्तुएँ जो दीख पड़ती हैं, एक दिन नष्ट हो जायँगी। केवल वे विचार और शब्द अमर रहेंगे जो मनुष्य का दुःख, संताप और क्रन्दन दूर करने में सहायक होंगे।

इसी समय उसने एक पैर फैलाने की चेष्टा जो की, तो एक आह उसके मुँह से निकल गई। इतने में उसे मालूम हुआ कि कोई उसे टटोल रहा है। कौन है? यह किसका हाथ मझे छू रहा है? आह! बड़ा शीतल हाथ है। तभी उसकी आँखें खुल गईं।

वृद्ध बोले—"ज्वर कुछ अधिक जान पड़ता है।" तब युवक ने कह दिया—"नहीं तो। मतलब यह कि मृत्यु से फिर भी कम है!" और इस बार जान-बूझकर कड़ा जी करके न कोई कराह ही उसने मुँह से निकलने दी और न लक्षणा की ओर ही दृष्टि डाली।

लक्षणा ने जब सुना—"मृत्यु से फिर भी कम है।" तो उसने अपना समस्त ध्यान उसी की ओर केन्द्रित कर दिया। एक बार तो यह भी उसके मन में आया कि हो-न-हो, मेरी इस मूक परिस्थिति के साथ यह जान-बूझ कर खिलवाड़ किया जा रहा है। यह मेरी उपस्थिति से अनुचित लाभ

उठाना है। केवल इसलिए कि मैं कुछ बोलना नहीं चाहती। मैं नहीं चाहती कि बाबा के सामने कोई ऐसी बात प्रकट हो जिससे मेरा पूर्व परिचय झलक उठे।

तभी वृद्ध ने कहा—"बड़ी मुश्किल तो यह है कि एक तो तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है, दूसरे तुम भाव-प्रवण भी कम नहीं जान पड़ते!"

यद्यपि युवक की कोई ऐसी इच्छा नहीं हो रही थी कि वह बात करे, लेकिन प्रसंग ऐसे उत्तेजक उत्पन्न हो जाते थे कि उसे बोलना ही पड़ता था। अतः इस अवसर पर भी उसने कह दिया—"इसके अतिरिक्त मुझमें और भी बहुतेरे दुर्गुण हैं बाबा! आह!"

इतने में सारसों की बोली सुनाई पड़ी और घोड़ा फुरफराने लगा। वृद्ध ने कह दिया—"अपने में दुर्गुण देखना महापुरुष बनने का चिह्न है; लेकिन लक्षणा बेडिंग खोलकर उसमें से कंबल तो निकाल दे बेटा! कैसे कुसमय तबियत खराब हुई है बेचारे की। पानी आ रहा है और मुझे डर लग रहा है कि कहीं····।" वे इतना ही कह पाए थे कि इसी समय युवक के मुँह से निकल गया—"सन्निपात न हो जाय?····वाह!"

दिलीप का इतना कहना था कि लक्षणा को हँसी आ गई।

"नहीं नहीं, ऐसा नहीं कहते। तुम बड़े अच्छे लड़के हो। हजारों में एक हो। ईश्वर करे कभी तुम्हारा बाल भी बाँका न हो।" वृद्ध को कहना पड़ा।

इतने में हवा जोर से चलने लगी और एकाध बूंद भी उनके ऊपर जा पड़ी। बात-की-बात में पानी आ गया। ताँगा एक पेड़ के नीचे खड़ा कर देना पड़ा। लक्षणा ने बेडिंग खोला और कम्बल निकालकर युवक को ढक दिया।

कुछ सोचकर वृद्ध ने पूछा—"शहर में कहाँ किस मुहल्ले में रहते हो?"

"अनवरगंज में।"

"तू इधर आजा बेटा, उसे आराम से लेट जाने दे। यह छतरी तान लो ताँगेवाले!"

"आराम तो मेरा पिताजी के साथ चला गया। आह!" युवक ने कह दिया।

तब उसी क्षण वृद्ध ने पूछा—"तुम्हारे पिता का क्या नाम था ?"

तभी "मुरारी" उसके मुँह से निकला ही था कि वृद्ध आश्चर्य से बोल उठे—"ओः तो तुम मुंसिफ साहब के लड़के हो ? लाला गिरधारी के भतीजे ? और तुम्हारा नाम दिलीप है ?" उनका प्यार भरा हाथ युवक के सिर को सहला रहा था। युवक ताँगे पर लेटा था, लेकिन उसे जान ऐसा पड़ता था, मानो नाव चलने लगी है !

दिलीप बोला—"जी !"

हर्ष-गद्गद वृद्ध कुछ आश्चर्य के साथ बोले—"और लक्षणा, तुमने भी दिलीप को नहीं पहचाना ?"

अन्धकार अवश्य हो गया था फिर भी लक्षणा ने संकुचित होकर अपना सिर नीचा कर लिया। फिर एक बार दिलीप की ओर पलक उठाकर देखा और बोल उठी—"मैं कुछ-कुछ समझ तो रही थी, पर तै नहीं कर पाई थी बाबा !"

अब बूँदें बन्द होने लगीं थीं।

"पता नहीं क्या बात है बाबा, मुझे ही कुछ भ्रम हो रहा है, या बात ही कुछ ऐसी है कि सत्य को छिपाकर प्रकट करने में आह !—या तो कुछ अधिक सुविधा मिलती है, या अधिक आनन्द का अनुभव होता है।" दिलीप बोला। वह समझता था, सत्य को छिपाने का आरोप लगता देख लक्षणा विचार में पड़ जायगी। पर उसी क्षण लक्षणा ने सरल विमल हास से कह दिया—"शायद तभी जान-बूझकर हम लोगों से अपरिचित बन रहे थे !"

ताँगा चला जा रहा था।

: ३ :

दादा का जीवन कम रहस्यपूर्ण नहीं था।

उनकी मूँछें सफ़ेद हो गई थीं। भौंहें इतनी घनी थीं कि बालों की गुच्छियाँ-सी मालूम पड़ती थीं। ऐसी ही गुच्छियाँ दोनों कानों पर भी थीं, जिनसे उनके व्यक्तित्व में एक गुरुता-सी उत्पन्न हो रही थी। उनके सिर के बाल खिचड़ी हो गए थे। कमीज़ धुली हुई रहती थी; लेकिन अक्सर उनका कोट साफ़ नहीं रहता था। कभी-कभी उनकी कमीज़ की आस्तीन के कफ़ के किनारे जवाब देना शुरू कर देते और उनसे कुछ डोरे झलकने लगते। शरीर उनका एकहरा था और क़द भी काफी लम्बा। जब वे अपनी आँखों पर कत्थई रंग के फ़्रेम का चश्मा लगाते, तो चश्मे का ब्रिज अक्सर नाक की नोक पर आ विराजता। उनके जूते और मौजे का रंग अक्सर ब्राउन रहता। वे अक्सर त्रिभुवननाथ एडवोकेट के बँगले पर ठहरा करते।

बीस वर्ष पहले की बात है, जब दादा कानपुर रहते न थे। एक दिन ताँगे पर जब वे त्रिभुवन बाबू के यहाँ पहुँचे, तो वे पोर्टिको की सीढ़ियों पर खड़े उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दादा को देखते ही वे नमस्कार करते हुए बोले—"आइए वर्मा जी! जान पड़ता है, गाड़ी कुछ लेट आई।"

"हाँ भाई, गाड़ी करीब आधा घण्टा लेट आई है।" कहते हुए दादा के हाथ त्रिभुवन के कन्धे पर जा रुके और परस्पर दोनों मिलन की रस्म पूरी करने लगे।

गज्जू ने जब उनका सामान ताँगे से उतार लिया, तब दादा इधर-उधर देखते और रूमाल से सिर पोंछते हुए बोले—"ओह! कितने अरसे के बाद भेंट हुई।" फिर उन्होंने नाक सिकोड़ ली। हालाँकि ऐसे ज्यादा दिन तो नहीं हुए, मगर ऐसा जान पड़ता है, जैसे युग-के-युग बीत गए हों। दिन जाते कुछ देर भी तो नहीं लगती और काल हमारी देरी की कुछ परवाह भी नहीं करता।

त्रिभुवन बाबू बोले—"काल हो कि समय वह परवाह किसी की नहीं करता। बल्कि आदमी को ही उसकी परवाह करनी पड़ती है और उसके बाद उन्होंने जेब से पनडब्बा निकाला, दो पान उसमें से उठाकर दादा को देने लगे। लेकिन दादा ने उत्तर दिया—"आप हमको बिलकुल भूल गए। आपको यह भी नहीं पता कि मैंने कितने अरसे से पान खाना छोड़ रखा है।"

त्रिभुवननाथ ने उत्तर दिया—"आप पहले नहा-धोकर स्थिरचित्त हो लें, तभी इतमीनान से बातें करेंगे।" और फिर उन्होंने गज्जू की ओर देखकर कहा—"आज जो हमने पीछे की ओर कमरा खाली किया है, दादा वहीं ठहरेंगे। सामान वहीं जायगा। और सुनो, इधर आओ···" नौकर जब पास आ गया, तो उन्होंने उसे अलग ले जाकर उसके कान में कुछ कह दिया, जिसके जंवाब में उससे बिना बोले नहीं रहा गया। —"ठीक अहै, ठीक अहै सरकार! केउसे कुछ न कहब, अम्मउ क न मालुम हुइ पाई।" और इतना कहकर वह सामान उठाकर चल दिया। अब त्रिभुवन बाबू बोले—"आइए" और दादा उनके पीछे-पीछे चल दिए।

दूसरे दिन जब त्रिभुवन बाबू उठे, तो क्या देखते हैं कि वर्माजी का बिस्तर खाली है।

गज्जू को बुलाकर उन्होंने पूछा—"कुछ पता है, वर्माजी कहाँ गए ?"

गज्जू ने उत्तर दिया—"नाहीं मालुम सरकार!"

"लेकिन जब त्रिभुवन अपनी बैठक में आए, तो उन्हें ब्लाटिंग पैंड के एक कोने में खुसा हुआ एक परचा मिला। उसमें लिखा हुआ था—

"मैं एक आवश्यक काम से जा रहा हूँ। शायद मेरे आने में देर लग जाय। लेकिन मेरे इन्तज़ार में अपनी दिनचर्या में अन्तर डालने की ज़रूरत नहीं है।

आपका—

ज्योतिस्वरूप वर्मा।"

इस परचे को देखकर त्रिभुवन बाबू चकित हो गए। उन्होंने पूछा—

"यह परचा यहाँ कौन रख गया है ?"

सामने मुन्शीजी आ पड़े थे । बोले—'मुझे नहीं मालूम, लेकिन मैं अभी पता लगाता हूँ ।" और उन्होंने गज्जू से जाकर पूछा, तो उसने जवाब दिया—"वा मुंसीजी, जब आपैक नहीं मालुम, तब भला हमका कइसे मालुम होत । आपौ खूब हौ ।" लेकिन फिर गज्जू माली के पास चला गया । बोला—"विइ जो चश्मा वाले बुढ़ऊ कल आए रहे, तुमका मालुम है कहाँ गे ?"

माली ने उत्तर दिया—"गज्जू तुमहूँ सठियाय गेहौ का? जब तुमहींक नाहीं मालुम, तौ हमका कैसे मालुम होत! और ई बाबू लोग, भला काहूते कहिकै जात हैं कि हम हुवाँ जाइत हैं।····हाँ,एक बात है, जनौ एक परचा हमका दइगे रहैं, बहुत सबेरे, वहै हम बाबू साहब के मेजमा लगाय दिया रहै । लेकिन यह तौ बताओ, बात का है ; कउनौं कुछ चीज इधर-उधर होइगै का ?"

त्रिभुवननाथ खट से माली के पास पहुँच गए और बोले—"जिस वक्त तुमको यह परचा मिला, उसी वक्त तुमने मुझको क्यों नहीं दिया ?"

बाएँ कन्धे पर पड़े हुए गमछे को दाएँ कन्धे पर डालते हुए माली ने उत्तर दिया—"सरकार विइ बखत तो आप सोय रहे रहौ ।"

तब भौंहें तानकर त्रिभुवन बाबू ने कहा—"अरे मैं सो ही तो रहा था, मर तो नहीं गया था ! लेकिन मैं कहता हूँ, कि अगर मैं मर भी जाऊँ, तो मुझे जगाना भी तो चाहिए ।"

त्रिभुवन बाबू की इस बात को सुनकर मुन्शीजी, गज्जू और माली एक दूसरे की ओर देखते रह गए । मुन्शीजी ने समझा, वकील साहब का दिमाग जान पड़ता है, बीस से उन्नीस हो गया है । गज्जू सोचने लगा, बाबू लोगन की बातें ऐसी ही रहती हैं । और माली सोचने लगा—जानै का बकत हैं । मुर्दो कबहूँ जागा है? सब-के-सब बिना हिले-जुले चुपचाप खड़े रहे । किसी ने दूसरे से कुछ नहीं कहा । तब क्षण-भर के लिए त्रिभुवन बाबू अपनी बात के अर्थ से स्वयं मुस्कराने लगे । लेकिन फिर तत्काल

भौहों में गाँठें डालकर बोले—"तुम लोगों को कम-से-कम इतना तो सोचना चाहिए कि हमारे मेहमान किस दर्जे के आदमी होते हैं। वे किस समय उठते हैं और किस समय उनको चाय, नाश्ता, भोजन, पान, सिगरेट, तम्बाकू आदि की ज़रूरत होती है। गज्जू बोला—"सरकार तिनकौ जो मालुम होत कि उनका लउटब न होई, तो आप चाय की कहत हौ, हम उनका चाय के साथ पकौड़ीउ बनवाय देतेन। सुरेन्द्र भइया की खातिन, अबहीं-अबहीं कड़ाही चढ़ी हे।" और माली बोला—"औ हमका जो मालुम होत कि विइ आपके बहुतै घनैं नात-गोत के अहैं, तो अब का बताई···बड़वार आदमी कै बात ठहरी, कउनव कसरि रखतेन।"

माली की बात सुनकर त्रिभुवन बाबू को फिर हँसी आ गई। मत्था ठोंककर बोले—"और अब उनको क्या कहें?" और फिर गम्भीर हो कहने लगे—"देखिए मुन्शीजी, आइन्दा से वर्मा जी का ज़रा खयाल रखियेगा।" और गज्जू तथा माली से उन्होंने कह दिया—"जाओ अपना काम करो!"

उस दिन शाम को जब त्रिभुवननाथ और दादा साथ-साथ भोजन कर रहे थे तो दादा बोले—"सारे दिन भटकता रहा। लेकिन काम की बात कुछ न हो सकी। हॉस्पिटल का हर एक कर्मचारी उसकी तारीफ़ करता है।"

त्रिभुवननाथ ने इधर-उधर देखते हुए अंग्रेजी में कहा—"यदि आप इस प्रसंग को बिलकुल छिपाना ही चाहते हों, तो यहाँ इन लोगों के सामने इस सम्बन्ध में कोई बात मत कीजिए।"

दादा के कान पर चींटी रेंग रही थी। उसको चुटकी से पकड़कर फेंकते हुए उन्होंने कहा—"कहते तो आप ठीक ही हैं त्रिभुवन बाबू! पर आप नहीं जानते। मुझ पर क्या बीत रही है। मेरा विवाह हुए तीस वर्ष बीत गए हैं। अब तक मेरे नाती-पोते अधिक नहीं, तो चार-छै तो होते। उनके लिए तरह-तरह के वस्त्र, शृंगार और आराम

की वस्तुएँ खरीदते हुए आज मुझे कितनी प्रसन्नता होती ? यद्यपि मेरी लड़की के कई बच्चे हैं। मगर आप समझते ही हैं, लड़के की बात ही और होती है। आज मेरी बहू सोने से लदी होती। उसके बच्चों से सदा घर भरा रहता। और लड़की के बच्चों को हमेशा तो घर पर रखा नहीं जा सकता। उनको भी तो अपने घर पर रहने की इच्छा होती है। अपना घर सबको प्यारा होता है। लेकिन इस नारी ने मुझको मरघट का कुन्दा बना दिया।"

त्रिभुवन ने देखा, वर्माजी खाना नहीं खा रहे, खाना उनको खा रहा है। उनकी आँखों में आँसू भरे हैं। तब सब्जी भरे कौर को दाल में मिलाकर वे बोले—"लेकिन आप खाना तो खाते जाइए। हम लोग इस विषय में फिर बैठेंगे—फिर बातें करेंगे। अगर आप मामूली बातों में इस तरह रोने लगा करेंगे तो आपकी जिन्दगी मौत की भूमिका बन जायगी।"

कोई एक बजा होगा। लॉन पर दोनों की चारपाइयाँ पास-ही-पास पड़ी थीं। यकायक दादा की नींद उचट गई। उनको ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई कार प्रतिभादेवी के बँगले से निकलकर बाहर जा रही है। तब वे चुपचाप उठे और फाटक पर आ गए। लेकिन फाटक में ताला बन्द था। उन्होंने चाहा कि चहारदीवारी से उचककर बाहर कूद पड़ें, किन्तु उसी समय माली ने आकर उनके पैर पकड़ लिए। वह बोला, "कलि सबेरे जब आप भाग गये रहौ तब जानत हौ, हमपै कितनी डाँट पड़ी रही। अब इत्ती बखत जो भागेउ तौ हम नौकरीउ ते हाथ धोय बैठब। अब आप कहीं न जाव। तुम्हार पाँव पड़त हैइ।"

"अच्छा-अच्छा, अब चुप रहो।" कहते हुए दादा पलँग पर आकर पुनः लेट गए। माली से उन्होंने कुछ नहीं कहा। लेकिन त्रिभुवन जग चुके थे। उन्होंने दादा को पुकारा तो उन्होंने जवाब तो कुछ न दिया। पर उनका निःश्वास अवश्य सुन पड़ा। त्रिभुवन बाबू सोचने लगे—'यकायक उठ-उठकर समय-कुसमय भाग खड़े होने और जहाँ-तहाँ इधर-उधर चल देने का इन्हें कोई रोग तो नहीं है ?, कुछ उनकी समझ में नहीं आ रहा

था । 'यह व्यक्ति यों बहुत ही शीलवान, कर्तव्य-परायण और सम्पन्न है, किन्तु पड़ोस की इस लेडी-डॉक्टर के सम्बन्ध में इतनी छान-बीन, इतना कुतूहल रखता है कि नाक म दम कर देता है । जब दोनों में विच्छेद हो ही गया, तो अब····।' और तब वे चुप न रह सके । एक बार उन्होंने फिर पुकारा—"वर्माजी, अरे वर्मा जी !"

आषाढ़ मास चल रहा था और अमावस की रात । लॉन पर काफ़ी अँधेरा छाया हुआ था । आकाश भी स्वच्छ नहीं था । त्रिभुवन बाबू को जान पड़ा कि वर्माजी टस-से-मस नहीं हो रहे । लेकिन इस बात पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ । तब उन्होंने सिरहाने रखा टार्च जलाकर उसका प्रकाश पास की चारपाई पर जो फेंका, तो देखते क्या हैं, चारपाई तो खाली पड़ी है, लेकिन दक्षिण की ओर एक मानवी छाया लम्बी होती हुई अवश्य दीख पड़ रही थी । तब टार्च लिये हुए वे उठे और उसी ओर चल दिए । माली भी पीछे हो गया ।

अब ये दोनों व्यक्ति उस मानवी छाया के जनक के पास खड़े थे । दादा ने देखा, तो पहले उनके मुंह पर हाथ रख दिया, फिर उनके कान में कह दिया—"ज़रा ध्यान से सुनिये । रह-रहकर कराहने का-सा स्वर···· यह.....यह.....किसका आ रहा है ?"

त्रिभुवननाथ बड़े दमदार व्यक्ति थे । अवसर पर चूकने वाले को वे वैशाखनन्दन समझते थे । उन्होंने दादा की इस बात के उत्तर में कह दिया—"आप बिलकुल भोलानाथ हैं । लेडी-डॉक्टर के हॉस्पिटल में और होगा क्या ? पता नहीं, कौन बहू प्रसव-वेदना में तड़प रही हो ! पता नहीं, उसके प्राणों पर कैसा संकट हो !"

इसी समय ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कोई मन्द स्वर में पूछ रहा है—"ब्लीडिंग बन्द हुई या नहीं ?"

और तब दादा उनके कान के पास मुंह ले जाकर बोले—"मैं गंगा की क़सम खाकर कहता हूँ, यह आवाज़ उसी की है ।"

थोड़ा पीछे हटते-हटते त्रिभुवन बाबू के मुंह से निकल गया—

"अच्छा, माना कि उसी की है, तो फिर ? आपसे मतलब ? आखिर आप इस खोज से जानना क्या चाहते हैं ? आप को पता है, दो बज रहे हैं और अब तक आपने सोना तो दूर, एक झपकी तक नहीं ली ! इस तरह आप बीमार पड़ जायँगे। इसके सिवा सबके सामने इस तरह हल्का बनना आपको शोभा भी नहीं देता।"

इन वाक्यों के साथ वे अपनी चारपाई पर आ गए।

दादा जब चारपाई पर बैठे, तब त्रिभुवन बाबू कह रहे थे—"कुछ भी हो, हमको तो अपनी मर्यादा का खयाल तो रखना ही पड़ेगा।" इस कथन के क्षण तक दादा चारपाई पर लेट रहे थे। परन्तु उसे सुनते-सुनते वे उस चारपाई पर पुनः उठ बैठे और तब बहुत संयत भाषा और अत्यन्त गुरु गम्भीर वाणी में उन्होंने कह दिया—"इस बुढ़ापे में और खास तौर से मेरी इस दयनीय स्थिति में आप जो चाहें सो कह लें त्रिभुवन बाबू, लेकिन मेरे जीवन-शरीर का एक-एक रक्त-बिन्दु, मेरे अन्तःकरण से निकला प्रत्येक निःश्वास, मेरे युग-युग-व्यापी पीड़ित मानव का प्रत्येक क्षण पुकार-पुकारकर यह कहने को तैयार है कि सदा-सर्वदा मर्यादा की दुहाई देकर जो लोग आत्म-स्वर को मन-ही-मन मसोसकर चला करते हैं, वे विचारक नहीं हो सकते, वे क्रांतिकारी नहीं हो सकते ; और वे युग-निर्माता तो कभी हो ही नहीं सकते, मर्यादावादी कभी हृदय-दान नहीं कर, सकता। कभी आपने किसी समुद्र को सूखते हुए देखा है ? किंतु सरोवर हैं, जो प्रायः सूख जाते हैं।"

त्रिभुवन बाबू ने तकिया उठाकर अपने घुटनों पर रख लिया। उसी समय एक गाड़ी प्रतिभादेवी के बँगले के अन्दर जा पहुँची। किन्तु इस बात पर ज़रा भी ध्यान न देकर वे बोले—"यह मत कहिये कि मैंने किसी समुद्र को सूखते हुए कभी नहीं देखा। सूखना दूर रहा, मैं तो उसे मछली-सा तड़पता हुआ देख रहा हूँ।"

"ऐसा मत कहिये त्रिभुवन बाबू, ऐसा मत कहिये।" अत्यन्त मर्माहत वाणी में दादा बोले—"मैं समुद्र नहीं हूँ। और मैं समुद्र बनना भी नहीं

चाहता। मैं जड़ नहीं हूँ। मैं तो एक साधारण मनुष्य-भर हूँ और मनुष्य की तरह ही जीना और मरना भी चाहता हूँ। मैं पत्थर नहीं हूँ, जिसमें कभी पीड़ा नहीं होती, जो कभी रोना नहीं जानता, जिसकी आँखों से कभी आँसू नहीं उमड़ते। मैं हृदय रखता हूँ। मैं वक्ष रखता हूँ और वक्ष प्रान्त की सारी भूख मेरे अन्दर सुलगती है। मैं प्यास रखता हूँ और प्यास मर जाने पर होनेवाली पीड़ा की बिलकुल ताज़ी अनुभूति भी रखता हूँ। कुछ पता है आप को——मैं बीस वर्ष से प्यासा हूँ, त्रिभुवन बाबू! आप नहीं जानते, प्यास कैसी होती है! कण्ठ सूख जाने पर तो एक गिलास ठंडे जल से ही प्यास शान्त हो जाती है, लेकिन जिसका हृदय ही सुखा डाला गया हो, उसके क्षीण वक्ष की प्यास कैसे शान्त हो सकती है! कभी सोचा है आपने?"

त्रिभुवन बाबू दादा के पुराने सहपाठी हैं। एक समय था, जब दोनों में प्रगाढ़ मित्रता थी। इसके पश्चात् जब जीवन ने दोनों को पृथक् कर दिया, तब उनका मिलना-जुलना दुष्कर हो गया। यों वे ज़मींदार थे; लेकिन एक कालिज में शिक्षक हो गए थे। कभी-कभी दोनों में पत्र-व्यवहार से विचार-विनिमय हो जाता। जब कभी कानपुर आते, तब अवश्य मिलते। त्रिभुवन बाबू इतना ही जानते थे कि दादा का जीवन बड़ा सादा, बहुत सात्विक और मूक तपस्वी का है। भीतर वे कितनी वेदना छिपाये थे, उनका हृदय दहकते अंगारों का कैसा अग्नि-कुंड था, इस बात का अनुमान लगाना उनके लिए बहुत कठिन था।

दादा की मानसिक स्थिति अब इस सीमा तक जा पहुँची थी कि गर्मी के दिनों में वे सो नहीं सकते थे और जो कोई भी उनके पास चारपाई डालकर सोता उसे भी वे सोने नहीं देते। त्रिभुवन बाबू यह अनुभव करके बहुत चिन्तित हो उठे थे। वे सोचने लगे, मेरे-जैसे व्यस्त और शांत व्यक्ति के लिए ऐसे अतिथि की उपस्थिति बड़ी कष्ट-कारक है। आज मेरी स्थिति कितनी विचित्र है! मुझे चुपचाप सोना है और इनको चुपचाप इधर-उधर घूमना-भटकना, खड़े रह-रहकर कुछ-न-कुछ देखना-सुनना, मन-ही-मन रोना, आह भरना, बैठना, लेटना और फिर भाग खड़ा होना। मेरा

जब कार्यक्रम समाप्त होता है, तब इनकी आत्मा का क्रंदन रोम-रोम की जलन, श्वास-निःश्वास का संघर्ष, अकल्पित और अप्रत्याशित ध्वनियों का आह्वान, अध्ययन और प्रयोगात्मक कल्पनाओं का पर्यवेक्षण प्रारम्भ होता है। मैं जिन बातों को चुपचाप पी जाना चाहता हूँ, जिन बातों को दूसरों पर प्रकट करते हुए मुझे संकोच और लज्जा मालूम होती है, दादा उनको इस तरह खोल देते हैं, जैसे प्याज़ के छिलके, एक के बाद एक खुलते और अलग होते जाते हैं। वे सोचते हैं कि इन छिलकों के बाद अन्त में गूदा तो मूल तत्त्व के रूप में निकलेगा ही; किंतु जैसे प्याज़ में छिलके-ही-छिलके होते हैं वैसे ही भ्रम और संदेह रहस्यात्मक जीवन को और भी रहस्यमय बना देते हैं। तब एक प्रकार की वितृष्णा से उनका मन भर गया और वे चुपचाप सो रहे।

दूसरे दिन जब वे कचहरी जाने लगे, तब माली को एक परचा देते गए, जिसमें लिखा हुआ था।

"प्रिय वर्मा जी,

क्षमा कीजियेगा, मैं एक सीमा तक ही आपका साथ दे सकता हूँ; पर कल रात आपने जो अभिनय किया, उससे आज मेरे शरीर का रोआँ-रोआँ दुख रहा है। मैं कचहरी जा रहा हूँ, लेकिन मेरा बदन टूट रहा है। मैं अपने कर्तव्य का निर्वाह कैसे कर सकूँगा, नहीं जानता। कृपा करके अपने ठहरने का प्रबन्ध अब अन्यत्र कर लीजियेगा।

एक बार पुनः क्षमा चाहता हूँ।

आपका

त्रिभुवननाथ।"

: ४ :

उस रात जब दादा से परिचय हो गया, तब दिलीप ने फिर उनसे कोई ऐसी बात नहीं की, जो उनको चिन्ता में डालने का कारण बन सकती। लक्षणा के प्रति यों भी उसका व्यवहार अपनी ओर से प्रेरणात्मक नहीं था। फिर अब तो उसने और भी सतर्क रहने का निश्चय कर लिया। निश्चित हो गया कि मधुरता और सुन्दरता की सीमाएँ भी उसके विचारों को हिला-डुला न पायँगी, अनुपम आकर्षण भी नियमन में कसकर निर्जीव बना रहेगा, न कोकिल की कूक प्यारी लग पायगी——न मोरों का शोर मन को भायगा।

ज्यों-ज्यों नगर निकट आता जाता, त्यों-त्यों एक आशंका और भय उसके मन पर घनीभूत होता जाता, बार-बार उसे माँ की याद आ जाती, न जाने उन पर क्या बीती होगी ? हो सकता है, किसी दिन दुःखातिरेक से उन्होंने उपवास ही कर डाला हो ! कभी-कभी आप-ही-आप उसके मन पर एक प्रश्न लिख जाता——'माँ के सिवा इस संसार में मेरा है कौन ?——और फिर वह माँ भी कितनी असहाय और परवश है !' तब उसकी आँखें भर आईं !

लेकिन दिलीप का निर्माण कुछ ऐसे ढंग से हुआ था कि वह आँसुओं की मोह-माया को अपने पास अधिक नहीं ठहरने देता था। धीरे-धीरे उसे इस बात पर दृढ़ विश्वास-सा हो गया था कि रोने से संसार के दुःख ज़रा भी कम न होंगे। कम तो वे तभी हो सकते हैं, जब उनके मूलाधारों को नष्ट कर दिया जायगा ; और उसके लिए मुझे भावुकता त्यागकर, ठोस निर्मोही और कठोर बनना पड़ेगा।

इसके सिवा एक बात और थी। वह यह कि सामाजिक उत्पीड़न को तो वह महत्त्व देता था ; लेकिन व्यक्तिगत दुःख-संताप उसके मन पर सघन समवेदना और अमिट चिन्ता की छाप नहीं डाल पाते थे। इसीलिए माँ की चिन्त्य परिस्थिति की बात मन में आते ही वह झट बाढ़ में पीड़ित

मानवता के चीत्कार की ओर देखने लगता। उसे उस माँ की याद आ जाती जब उसका बच्चा चारपाई से गिरकर पानी में बहता जल-जन्तुओं का आहार बन गया, तब होश में आने के बाद पथ्य के रूप में अफ़ीम खाकर उसने ऐसे जगत् से विदा ले ली थी ।

थोड़ी देर में नगर निकट आ गया था। सड़क के दोनों ओर बने हुए दोमंज़िले और किसी-किसी तिमंज़िले मकान से अनायास झलक जानेवाली रोशनी, किसी वार्ता का कोई एक टूटकर छिटक आया वाक्यांश चौराहों पर खड़े व्यक्तियों और मज़दूरों की टोलियों के स्वर, सिनेमा के विज्ञापनों को गाजे-बाजे के साथ प्रसारित करनेवाले बैंड, पुलिस के द्वारा पकड़े गए चोर और आवारे, कुल्फ़ी और मलाई की बरफ़, चाय, पट्टी-कड़ाकेदार, गजक और बिस्कुट वाले, हर चीज के दाम हैं छः पैसे, सूई में डोरा डालने की मशीन, एक चश्मा बेच डालें आदि के अवसरवादी तथा-कथित व्यवसायी किंतु वास्तव में मज़दूर ज्यों-ज्यों सामने आते गए, त्यों-त्यों दिलीप यही सोचता गया——ऐसा कौन सा युग आयगा, जब यह जनता मेरा व्याख्यान सुनने के लिए व्याकुल अधीर रहा करेगी, क्योंकि मैं इन्हीं के हितों की बात करने में अधिक दिलचस्पी रखता हूँ । तब बात-की-बात में उसे एक नशा-सा आ गया और वह जैसे मन-ही-मन कहने और दोहराने लगा :

'मैं व्यक्तिगत सुख-भोग के लिए नहीं उत्पन्न हुआ हूँ ।

मैं अपने हितों को परिवार-मात्र तक सीमित रखने वाले व्यक्तियों में नहीं हूँ । मैं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को समाज के लिए सर्वथा भयावह मानता हूँ ।'

पर ज्यों-ही वह अपने इन वाक्यों को संकल्प और व्रत का रूप देने लगता, त्यों ही झट उसके शरीर भर में अनेक विद्युद्धाराओं का एक साथ प्रवेश हो उठता । एक सिहरन-सी वह अपने में अनुभव करने लगा । उसका ज्वर अभी जरा भी कम नहीं हुआ था; किंतु मन उसका एक तरह से काफ़ी हल्का हो गया था । वह सोचने लगा कि जब व्यक्तिगत

सुखों की मोह-माया से मैं दूर ही रहना चाहता हूँ, तब यह क्या चीज है कि मैं इससे खिचा रहूँगा, उससे तना रहूँगा, इसके निकट नहीं जाऊँगा; उससे बात नहीं करूँगा ! इस तरह मेरी स्थिति कितनी दयनीय हो जायगी ? जैसे कोई कुष्ठ-रोगी दिन-रात यह कहता रहे कि मुझे चींटियाँ चाट जाना चाहती हैं, मक्खियाँ निगल जाना चाहती हैं, और मच्छरों ने तो मुझे निःसंदेह यम के पास ले जाने के लिए काफी अच्छी शर्तों के साथ, एग्रीमेंट कर लिया है। तब इस विचार के साथ अपने ही उपहास की भावना से उसके मुख पर हास की आभा झलझला उठी ।

इतने में ताँगा जुही के अन्दर प्रवेश करने लगा तो दादा बोले—"देखो दिलीप, मेरे मकान में काफ़ी कमरे हैं। तुम वहाँ बहुत आराम से रहोगे, रात भी काफ़ी हो गई है और शहर अभी यहाँ से तीन मील पड़ेगा।"

परन्तु दिलीप ने कुछ सुना, कुछ नहीं सुना। वह अब भी यही सोच रहा था कि लक्षणा से अगर मैं झिझकता हूँ तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मैं उसके प्रति अपने मन में कोई मोह पाल रहा हूँ । इसलिए वह कुछ बोल न सका ।

परन्तु दादा तब तक और आगे बढ़ गए और कोट का एक बटन लगाते हुए बोले—"मैं साफ़ देख रहा हूँ कि तुम्हारी तबियत गड़बड़ है। और जब तुम घर पर आ गए, तब मैं तुमको चला जाने दूं, ऐसा नहीं हो सकता। गिरधारी मेरा बाल-बन्धु है, इस नाते भी तुमको मेरे यहाँ ठहरने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए ।"

"संकोच नहीं करता दादा, लेकिन यह भी क्या बात हुई कि घर के निकट आकर भी मैं वहाँ न पहुँचूं।" दिलीप ने कुछ ऐसी गम्भीरता के साथ उत्तर दिया कि दादा एकदम से अवाक् हो उठे। उनका मन जैसे गिर गया। सिर नीचा करके आर्द्र कंठ से कहने लगे, "आज तुम चाहे जो सोच लो और चाहे जो कह लो, लेकिन मुरारी भाई यदि जीवित होते तो दरवाज़े पर आकर अपनी भाभी से मिले बिना कभी जाने की हिम्मत न करते ।"

लक्षणा अब तक चुप थी; पर अब सिर को कुछ ऊँचा उठाकर दो-बार पलक ऊपर-नीचे गिराती-उठाती दिलीप की ओर देखे बिना वह बोल उठी—"यही तुम्हारा बहुत बड़ा अन्याय है बाबा ! जब उनकी इच्छा हमारे यहाँ ठहरने की है ही नहीं तब उनको इस बात के लिए अधिक विवश करना बिलकुल बेकार है । जो लोग अपने ही घर की दीवालों के अन्दर बैठकर खाना खाने के अभ्यासी हैं, और अन्य किसी आत्मीय बन्धु के घर को अपना घर समझना जिन्होंने न अब तक सीखा है, न आगे सीखना चाहते हैं, उनके साथ माथापच्ची करने में तुम चाहे न समझो, पर मैं तुम्हारा स्पष्ट अपमान समझती हूँ ।"

इतने में ताँगा दादा के मकान के निकट जा पहुँचा । दिलीप ने ऐसी गम्भीर स्थिति की कल्पना तक न की थी । एक दादा का ही कथन उसकी शालीनता के लिए भारी पड़ रहा था । उस पर लक्षणा के कथन ने तो जैसे गिरि-शृंग का एक शिला-खंड ही खिसका दिया हो ! अतः वह क्षण भर के लिए कुछ अवाक्-सा हो उठा ।

पर इस प्रसंग ने एक भावना-तरु उसके मरु-प्रदेश पर और खड़ा कर दिया । अभी-अभी, कुछ ही घड़ियों के अन्तर से वह सोच रहा था कि माँ के सिवा इस संसार में मेरा है कौन ? किंतु अब उसे कुछ ऐसा अनुभव होने लगा कि हृदय-दान के प्रकार—कहने को—चाहे जितने पुराने पड़ जायँ, किंतु उनकी शैलियों में नवीनता और मौलिकता के लिए अवसर सदा बना ही रहेगा । आशा के रुद्ध द्वार पर, धीरे-धीरे, मन्द-मन्द मन्थर गति से, कभी-न-कभी कोई-न-कोई आकर कुंडी में झंकार उत्पन्न करता ही रहेगा । थके-माँदे पथिकों को पथ्य-पाथेय देते रहने के नव-नव पावन संकल्प सदा होते ही रहेंगे ।

तब इन्हीं विचार-वीचियों से खेलता हुआ दिलीप बोल उठा—"अपमान मैं इस जीवन में किसी का कर नहीं सकता, दादा ! फिर भी वस्तुस्थिति के स्तर-स्तर के मर्म-मर्म को समझे बिना जो लोग बात-बात में अपमान-अपमान चिल्लाकर आत्म-सम्मान की बहुत बड़ी रक्षा कर

लेना चाहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि आत्मीयता का बाल-रवि जब अपना मुँह खोलता है, तब न तो वह कली का अपमान करता है, न कुसुम का। क्योंकि तब प्रकृति के उनींदे नयन निखिल सृष्टि को केवल अपने हास की मधुरिमा झलकाते प्रतीत होते हैं। विचार करने की बात है कि अपमान क्या हम उसका करते हैं, जिसका मान कुछ है ही नहीं ? और जो इतने माननीय हैं कि मान ही उनकी प्रकृति है, उनका अपमान करके कोई पायगा क्या ?"

बात कुछ इतनी सटीक और उपयुक्त जान पड़ी कि दादा अपनी प्रसन्नता रोक न सके। बोले—"वाह ! आज मुझे मालूम हुआ कि मुरारी भाई की मृत्यु नहीं हुई, वे अब भी जीवित हैं।"

और हाथ जोड़ती फिर उन्हें मस्तक तक ले जाती हुई लक्षणा बोल उठी—"अहोभाग्य युवा संन्यासी, पर कहो, अब तबियत कैसी है ?"

दिलीप ने हँसते-हँसते पूछ लिया—"लक्षणों से कैसी प्रतीत होती है ?"

ताँगा दादा के मकान के पास बिलकुल फाटक पर जा खड़ा हुआ। दिलीप पुनः सहारा देकर दादा को उतारने लगा। जब दादा उतर आए तो छड़ी टेकते अन्दर की ओर बढ़ते हुए बोले—"रास्ता बड़े आनन्द से कट गया। और तुम्हारी तबियत भी पहले से अब कुछ चैतन्य जान पड़ती है।"

लक्षणा के हाथ में टार्च था। वह आगे-आगे चल रही थी। झट बोल उठी—"यह सब मेरे कम्बल डाल देने का प्रताप है दादा !"

"मैं भी यही सोचता हूँ दादा !" इस बार दलीप ने बिना रुके कह दिया—"सिर के ऊपर कम्बल डालकर स्वागत करने की परिपाटी को लोग बेकार ही प्राचीन मानते हैं, जब आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली में उसका इतना अधिक महत्त्व है।" "बेशक-बेशक !" कहते-कहते दादा हँस पड़े, फिर दहलीज के अन्दर पैर रखते-रखते बोले—"जाओ बेटा, दिलीप के लिए चाय तो बनवाओ झट-से।..."

: ५ :

बाढ़-रक्षा-दल में कुल तीस आदमी थे । दस तो मल्लाह थे; उन्हें पीड़ित जनता के जान-माल की रक्षा से इतना मतलब न था, जितना इस बात से कि कुछ हो, पैसे खरे बन रहे हैं । दस ऐसे आदमी थे, जिन पर स्त्री, बच्चों और वृद्ध पुरुषों को सुरक्षित स्थानों पर ले जाने का भार था। वे बिखरे हुए सामान को पैक करते और उनमें नम्बर और नाम के टिकट लगाकर उसे यथास्थान पहुँचाते। शेष दस आदमियों में दो तो परिस्थिति की गम्भीरता पर विचार करने और उसका सामना करने के उपाय सोचने में लगे रहते। फिर उनसे बचे आठ वे थे जो इन बाढ़-पीड़ितों को ठहराने तथा उनके भोजन का प्रबन्ध करने और भंडारे की कमी पूर्ण करने में लगे रहते।

दिलीप ने अनुभव किया कि पीड़ित व्यक्तियों में अधिकांश ऐसे लोग भी हैं जिनकी जीविका का एक-मात्र आधार खेती है। वे खेतों के पास झोंपड़ी डालकर रहते और फ़सल की उपज से लेकर पुनः उसकी कटाई और मड़ाई तक के सारे कामों में ही दिन बिता देते। उनके कामों का एक ऐसा चक्कर था, जो कभी भी पूरा नहीं होता था। गाय-बैल और बकरी पालना और उनके लिए नित्य ताजे चारे-दाने का प्रबन्ध करना एक ऐसा कर्त्तव्य है, जिस में छुट्टी के लिए कोई स्थान नहीं है । इन किसानों के बच्चों को पढ़ाने का कोई चलन नहीं है । अधिकांश बच्चे खेती और पशु-पालन में लगे रहते हैं। अगर उनको इस काम से अलग करके पाठशालाओं में भेजा भी जाता है, तो चार दिन में ही वे अपनी शिक्षा समाप्त कर लेते हैं। उनके माता-पिता को यह विश्वास दिलाना कठिन है कि पढ़-लिखकर वे उनके काम के बने रहेंगे। वे यह भी मानने को तैयार नहीं हैं कि जिस सीमा तक बच्चे को पढ़ाने की सामर्थ्य उनमें है भी, उसका वे कोई सुन्दर उपयोग कर सकेंगे ।

नित्य सायंकाल नौ बजे इस रक्षा-दल की एक बैठक होती और

नित्य ही उसमें नए-नए मसले पेश किये जाते। इन मसलों में कुछ बातें ऐसी निकलतीं, जिनका हल समझ में नहीं आता था।

उजागर के परिवार में सात व्यक्ति थे। एक था बाप, जो वृद्ध हो चुका था। एक थी माँ, जो अधिकतर बीमार रहती थी, इसलिए प्रायः खाट ही सेवन करती रहती। एक थी पत्नी, जिसे मिर्गी आती थी, लेकिन बच्चे एक साल का अन्तर देकर होना बन्द नहीं हुए थे और बहुधा जीवित भी कम रहते थे। तेरह-चौदह वर्ष का गदाधर, जो सब से बड़ा था, उसका सहायक था। वह हर काम में उसका हाथ बटाता। दूसरा था बखतावर, ग्यारह वर्ष का, जिसकी एक आँख चेचक में जाती रही थी और इधर तो उसके पैर में एक्ज़िमा हो गया था, जो किसी तरह अच्छा ही नहीं हो रहा था। तीसरी थी एक लड़की कल्लो, वह दस साल की थी। उसकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि वह यह भी बता सकती थी कि चार साल पहले जब आपको मैंने देखा था, उस समय आपके फीतेदार जूतों में दस की जगह ग्यारह छेद थे। गदाधर को दम मारने का अवकाश न मिलता। वह गाँव भर के ढोर चराता था। सबेरे आठ बजते-बजते गाँव के बाहर सारे पशु इकट्ठे हो जाते और वह जो उनको लेकर जंगल की तरफ निकल जाता, तो फिर शाम को ही लौटता। दोपहर का चबेना वह अपने साथ ले जाता और शाम होते-होते जब वह घर लौटता, तो उसे भोजन तैयार मिलता था। इन चरने वाले ढोरों में उसके निज के बैलों की जोड़ी, गाय तथा बकरी भी रहती। बखतावर गोबर के उपले पाथने में अपनी कल्लो की मदद करता। पानी भी दोनों मिलकर भर लेते। घर की सफ़ाई कल्लो कर लेती, तो बखतावर खेत पर अपने पिता को चबेना और पानी दे आता। कल्लो की माँ चक्की पीसकर उठती, तो चौका-बर्तन की सफ़ाई में लग जाती। बाबा और दादी की सेवा में बखतावर उतना समय न दे पाता था, जितना कल्लो। इसलिए दोनों को उसके प्रति सदा शिकायत ही बनी रहती। दादी कहती कि बहू ने सिखा दिया होगा कि अम्मा की कोई बात न मानना। वह एक लोटा पानी माँगे, तो कह देना, उठकर पी लो!

यहाँ किसको इतनी फ़ुरसत है जो हाथ बाँधे, आज्ञा के लिए चौबीसों घंटे पास खड़ा रहे। मगर बाबा का कहना था कि सब एक से हैं। जब बेटे को ही मुझसे सुख-दुःखकी बात पूछनेकी फ़ुरसत नहीं, तो वह तो फिर भी पराया हाड़-माँस है। और दोनों की शिकायतें भी अद्भुत प्रकार की थीं। बाबा का कहना था कि मेरा भेजा इसलिए फटा जाता है कि मुझे ताज़ा खोया खाने को नहीं मिलता। जब कि गाय दोनों वक्त में दो सेर दूध मुश्किल से देती थी और कल्लो के भाई होने वाला था। लेकिन ये शिकायतें उनकी पुरानी थीं, जो नई-नई शिकायतों के साथ-साथ इतिहास रूप में कही जाती थीं। बाबा कहते थे कि मेरा भेजा फटा जा रहा है। पाव-आध-पाव खोया बाँधे बिना वह कभी अच्छा न होगा। और आजी का कहना था कि दूध के बिना मुझसे रोटी नहीं चलती और रोज़ ताप चढ़ आता है।

इन पीड़ित लोगों में बच्चों की संख्या सबसे अधिक थी। जब सब लोग मौसमपुर की सराय में, जो अब बिलकुल खँडहर हो गई थी और गिरे-पड़े दो-चार दालान ही ऐसे बचे थे, जिनमें धूप और ओस से बचाव हो सके। दो दिन से पानी नहीं बरसा था और फ़र्श इतना गीला न था कि टाट की पट्टियाँ डालकर फिर उन पर बैठा न जा सके। लेकिन जगह-जगह गोबर, इटखुर्रे और दूसरे जानवरों का मल पड़ा हुआ सूख रहा था। पहले उसकी सफ़ाई की गई। यह काम शहर वालों के मान का न था, तब ज़मींदार से कहकर गाँव से ही पाँच चमार और तीन धानुक बुलाये गए और सफ़ाई करने के बाद जब वे चलने लगे, तो सबको काम के लिए फ़ी घंटे आठ-आठ आने दिये गए। हँसी खुशी के साथ वे चले गए और चलते समय यह कहकर गये कि 'हमारे लायक जो काम होय उसके लिए हम हाजिर हैं।'

दिलीप ने अनुभव किया, एक ऐसा युग था, जब ऐसे कामों के लिए कुछ पुरस्कार देना दूर रहा, इन्हें लात-जूता और गालियाँ मिला करती थीं। दल के पास कुछ जाजमें थीं। सफ़ाई के बाद वहाँ गाँव से पुवाल मँगवाकर बिछाया गया। उसके बाद वे जाजमें और उस पर वे सब बाढ़-पीड़ित

लोग बिठा दिये गए। बूढ़े, बुढ़ियाँ, प्रौढ़ाएँ, बहुएँ, नवयुवतियाँ और लड़के बच्चे सब तीन दिन के भूखे प्यासे और लंघने थे । उनके मुँह मुरझाये हुए थे । उनके कंठों से आवाज़ बहुत धीमे निकलती थी और वे बहुधा कराहने लगते थे । सर्दी और वर्षा ने भी अपना असर डाल रखा था । साधारण ज्वर-ज़ुकाम, इन्फ्लुएंज़ा, मलेरिया और किसी-किसी को तो निमोनियाँ ने भी घेर लिया था । परन्तु सबका यही कहना था—"हमें रोटी दो, हम दाल-भात खायँगे ।" कुछ लोग धीरज खो चुके थे । उन्हें जब मालूम हुआ कि खाना पकाने की व्यवस्था कर दी गई है, दो घंटे में सबको खाना मिल जायगा, तब किसी-किसी ने कराहते हुए कहा—"अच्छा भाई, दो घंटे और सही, अगर बच गए । यह कहने को तो हो जायगा, ईश्वर के लिए भी कि रामदास मरते वक्त भूखा नहीं था !"

चारों ओर कोलाहल मचा हुआ था । दल वालों ने आपस में बातचीत करते हुए यह भी अनुमान किया कि हमको साथ में कुछ ऐसी चीजें लानी चाहिए थीं, जो इस वक्त फ़ौरन दी जा सकती । लाई की बनी पट्टियाँ और रामदाने के लड्डू तो हम साथ में ला ही सकते थे । भुना हुआ चना भी इस वक्त काम दे जाता । तब यह निश्चय हुआ कि दलिया और दाल फ़ौरन चढ़ा दी जाय और आधे घंटे में खाना खिला दिया जाय । जिनको ज्वर है, उनके लिए दूध का प्रवन्ध किया जाय । साबूदाना भी मँगवा लिया जाय । ग्लूकोज़ के कुछ टिन तो अपने साथ आये भी हैं । इस प्रकार घंटे-दो-घंटे में इधर-उधर आदमी दौड़ाकर सबके खाने की यथोचित व्यवस्था कर दी गई ।

बाढ़-पीड़ितों ने समझ लिया कि अब हम लोग बच जायँगे, परन्तु दूसरे दिन जब रोटी, दाल, भात, सब्ज़ी, दूध और फलों का भी प्रवन्ध, वर्तमान परिस्थिति और उसके साथ भविष्य की सम्भावनाओं पर विधिवत् विचार किये बिना कर दिया गया, तो इसका फल यह हुआ कि सैकड़ों आदमी बदहज़मी, मलेरिया और हैज़े से आक्रांत हो उठे । तब विवश होकर उनके लिए अस्थायी हॉस्पिटल खोलना पड़ा ।

स्थान-स्थान पर रावटियाँ लगी थीं। पूछ-ताछकर, पुराने रोगी, नये मरीज़, भंडार, भोजनालय, स्नानागार, मन्त्री, संयुक्तमन्त्री, उपमंत्री, अर्थमन्त्री आदि के लिए अलग-अलग रावटियाँ पड़ी थीं। खाना बनाने वाले भोजन बनाने में लगे थे और जरूरत पर भंडार से सामान मिल जाता था। पर मरभुखी का फल यह हुआ कि खाना पकने भी न पाता, खाने वालों के पेट में खिचड़ी पकने लगती। बच्चे आकर भोजनालय के पास खड़े हो जाते और रोना ारम्भ कर देते। सब-के-सब बच्चे बिलकुल गाँव के—देहात के—थे। उन्होंने कभी बिस्कुट की शकल न देखी थी। एक बार जो उन्हें चसका लग गया, तो वे बिस्कुट छोड़कर कुछ खाना ही न चाहते थे। कुछ मरीज़ों के लिए आधा दूध और आधा पानी मिलाकर साबूदाना बनाया गया। कुछ बच्चों को सबेरे के वक्त उनके माता-पिता ने साबूदाना चखने को दे दिया था। उसका परिणाम यह हुआ कि सब बच्चे उस साबूदाने पर टूट पड़े और मरीज़ों को एक भी चम्मच नसीब न होसका।

सफ़ाई का यह हाल था कि सवेरे उन कमरों में, जहाँ वे सोते और बैठते थे, मल-मूत्र पड़ा मिलता। कहीं-कहीं उच्छिष्ट अन्न भी। और मक्खियाँ इतनी कि कोई भला आदमी वहाँ खड़ा होकर पानी भी न पी सके।

एक रावटी शिकायत सुनने के लिए थी। वहाँ दस-बीस आदमी सदा बैठे ही मिलते। एक बुढ़िया बैठी फूट-फूटकर रो रही थी। उसका कहना था कि "मेरी सोने की हँसली किसी ने उतार ली।" यद्यपि हँसली ऐसी वस्तु नहीं, जो उसकी स्वीकृति के बिना उतारी जा सकती।···एक बनिया था—वह अपने रुपए एक लोटे में जमीन के अन्दर गाड़कर रखता था। एक दिन रात को सब लोगों के सो जाने पर जब उसने वह लोटा निकाला, तो रुपयों के बजाय उसमें मूंगफली के छिलके भरे मिले!···एक ठाकुर साहब थे। उनका नाम था—कमिश्नरसिंह। उनकी लड़की बेला का गौना हो चुका था। उस के कोई बाल-बच्चा नहीं थी। दामाद फौज में नौकर है। बेला को कभी-कभी मूर्छा आ जाने का रोग है। कल रात वह जाने कहाँ चली गई!

जब श्रीमान् कमिश्नरसिंह से पूछा गया—"क्या वह कुछ गहना भी

पहने हुए थी ?" तो उन्होंने उत्तर दिया—"गहना वह पहनती ही कहाँ थी! बिना गहना पहने ही जब वह चलती थी, तो धरती डोलने लगती थी!"

उस समय इन सब बातों को सुनकर दिलीप झल्ला उठा था। रक्षा-दल के मन्त्री श्रीमान् विजयप्रताप, संयुक्त-मन्त्री ललितमोहन और अर्थ-मन्त्री श्री किशोरीलाल जैन पास ही बैठे थे। उन्हीं सबको लक्ष्य करके उसने कह दिया था—"ये सब मामले आप निपटाते रहिये। जिन लोगों का मानसिक स्वास्थ्य इतना गलित और दलित हो चुका है कि वे समाज के नैतिक मानो का निर्वाह कर ही नहीं सकते, उनका ठीक-ठीक इलाज, ऐसे संकट-काल में कर सकना, हमारे लिए बड़ा कठिन है।"

"लेकिन किसी समस्या को केवल यह कहकर टाल देना कि इसका हल तो बड़ा कठिन है, हमारे लिए कहाँ तक उचित है ?" उत्तर में कहते-कहते ललितमोहन साहब पास खड़े एक आदमी को चार पैसे देकर बोले—"पान तो ले आना !"

"यह सोचना आपका काम है।" कुरसी से उठकर अपनी बात पूरी करते हुए दिलीप ने कह दिया—"क्योंकि आपके पास इसके लिए समय भी काफ़ी है। पर हम हॉस्पिटलवाले कार्याधिकारियों के हाल पर रहम खाकर कृपा करके उनको ऐसे झंझटों से दूर रखिये।"

बस, इसके पश्चात्, दिलीप वहाँ से हॉस्पिटल चला आया था। उसका कार्य तीन दिन तक निर्विघ्न चलता रहा। पर चौथे दिन रोगियों की संख्या यकायक बढ़ गई। नगर के रईसों की जो कारें नेताओं को ले आई थीं, वे कभी की विदा ले चुकी थीं। यातायात का कोई ऐसा साधन न था कि नगर से तुरन्त दवाइयाँ आ सकतीं। फिर उन दवाइयों के बिलों का रुपया चुकाने का भी प्रश्न था। अर्थ-मन्त्री श्री किशोरीलाल जैनत था भोजन-भंडाराध्यक्ष महाशय जानकीदास की याद की गई, तो पान के चार बीड़े एक साथ मुँह में खोंसते हुए किशोरीलाल जी बोले—"हमारे पास एक सौ त्रेपन रुपये पौने सात आने-मात्र और बचे हैं।" और दियासलाई की तीली से कान साफ़ करते-करते जानकीदास कहने लगे—"हमारे

पास केवल हफ़्ते-भर के खाने का प्रबन्ध है। इसके बाद फिर हम भी खाली हाथ हो जायँगे। घी चुक गया था। आज-भर को शायद हो जाय। आदमी बाहर भेज दिया है—हम को यहाँ देहात से ही घी लेना भी चाहिए। गेहूँ हमारे पास कुल चार बोरे बचे हैं। लेकिन बेसन बिलकुल नहीं है।"

"फिर वही मसले सामने आ गए—" दिलीप के मुंह से निकल गया—"जिसके साथ सिर खपाना मेरा काम नहीं। मुझे तो दवाइयाँ चाहिएँ, दवाइयाँ!"

तब मैनपुरी की पुड़िया खोलते हुए विजयप्रताप साहब बोले—"तो दवाइयाँ आप ले आइये। आपका प्रभाव भी काफ़ी है। रुपया न सही, दवाइयाँ तो आपको वहाँ फ़िलहाल उधार भी मिल जायँगी। बिलों का भुगतान फिर बाद में कर दिया जायगा। सरकारी सहायता के दस हजार रुपये भी हमको अब मिलने ही वाले हैं।"

तब दिलीप हॉस्पिटल से भी चल खड़ा हुआ था। बाहर खड़े हुए कुछ लोग बातें कर रहे थे। पास से निकलती और सिर की धोती मत्थे तक खींचती हुई एक वृद्धा ने पूछा—"हमाई कुन्ती को बुखार नइँ उतरो। आँखें ताकी लाल-लाल खून-जैसी ह्वै रही हैं। कराहत भौत है! नीकी ह्वै जै है लाला?"

एक बच्चा मुँह में दाल भरे हुए था। उसने झट दिलीप का हाथ पकड़ लिया। बोला—"हमको बिछकुत नहीं मिले।"

एक वृद्धा बाल छितराये रोती बिलखती सामने आ खड़ी हुई। क्रंदन के साथ वह कहने लगी—"हाय मेरी चमिलिया चल बसी बाबू! तुम तो दिलासा दे-देकर रखते रहे—घबराओ नहीं, घबराओ नहीं, अब मेरी चमिलिया को बुला दो बाबू!"

धीरे-धीरे वह एक ऐसी भीड़ के बीच में पड़ गया, जिसके पास क्रंदन, चीत्कार और आँसुओं के सिवा कुछ न था। बड़ी कठिनाई से वह उस भीड़ से निकल सका। सो भी तब, जब स्वयं उसे अपनी आँखों पर रूमाल लगा लेना पड़ा!

: ६ :

दिलीप ने फाटक के अन्दर प्रवेश करते ही देखा, ऐसा कोई साधारण घर नहीं है। फाटक के साथ ही दायें-बायें कमरे बने हैं। प्रत्येक में तीन दरवाज़े हैं, जिनका बीच द्वार ही पूरा खुलता है, शेष दोनों खुलने पर भी बन्द से रहते हैं। प्रवेश उनमें केवल दो-तीन ही कर पाते हैं। पहला प्रकाश, दूसरी वायु और तीसरी छाया।—क्योंकि उनमें सीखचे जड़े हुए हैं।

दादा साथ चलते-चलते बतलाते जाते थे—फाटक के दोनों ओर दो कमरे तुमने देखे होंगे, उनमें दायें वाले में लक्षणा के बाबू बैठा करते थे। अब तो वह बन्द पड़ा रहता है। सारी माया आदमी की है। जब वह नहीं रहता, तब केवल उसकी स्मृतियाँ शेष रह जाती हैं।

इतने में भीतर के दालान में प्रकाश हो गया और पंखा फरफराने लगा। उसी ओर बढ़ते हुए दादा बोले—"इधर आ जाओ दिलीप !"

दिलीप ज्यों ही उधर बढ़ा त्यों ही दादा को ध्यान आ गया, पंखे का तेज़ चलना शायद ठीक न होगा। तभी उन्होंने उसे नम्बर एक पर कर दिया। उधर लक्षणा के बाबू वाली स्मृति को लक्ष्य करता हुआ दिलीप अनुभव करने लगा—'दादा के हृदय का यह कोना कुछ गीला है।' ताँगा पीछे-पीछे भीतर तक चला आया था और अब खोला जा रहा था।

आराम-कुरसी पर बैठते दादा बोले—"दोनों ओर जो दालान दिखाई देते हैं, इनमें से बाईं ओर भैंसों और गायों के निवास हैं, जिनका फ़र्श पक्का है और दिन-भर में तीन बार साफ़ किया जाता है। हमने इस बात का ध्यान रखा है कि ये दुधारू पशु भी इतने साफ़ रह सकें कि मक्खियों, मच्छरों और कीट-पतंगों की माया उन पर व्याप्त न हो पाय।

तब तक ताँगेवाले ने घोड़ा खोलकर उसे आँगन के पूर्व-पश्चिम टहलाना आरम्भ कर दिया था। लक्षणा अन्दर जा चुकी थी। इतने में एक युवक ने आकर दादा के चरण-स्पर्श करके दिलीप को नमस्ते किया फिर दादा से पूछा—"रास्ते में पानी तो ज़्यादा नहीं पड़ा दादा !"

"पानी पड़ा तो था; लेकिन खला नहीं ज़्यादा । क्योंकि आते-ही-आते धौंस जमा लेने के बाद वह फिर आप-ही-आप धीमा पड़ गया और केवल बूँदा-बाँदी ही बाक़ी रह गई । लेकिन एक काम करो बिस्सू कि यह पलंग जो खाली पड़ा है, भीतर से बिस्तर लाकर पहले इसे बिछा दो । इनकी तबियत कुछ उन्नीस है । और इधर देखो, मुरारी भाई को तो तुमने देखा ही था, ये उनके एक-मात्र चिरंजीव हैं । मैडिकल-कॉलिज में पढ़ते थे । और दिलीप, यह लक्षणा का बड़ा भाई है । राजनीति में एम० ए० इसी वर्ष किया है इसने । और नाम इसका है विशेषण ।

तभी दिलीप मुसकराने लगा । उसे ध्यान आ गया कि नाम जाने बिना कोई यह समझ ही नहीं सकता कि बिस्सू विशेषण शब्द का आत्मज है ।

बिस्सू ने पलंग बिछा दिया, तब दादा बोले—"देखो बिस्सू डॉ० मिश्रा अभी उठे न होंगे । कहना, दादा ने याद किया है । चिन्ता की बात न भी हो, फिर भी लापरवाही क्यों की जाय । देख लेंगे, तो इतमीनान से नींद तो आयगी ।"

खूँटी पर टँगी हुई छतरी उतारकर, बिस्सू बोला—"वैसे नौ बजे उनकी डिस्पेंसरी बन्द हो जाती है । और अब साढ़े नौ हो गए । फिर भी देख लेता हूँ ।" और इतना कहकर वह चल दिया । दिलीप ने पलंग पर लेटकर पैर फैला लिये और ऊपर से एक चादर भी डाल ली । तभी दादा ने कहा—"अभी एक हफ़्ता भी नहीं हुआ । गिरधारी से मिलने का अवसर मिला था दिलीप !"

दिलीप के कान खड़े हो गए । बोला—"तभी उन्होंने कहा होगा कि मैडिकल-कॉलिज मैंने इसलिए छोड़ा कि चौथे वर्ष परीक्षा में फ़ेल हो गया ।"

दादा को दिलीप की इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ । बोले—"कहा तो कुछ ऐसा ही था दिलीप ! तुमसे झूठ क्यों बोलूँ ? लेकिन मैंने इस बात पर विश्वास तब भी नहीं किया था । क्योंकि गिरधारी को मैं

आज से नहीं, बचपन से जानता हूँ। लेकिन एक बात मेरी समझ में नहीं आई।"

दिलीप ने उत्सुकता से पूछा—"क्या ?"

"यही कि फिर तुम्हारा आगे पढ़ना छूटा क्यों ?"

दिलीप पहले चुप रह गया। उसका कंठ भर आया। फिर आँसू पोंछता हुआ बोला—"डॉक्टर के रूप में मेरा एक सम्मानित व्यक्ति बनकर जीना उनको सहन न था; जब पिताजी को दिवंगत हुए अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ है।

इस बात पर दादा फूट पड़े और आश्चर्य के अतिरेक से वाणी को हृदय के अत्यन्त छिपे मर्म-प्रदेश से उठाकर बोले—"यह तुम क्या कह रहे हो दिलीप !"

"मैं बिलकुल सही कह रहा हूँ दादा !" मुलायम तकिये को दुहरा करके सिर के नीचे रखते हुए दिलीप बोला—"पढ़ाई का जो खर्चा मुझे पिताजी के सामने मिलता था, वह कम होते-होते अब आधा रह गया था। और इस वर्ष के प्रारम्भ में तो उन्होंने उतना देने से भी इन्कार कर दिया। बोले—"मैं अब खर्चा न दे सकूँगा। तुम पढ़ो, चाहे बैठ रहो !"

"खर्चा उनके बाप देंगे, जो स्वर्ग में हैं।" दादा के मुँह से निकल गया।" और वे आरामकुरसी पर लेटने की स्थिति बदलकर एकदम सीधे बैठ गए।

डॉक्टर मिश्रा ने परीक्षा करके बतलाया—"चिन्ता की कोई बात नहीं है। दवा हम अभी भेजे देते हैं।"

लक्षणा चाय ढाल रही थी। होठों में कली का-सा विकास भरकर बोली—"मगर चाय तो पीते जाइए। ऐसी नाराज़ी भी क्या !"

"मैं रात में चाय नहीं पीता बेटी !" डॉक्टर साहब ने सीढ़ी से उतरते हुए एकदम घूमकर उत्तर दिया।

"तो मिठाई ही चख लीजिये थोड़ी सी।" लक्षणा ने पुनः आग्रह करते हुए कह दिया।

"अब तो सिर्फ़ दूध ही लेता हूँ सोने से पहले।" डॉक्टर का एक पैर सीढ़ी के ऊपर था, दूसरा नीचे।

"तो थोड़ा दूध यहाँ ले लीजिये चाँदी से पहले। क्योंकि मरीज़ देखकर बियरिंग वापस जानेवाला डॉक्टर जब घर पहुँचता है, तो···।"

लक्षणा अभी इतना ही कह पाई थी कि दिलीप बोल उठा—"तो कहते हैं, उसकी खातिरदारी वहाँ अच्छी होती है।"

डॉक्टर घड़ी देखते हुए बोले—"बातें तो बड़ी दिलचस्प हो रही हैं, लालच भी मेरे मन में बैठने का हो आया। मगर देर हो जायगी और फिर कल का सारा कार्यक्रम ही चौपट हो जायगा। हो सके तो कल मेरे यहाँ आने की कृपा कीजिये। बल्कि सबेरे का नाश्ता भी मुझे स्वीकार होगा।"

उठकर बैठते हुए दिलीप बोल उठा—"खेद है, मैं उस समय बड़ा व्यस्त रहूँगा। मुझे कल ही देहात के एक ऐसे हॉस्पिटल में पहुँचना है, जहाँ बाढ़ से पीड़ित लोगों के पचासों मरीज़ पड़े-पड़े कराह रहे होंगे। असल में कुछ इंजेक्शंस और दवाइयाँ लेने के लिए ही मैं आज शहर आया था, सो घर न पहुँचकर यहाँ फँस गया।"

"मौसमपुर के हॉस्पिटल की बात तो आप नहीं कह रहे हैं?"

"जी!"

"तब आप धन्य हैं। हम लोगों को तो अपने धन्धे से ही फ़ुरसत नहीं मिलती। मगर कल आप रुक जाइये। तबियत ठीक हो जाय, तब जाइयेगा।"

"ऐसा नहीं हो सकता, डॉक्टर साहब! मैंने सुख के दिन बहुत देखे हैं। उसी का यह परिणाम है कि अब दुःख के दिन देखने पड़ रहे हैं। कल अगर मैं लौट न सका, तो आश्चर्य नहीं कि परसों सबेरे वहाँ दस-बीस लाशें पड़ी मिलें। आप तो डॉक्टर हैं, आपसे क्या कहूँ! मैंने देखा है कि मृत्यु जीवन के साथ कभी एक सेंकड की भी रियायत नहीं करती। और फल यह होता है कि मनुष्य की सारी आशाएँ यहीं छूट जाती हैं। इसलिए मैं आज घर चला जाना चाहता था। मगर·······।" कहते-कहते दिलीप जब रुक गया, तो डॉक्टर साहब ने अपना सिर नीचा कर

लिया और तब बहुत गम्भीर होकर वे बोले––"मैं आपको दवा अभी भेजे देता हूँ ।"

बिस्सू और दादा दोनों बिलकुल चुप थे। कोई कुछ नहीं कह सका। लेकिन लक्षणा गम्भीर होकर बोली––"इन सब बातों का मुझे बिलकुल ज्ञान न था। ज्ञान होता तो मैं आपको कभी न रोकती। खैर, अब आप दूध पीकर सो जाइए। सबेरे जल्दी ही आपको ताँगा जुतवा दिया जायगा।"

"लेकिन थोड़ा समय आपको अम्मा और दादी को तो देना ही पड़ेगा। उन्होंने अभी-अभी मुझसे कहा भी था।" बिस्सू ने कुरसी से उठते हुए कह दिया।

तब दिलीप के मुँह से निकल गया––"मेरे लायक जो भी सेवा हो, अभी मुझसे ले लीजिये, पर कृपा करके कल के लिए कोई काम न रख छोड़िये।"

दादा बटुआ खोलकर उसमें से तम्बाकू निकाल रहे थे। बटुए को बन्द करके तम्बाकू को हथेली पर मसलते हुए बोल उठे––"ठीक तो है। जब तक दवा आती है, तब तक यह मिलना-जुलना भी पूरा कर डालो विस्सू! क्योंकि फिर सबेरे अँधेरे मुँह ही दिलीप चला जायगा। तब उस समय देर करने से उसका सारा प्रोग्राम गड़बड़ हो जायगा···।"

दादा की बात समाप्त भी न हो पाई थी कि लक्षणा चुपचाप वहाँ से चल दी। विस्सू भी चुपचाप अन्दर चला गया।

दादा मसले हुए तम्बाकू में चूना मिलाकर उसे हथेली पर उड़ा रहे थे। उसके प्रभाव से अनायास दिलीप को दो बार छींक-पर-छींक आ गईं। तब समाधान के-से स्वर में वे बोल उठे––"बस, अब तुम्हारी सारी व्याधि दूर हो गई दिलीप!" और दो चुटकी तम्बाकू को उन्होंने नीचे वाले होंठ के भीतर जमा लिया। फिर लोटा उठाकर दक्षिण की ओर बढ़ते हुए एक लाठी उठा ली और बोले––"मैं अभी आया!"

दस मिनट बाद विस्सू ने आकर कहा––"चलो!" तब दिलीप झट उठकर उसके पीछे हो लिया।

दरवाज़े के अन्दर प्रवेश करते ही एक कमरा दाहिनी ओर पड़ता है। उसमें एक पलँग, दो कुरसियाँ तथा एक छोटी टेबिल रखी थी। बिस्सू ने संकेत करते ही कहा—"बैठिये !" और तुरन्त ही उसने पंखा पहली गति पर खोल दिया।

दिलीप बैठा ही था कि दो स्त्रियाँ उसके पास आ गई। उनमें से एक दादी थीं, दादा जी की सगी भाभी और दूसरी बिस्सू की माँ। उठकर दिलीप ने दोनों की चरण-धूलि मस्तक से लगा ली। फलतः दादी ने उसका हाथ चूम लिया। फिर उनका दाहिना हाथ दिलीप को सिर से लेकर पीठ तक सहलाने लगा। और पोपले मुँह से निकला उनका यह पवित्र आशीष कि 'सुखी रहो बच्चा' दिलीप के मन-प्राण पर मुद्रित हो उठा। तभी बिस्सू की माँ ने भी कह दिया—"भगवान् करे, हजार वर्ष की उमर हो।"

आशीर्वाद की भाषा का अर्थ हृदयंगम करके दिलीप यकायक हँस पड़ा। बोला—"दादी, सत्तर-अस्सी की उमर में तो तुम्हारा ऐसा हाल हो जाता है ! कहने की ज़रूरत नहीं, प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। तब मौसी के कथनानुसार जो कहीं हज़ार वर्ष जीना पड़ा, तब न जाने क्या गति होगी।"

दादी हँस पड़ी। और मौसी बिहँसती हुई बोलीं—"वाह ! सो कैसे ? जब उमर इतनी अधिक बढ़ सकती है तब बचपन, बालापन, तरुणाई और ढलती उमरों की मियाद भी तो बढ़ सकती है ! क्यों, है न बड़ी अम्मा !"

दादी सिर हिलाती हुई हँसने लगीं। बोलीं—"सो तो है ही। हज़ार बरस की जब उमर होगी, तब बच्चा दस बरस तक तो घुँटुवन ही चलेगा। बीस बरस तक तोतली बोली बोलेगा। पचास बरस की उम्र तक घर और पास-पड़ोस में ऊधम मचायगा। माँ के आगे ज़िद करेगा, भाई-बहनों में झगड़ेगा, संगी-साथियों पर हाथ साफ़ करेगा और अन्त में चुपचाप दादी की गोद में आकर सो जायगा। उसके बाद उलहने आया करें, उसकी बला से !"

दिलीप के सोये स्वप्नों के कोमल पंखों पर जैसे कोई पवन का मन्द

झकोरा डाल रहा हो ! इतनी मीठी बात आज तक जैसे उसने सुनी ही न थी। बल्कि उसने कभी सोचा भी न था कि बात में भी इतनी मिठास कभी उत्पन्न हो सकती है। तभी झट बोल उठा—"वाह दादी ! तुम तो स्वर्ग को भी कल्पना पर उतार लेती हो !"

दादी बोलीं—"बिलकुल मुरारी की ही तरह हँसता-बोलता है। वैसी ही बनक है, वैसा ही शील-स्वभाव।"

और मौसी दो अंगुल वाले उस छोटे-से घूंघट को ऊपर खिसकाती हुई कहने लगीं—"मैं जब ब्याह में आई थी, तब मुरारी को बिलकुल इसी रूप में देखा था मैंने। फरक सिर्फ़ इतना है कि सरकारी नौकर होने के कारण वे खादी नहीं पहनते थे !"

"आज तबियत कैसे ख़राब हो गई बच्चा ?" दादी ने पूछा। फिर आप ही कहने लगीं—"बिस्सू कहता था, न ज्योतिस्वरूप तुम्हें पहचान पाये, न लक्षणा। जब घर के बिलकुल पास आ गए, तब कहीं सारा भेद खुला !"

"हाँ दादी," दिलीप सिर खुजलाता हुआ बोल उठा—"लेकिन भेद जो खुल गया, बस यहीं पर भाग्य ने जरा गड़बड़ कर दी। क्योंकि परिचय के बिना होने वाली ख़ातिरदारी में जो मिठास होती है, वह परिचय हो जाने पर दुर्लभ हो जाती है !"

इस बार दिलीप की बात सुनकर मौसी सशंकित हो उठीं। बोलीं—"तबियत ख़राब है बेटा तुम्हारी, इसलिए जो चाहो सो कह लो। डॉक्टर मिश्रा आकर देख भर जायँ, उसके बाद तो फिर······।"

"अरे तुम समझी नहीं बहू ! लक्षणा ने कहीं इसे तंग न किया हो ! इतनी ढीठ हो गई है कि मौक़ा पड़ने पर छोड़ तो सकती ही नहीं किसी को। फिर चाहे वह चन्द्रलोक का राजा ही क्यों न हो !" दादी ने कहते-कहते दिलीप के सिर पर हाथ रखकर पूछा—"क्यों बच्चा, लक्षणा ने तुमसे ठठोली तो नहीं की ?"

"यह मैं कुछ नहीं जानता दादी," दिलीप पलंग पर तकियों के

सहारे बैठा था। अचानक उसे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उस कमरे के दरवाजे पर जो चिक पड़ी हुई है, उसके निकट कोई छाया खड़ी है। तभी न कहते-कहते हुए भी उसने इतना तो कह ही दिया कि "मान लो, की ही हो, तो ?"

दादी बोलीं—"देखो वही बात आई न, जिससे मैं डर रही थी।"

"तो क्या हुआ ? मेरी जीजी भी तो ऐसी ही थीं, उनकी बातों का भी मुरारी बाबू कभी बुरा नहीं मानते थे।" मौसी ने परिस्थिति सँभालने की चेष्टा करते हुए कह दिया।

दादी मुरारी बाबू की सारी बातें पुनः दोहराने लगीं। बोलीं—"मुझे मुरारी की एक-एक बात अब तक याद है। बच्चा को भी वह कभी-कभी संग ले आया करता था।"

"जब जीजी साथ आती थीं, तब।" मौसी कहने लगीं, तो दादी ने टोक दिया। बोलीं—"हाँ, सो कैसे ? जब तक यह छुटपन चलता रहा, बस तभी तक बहू की यह रोक-टोक चल पाई कि बाहर मत ले जाओ। परन्तु फिर जब यह दौड़ने लायक हुआ, तब तो वे हमेशा साथ रखने लगे थे। बल्कि मुझे याद आ रहा है, उसने एक बार कहा था कि माँग-माँगकर, मचल-मचलकर, खीर खाना तो इसने इसी घर में सीखा है अम्मा !"

"कौन जाने, कौन माँगता था, कौन मचलता था और कौन खीर उड़ाता था।" दिलीप बोला—"अब तो हालत यह है कि अच्छा-भला होने पर भी डॉक्टर को बुला-बुलाकर खाने-पीने के सारे द्वार ही बन्द कर दिए जाते हैं!" तो उसकी इस बात को सुनकर सब लोग एक-साथ हँस पड़े।

क्षण-भर बाद—

मौसी ने पूछा—"और कहो, जीजी तो अच्छी तरह हैं ?

"अच्छी तरह क्या हैं, एक तरह से दिन काट रही हैं। दो दिन ठीक रहती हैं, तो चार दिन चारपाई सेवन करती हैं। सिर का दर्द तो उन्हें बना ही रहता है।"

"दवा नहीं करते। तुम तो खुद डॉक्टर हो।"

"डॉक्टर हो कहाँ पाया, चाचाजी की कृपा से इस साल पढ़ाई छूट जो गई।"

बिस्सू अब तक चुपचाप सब बातें सुनता जा रहा था। अब वह भी चुप न रह सका।

बोला—"अगर ऐसी बात है, तो हमें बाबा से पूछकर इसका कोई प्रबन्ध करना ही होगा, क्यों दादी?"

यकायक दादी की भौंहें तन गईं और क्रोध के मारे उनका मुँह तमतमा उठा। बोलीं—"इसमें पूछने की क्या बात है! कोई न दे, तो मैं खर्चा दूँगी। बुलाओ उसको, मैं अभी उससे कहती हूँ कि गिरधारी ने यह क्या अन्धेर मचा रखा है! बटवारा दायर करवा दूँगी, तो लाला जी को आटा-दाल का भाव अभी मालूम पड़ जायगा!"

दिलीप के मन में भी यह बात कभी-कभी उठा करती थी। पर एक तो सहायता का कोई आधार उसके सामने नहीं था; दूसरे लड़ाई-झगड़े से उसकी आत्मा कुछ डरती भी थी। और कुछ यह बात भी थी कि बारम्बार घुमा-फिराकर एक ही बात उसका सारा विद्रोह ठंढा कर देती थी। प्रायः वह सोचने लगता था कि अगर मुझे सुख ही बदा होता, तो पिताजी का देहान्त ही क्यों होता!

पर इस समय यही विश्वास उसे अवलम्ब दे रहा था। जब से नाव पर उसने लक्षणा को देखा था, तब से अनेक बार उसके मन में आया था—भगवान् की करुणा की कोर कम्पित हुए बिना ऐसा कभी हो नहीं सकता। संसार की प्रत्येक गति में उसका एक निश्चित मन्तव्य रहता है। और यह कौन कह सकता है कि इन लोगों के द्वारा मेरा कोई हित-साधन सम्भव नहीं है?

इतने में मौसी बोलीं—"तुम्हारी तबियत आज ठीक नहीं है। इसलिए अब तुम आराम करो बेटा, घबराने की जरूरत नहीं है। जैसा कुछ तै होगा, वैसा हम तुमको सूचित करेंगे।"

इसी क्षण दादी और मौसी दोनों वहाँ से चल दीं। दादा आ पहुँचे

और तब बिस्सू पीछे हो लिया। आगे बढ़कर दादी ने ज्यों ही दहलीज के ऊपर पैर रखा, त्यों ही बिस्सू से कह दिया—"बाबा से कहो, खाना खा लें। और देखो, दिलीप के खाने को अगर डॉक्टर राय न दें, तो उसे दूध ही पिलाओ जितना वह पी सके। जाओ, देर मत करो।"

दिलीप के कान में भी इस कथन की उड़ती हुई ध्वनि जा पड़ी, तो वह सोचने लगा—'पिता जी चले गए, लेकिन उनके आत्मीयता के नाते, व्यवहार और सम्बन्ध अब तक जीवित हैं। सच है, कर्म ही जीवन है। मनुष्य मर जाता है, पर उसके कर्म उसे जीवित रखते हैं।'

: ७ :

उस दिन दिलीप अपने ऊपरवाले एकान्त कक्ष में लेट तो गया, किन्तु तन के सिवा उसका मन भी तब तक कराह रहा था। प्राणों में शूल उठने वाली व्यथा हो रही थी। तिस पर माँ के सिवा कोई यह भी पूछनेवाला न था कि मौसमपुर में किस तरह रहे; वहाँ तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं हुआ। हाँ, जीवन में पहली बार एक व्यक्ति ने उसकी अन्तरात्मा को स्पर्श करने की चेष्टा की। और जब से वह घर लौटा है, तब से रह-रह कर उसे उसी दृश्य की याद आ जाती है।

डॉक्टर साहब की दवा ने ठीक वक्त पर अपना काम कर दिया था और उसका फल यह हुआ कि पाँच बजे उसकी आँख खुल गई। बिस्सू उसके पास ही सोया था। अतः उठते ही उसने बिस्सू को जगाते हुए कह दिया—"अब मैं जाना चाहता हूँ।"

बिस्सू के उठने में देर न लगी और तत्काल उसने उत्तर दिया—"अभी मैं सब प्रबन्ध किये देता हूँ। चलिये, पहले शौच हो आइए।" और वह उसके साथ हो लिया।

मकान का भीतरी चौक जहाँ से प्रारम्भ होता था उसी दीवाल के

A fine book so far.

अन्त में दक्षिण की ओर एक ज़ीना लगा था। यह ज़ीना केवल बाहरी आदमी को शौचगृह की ओर ले जाता था। स्नान के लिए भी वहाँ अलग से कक्ष बना हुआ था। उससे ठीक विपरीत नीचे आँगन से लगा एक कमरा खाली पड़ा था। उसमें भी एक चारपाई, दो कुर्सियाँ और एक टेबिल रखी थी। और सामने एक कलेंडर टँगा था, जिसमें हँसती हुई मुद्रा में बापू का चित्र था। प्रायः जब कोई अतिथि आ जाता, तो यहीं बैठकर उसे जल-पान कराया जाता था। अतः थोड़ी देर बाद उसी स्थान पर बिस्सू ने दिलीप को भी बैठाते हुए कह दिया—"मैं अभी आया। ज़रा कोचवान से कह आऊँ कि वह झट से ताँगा जोत ले।"

बिस्सू ने अभी पीठ ही फेरी होगी कि हल्की हरी रोशनी वाले उस कमरे के द्वार पर दिलीप को एक चलती-फिरती छाया-सी जान पड़ी। पहले तो उसके मन में आया कि वर्षा के दिन हैं, कोई आँगन के किनारे-किनारे इधर-से-उधर जा रहा होगा। परन्तु फिर उसे मालूम हुआ कि नहीं, वह छाया अन्यत्र न जाकर द्वार के किवाड़ों के बिलकुल पास आकर स्थिर हो गई है। इसी क्षण उसकी कुंडी में शब्द हुआ। तब एक साथ नाना प्रकार की शंकाएँ और सम्भावनाएँ दिलीप के मन-प्राण पर मुखरित हो उठीं। किन्तु फिर भी दिलीप सिर झुकाये वहाँ पूर्ववत् स्थिर रहा।

इसी समय यकायक किवाड़ खुले और लक्षणा एक ट्रे में चाय और दो प्लेट्स में नमकीन मेवा तथा बिस्किट् लेकर उसके सामने आ पहुँची।

दिलीप ने कभी सोचा न था कि ऐसा भी संयोग आ सकता है। उसने कभी इस अवसर की कल्पना भी न की थी। अतः बात-की-बात में उसका मन आन्दोलित हो उठा। ऐसे समय क्या कहकर बात प्रारम्भ की जाती है, यही उसकी समझ में नहीं आ रहा था। तब अन्य उपाय न देख उसने कह दिया—"ऐसे समय—इतने सबेरे केवल मेरे लिए उठकर तुमने बड़ा कष्ट किया लक्षणा!"

सकुचाती हुई सिर नीचा किये लक्षणा कप में चाय ढाल रही थी। नयन उसके अपनी बात होंठों से कहना चाहते थे। तभी वह यकायक

बिम्बाधर खोलती हुई बोली—"ऐसा कष्ट जीवन में कब-कब मिलता है ! फिर जैसे सेवा-पथ पर चलने का जीवन आपन स्वीकार किया है, उसको देखते हुए इस कष्ट का मूल्य ही क्या है !"

"यह तुम कह रही हो लक्षणा !" दिलीप के प्रश्न में मूल था आश्चर्य और ब्याज था उल्लास।

"क्यों, मेरे कहने पर तुमको आश्चर्य क्यों हो रहा है ?"

प्रश्न के साथ दिलीप ने लक्ष्य किया, चाय में चीनी घोली जा रही है !

"आश्चर्य का संयोग और वियोग, आह्लाद और पीड़ा के साथ एक-सा सम्बन्ध है लक्षणा। लेकिन मैंने इस समय केवल जानकारी के विचार से पूछा था। क्योंकि हमारे देश में ऐसे लोगों की ही प्रधानता है जो सेवा-पथ पर चलनेवालों का मान करना अभी सीख नहीं पाये।" फिर वह मन-ही-मन कहने लगा—"लो, यह बात भी समाप्त हुई। अब दूसरी क्या प्रारम्भ की जाय ?" पर उसी समय लक्षणा ने प्लेट सहित कप उठाकर उसके सामने रख दिया। तब एक बार कनखियों से द्वार की ओर देखता हुआ दिलीप बोला—"काश ! इसमें एक कप और भी होता !"

"आप तो भगवान् की कृपा पर पूर्ण विश्वास रखनेवालों में हैं।" लक्षणा के मुँह से सहसा निकल गया। उसकी हार्दिकता आशा बनकर मुखरित हो उठी।

"निस्सन्देह।" कथन के साथ दिलीप इस बार लक्षणा की ओर देखता रह गया। कप तब भी ज्यों-का-त्यों रखा रहा।

"तब यदि भूल से भी मुझसे कोई धृष्टता हो गई हो, तो उसे क्षमा कर दीजियेगा।"........और फिर थोड़ा रुककर यकायक कह उठी—"पीजिये पीजिये। शायद भैया आ रहे हैं।" और लक्षणा का इतना कहना था कि सचमुच बिस्सू आ पहुँचा। किंतु लक्षणा को भागता हुआ देख-कर वह बोला—"अरे ! भागने की इसमें क्या बात है ? . . क्या बताऊँ, इन लोगों को चाहे कितना पढ़ाओ, लिखाओ; पर अवसर पर सब बेकार हो जाता है!" फिर दिलीप की ओर देखता हुआ कहने लगा—"अरे ! आपने यह

नमकीन मेवा तो छुआ भी नहीं !" और काजू का एक दाना स्वयं भी उसने मुँह में डाल लिया ।

दिलीप ने अपने जेब से एक नोटबुक निकाली और क्रम-क्रम से अस्पताल में पड़े रोगियों के नामों तथा उसके सामने लिखे विवरणों को सतर्कता के साथ देखना प्रारम्भ किया। ऐसे समय उसे फिर सौ बिच्छुओं के डंक मारने की-सी पीड़ा होने लगी। "चाचा जी ने यदि मेरी पढ़ाई बन्द न कर दी होती, तो आज यही कार्य मेरा सहकारी करता।" सोचते हुए उसने अपना मस्तक हाथ पर टेक लिया।

परन्तु फिर इसी समय उसे बापू के इस कथन का स्मरण हो आया— "विपत्तियाँ भोगना और कर्त्तव्य पर दृढ़ रहना ही सच्ची साधना है।" और फिर उनका यह कथन भी उसकी चेतना पर उतर आया—"मुझे पल-पल पर सावधान रहने की आवश्यकता दिखाई देती है।"

आज कई दिन के बाद दिलीप अपने घर लौटा था। बड़ी चाची उस समय कुशासन पर बैठी गीता-पाठ कर रही थीं। उनके भाल पर चन्दन का टीका सुशोभित था। सामने भगवान् की मूर्त्तियाँ थीं, जिस पर गुलाब के दल बिखरे हुए थे। भूमि पर कुछ अक्षत पड़े थे और एक छोटी-सी चुहिया उसका एक दाना बहुत इतमीनान से कुतर रही थी। गिरधारी की बड़ी लड़की शारदा रसोईघर में बैठी बिगड़ रही थी—"महराजिन, तुम अगर वक्त पर खाना नहीं तैयार कर सकतीं, तो फिर तुम हो किस मरज़ की दवा ! मुझे अगर देर हो गई और मेरी गाड़ी हार्न देकर चली गई तो याद रखना मैं तुम्हें कान पकड़कर बाहर निकाल दूँगी।" सिलाई की मशीन-सी चलने वाली उसकी ज़बान इतनी तेज़ चल रही थी कि महराजिन सुनकर सन्न हो उठी थीं और दो सीढ़ी छोटी विमला पैर पटक रही थी—"रोज़-रोज़ अरहर की दाल—अरहर की दाल ! हमेशा एक ही-सा खाना वैसा ही है जैसा भूसा खाना ! इसी बात पर मैं आज खाना नहीं खाऊँगी ! माता जी—माता जी !" और उसकी आवाज़ मकान भर में गूँज रही थी !

लेकिन गिरधारी लाला के पूरी पाँच लड़कियाँ थीं, सरला मैट्रिक के बाद पढ़ना छोड़ चुकी थी, वह इस समय अपने कमरे में बैठी एक कहानी की पत्रिका पढ़ने में लीन थी। उसकी कहानी का नायक अपनी नौकरी पर जा रहा था, पर घर से निकलने में देर हो जाने के कारण स्टेशन पर पहुँचते ही उसकी गाड़ी छूट गई थी। और वह यही नहीं तै कर पा रहा था कि अब मुझे घर लौट जाना चाहिए, या छै घंटे बाद आने वाली दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा में यहीं वेटिंग-रूम में बिस्तर जमा देना चाहिए। लाला गिरधारी की धर्म-पत्नी, जो स्थूलता में अत्यधिक प्रगतिशील थीं, दरवाज़े पर खड़ी हुई, उसे पुकार रही थीं। उनकी गोद में एक आठ महीने की बच्ची थी। उसे पलने पर झुलाने के लिए उन्हें सरला की ज़रूरत थी। मगर सरला का ध्यान कहानी में अटका था। पुकार के उत्तर में वह एक बार कह चुकी थी कि आती हूँ; पर मनःस्थिति इसके प्रतिकूल थी। क्योंकि कहानी का नायक बीच के समय को वेटिंग-रूम में पड़े रहने की अपेक्षा, घर लौटकर अपनी नव-विवाहिता पत्नी के साथ बिताने की ओर अधिक उन्मुख हो रहा था। उधर सरला की नादान अबोध बहन बच्ची निर्मला ने रोना शुरू कर दिया था और उसका फल यह हुआ था कि छोटी चाची ने ताव में आकर सरला के दो चाँटे जमा दिये थे और पत्रिका नीचे फेंक दी थी, जो अब नाली में गिरकर बह रही थी !

परन्तु गिरधारी बाबू के अभी दो लड़कियाँ और थीं। एक थी कमला। वह बेचारी बीमार थी। उसको टाइफ़ॉइड हो गया था। दिलीप की माँ उसी के पास बैठी पंखा झल रही थीं, क्योंकि बिजली के पंखे का रेगुलेटर खराब हो गया था; इस कारण वह बहुत तेज़ चलता था और डॉक्टर का कहना था कि इतनी तेज़ हवा इस लड़की की सेहत को नुक़सान पहुँचा सकती है।····सबसे छोटी निर्मला केवल डेढ़ साल की थी।

छोटी चाची सरला के कान खड़े करके स्नानागार जा पहुँची। और वहाँ पहुँचने पर जब उन्होंने देखा कि नहाने वाले साबुन की टिकिया ही समाप्त हो गई, तो वे झुँझला उठीं—"सब हरामखोर हैं; सब अंधे

हैं। किसी को यह नहीं सूझा कि जब साबुन खत्म हो गया, तो माँगकर यहाँ रखवा तो देता।

इतने में मेहतरानी ने आवाज़ लगाई—"मालकिन, पानी !" और छोटी चाची को यह बात और खल गई। घर में इतने आदमी हैं, पर टट्टी धुलाने के लिए सिर्फ़ मैं हूँ। नाम लेकर तो वे कुछ कह न सकती थीं। इसलिए बोल उठीं—"टट्टी की सफ़ाई के लिए तुझे इसी वक्त मरना आता है, जब मेरे नहाने की बारी आती है।"

पर मेहतरानी को इस तरह की बात सुनना सहन नहीं। उसने वे दिन भी देखे हैं, जब हड़ताल हो जाने पर शहर के नेताओं को सड़कों की सफ़ाई के लिए स्वयं आगे आना पड़ा था। अतः वह बोली—"देखो मालकिन, मैं तुम्हारे टुकड़ों पर पलनेवाली नौकरानी नहीं हूँ, जिसे रात-दिन तुम्हारी गालियाँ बरदाश्त होंगी। यह मरने-गलने की बात मुझे पसन्द नहीं है। मुहल्ले में एक तुम्हीं नहीं हो। मुझे सैकड़ों घर देखने पड़ते हैं। इसलिए एक बार कान खोलकर फिर सुन लीजिये, मैं जिस वक्त पहुँचती हूँ, वही मेरे आने का वक्त होता है !"

तब तक सोनी सामने आ गई और साबुन की टिक्की लाती हुई बोली—"आप नहाती क्यों नहीं चाची ! टट्टी मैं धुलवाये देती हूँ। इतना कहकर वह मेहतरानी से बोली—"क्यों जमादारिन, मालकिन के मुँह लगने में तुमको लाज भी नहीं आती !"

"पानी डालो पानी, जिसके लिए भागती हुई आई हो !" तपाक से मेहतरानी बोली—"और लाज का सबक़ घर में अपने 'उनको' पढ़ाया करो, सेठों की जूतियों पर पालिश करते-करते जिनके बाल पक गए हैं !"

इसी समय आ गए डॉक्टर कौशल। उन्हें कमला को देखना था। दरवाज़े पर कार खड़ी होते ही दिलीप अपने रोगियों की सूची देखने का काम छोड़कर कमला के पास चल दिया। रास्ते में फिर वही वृश्चिकदंशन: "मेरी भी यही हैसियत होती, अगर चाचाजी······!"

और गिरधारी लाला डॉक्टर साहब के पीछे-पीछे आते हुए कह रहे

थे—"बरखुरदार आज पाँचवें दिन मौसमपुर का क़िला फ़तह करके लौटे हैं! ज़रा बुलाकर इतना तो पूछ ही लीजिये कि कुछ पल्ले भी पड़ा है, या सिर्फ़ हाथ झुलाते हुए इधर भूल पड़े हैं!"

"कोई कुछ कहे, मुझे परवाह नहीं है।" दिलीप उदास मन लिये कमला के पास से लौटता हुआ सोच रहा था—'महल बनवाना या मिल-ओनर बनना मेरे जीवन का लक्ष्य ही नहीं है!'

अभी-अभी उसके कानों में जो शब्द गूँज रहे थे, वे इस परिवार में उसके अनायास आगमन पर स्वागत और हर्ष की कैसी मनोहर ध्वनियाँ प्रकट कर रहे थे! छोटी चाची ने कालीचरण से कहा था—"भगवान् ऐसी निठल्ली और मनहूस संतान किसी को न दे। आते-ही-आते घर की चीज़ें मिट्टी में मिलने लगीं!"

और इस बात का सिलसिला शायद यह था कि दिलीप को ओवलटीन के साथ शीशे के गिलास में दूध पीना था। पर न जाने कैसे दूध से भरा गिलास कालीचरण के हाथ से छूट गया। दूध बह चला और गिलास के टुकड़े-टुकड़े हो गए।

इस बात की भनक पाकर चौंक उठी सोनी। सहसा उसके मुँह से निकल गया—"हाय भैया के लिए तुम यह सब क्या कह बैठीं छोटी चाची। आज अगर मुंसिफ़ साहब होते·······!"

सोनी तब तक इतना ही कह पाई थी कि छोटीचाची की भौंहें तन गईं। होंठ चबाती हुई वे बोलीं—"वकालत करने के लिए शहर में बहुत बड़ी कचहरी पड़ी है, चली क्यों नहीं जाती वहाँ? अच्छी फ़ीस मिला करेगी। हरामखोर कहीं की! कहती हूँ—सीधी तरह इस घर में रहना हो तो रह, नहीं तो अच्छा न होगा। कल ही मैं तेरा हिसाब साफ़ करवा दूँगी। समझ गयी कि नहीं?"

और सोनी काम करने में मुहल्ले-भर में प्रसिद्ध थी। उसका हाथ कभी खाली नहीं रहता था, उसका सिर दर्द करता, ज़ुकाम हो जाता, उसकी रग-रग कसकती रहती, मगर नाग़ा करना तो वह जानती ही न थी।

उसके बायें पैर में वात-व्याधि थी। एक लड़का पाँच साल का, जो उसके साथ रहता था, वह भी उसकी अपनी कोख का नहीं, उस सौत का था, जो मर चुकी थी! इसलिए उसका जीवन भी एक तरह से दुखिया ही था, यद्यपि इस दुःख को वह भूली रहती थी; क्योंकि वह प्रत्यक्ष देखती थी कि इस संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो मुझसे भी अधिक दुखी हैं। इसलिए सोनी भूखी सो सकती थी, पर अपमान उससे सहन न होता था।

फलतः उसे अपना मुँह खोलना ही पड़ा। वह बोली—"अच्छी तरह समझ गई चाची जी! पर हिसाब करने की बात कल पर टालने में कोई मज़ा नहीं है। आज ही करवा दीजिये तो ज़्यादा अच्छा होगा।" और इसके बाद फिर वह कुछ न बोली। उसका मुख तमतमा उठा था, उसका हृदय जल रहा था; फिर भी जो कुछ उसने कह दिया था, उतना ही वह सोचती थी, यथेष्ट है।

बड़ी चाची की पूजा समाप्त हो चुकी, तो आचमनी से एक बूंद गंगा-जल कंठ में डालकर वे चुपचाप उठीं और बोलीं—"ए सोनी!"

"आई बड़ी चाची" सोनी ने उसी स्थान से उत्तर दिया, जहां आँगन में एक ओर बैठी-बैठी वह घुइयाँ छील रही थी। वह उठी और उसने पहले हाथ धोये, फिर वह बड़ी चाची के पास जा पहुँची।

"मैं छोटी जीजी को समझा दूँगी; पर तू मेरे जीते जी इस घर से जाने न पायेगी सोनी! समझी। और इधर देख, बड़ों की बातें तो सिर्फ़ सुनने की होती हैं, उनका कहीं बुरा माना जाता है! हँसी-खुशी से काम कर!"

सोनी की आँखों में आँसू छलछला आये। बोली—"कड़ी बात मैं उनकी भी नहीं सहती चाची, जिनकी ये चूड़ियाँ पहनती हूँ। लेकिन तुम्हारा हुक्म···।" और वह सिसक-सिसककर रो पड़ी!

शारदा की गाड़ी हॉर्न दे रही थी। वह पुस्तकें दबाती हुई झट से उठी और चल दी। पर चलती हुई वह यह भी कहती जा रही थी—"मैं किसी की नाराज़गी की परवाह नहीं करती। सोनी अगर चली गई,तो ईश्वर ही जाने

हम लोगों का काम कैसे चलेगा !"

विमला झट से उठी—"ओ सोनी मौसी, यह रोना-धोना मुझे अच्छा नहीं लगता तुम्हारा ! स्कूल से लौटने पर अगर मैंने देखा कि तुम रूठ-राठ-कर चली गई हो, तो मैं संखिया घोल-पीकर सो रहूँगी। और एक परचे में दारोग़ा के लिए लिख जाऊँगी कि सोनी ने खिला दी थी ! अच्छा, बोलो, जाओगी तो नहीं ? और देखो, मेरी वह साड़ी खूब साफ़ मिले जब मैं लौटूँ, और कलफ़ भी उसमें चढ़ेगा थोड़ा-थोड़ा। समझी !"

दिलीप इस समस्त अभिनय को ऊपर से झाँक-झाँककर देखा करता। उसके कान बड़े नाज़ुक थे। मन्द-से-मन्द स्वरों को ग्रहण करने में बड़े तत्पर और कुशल। काली जब दूध का दूसरा गिलास लेकर उसके पास आया तो बोला—"अरे छोटे सरकार, न तो तुमने पलँग पर बिस्तर ही बिछवाया, न पैंट ही उतारा। उठिये, उठिये, दूध पीजिये। मैंने महराजिन को सहेज दिया है कि मखाने की खीर बहुत चोखी बनानी होगी। भैया जी को कल उपवास हो गया था; सो रोटी नहीं खायँगे।"

स्नेह कह लो, चाहे प्रेम—भक्ति कह लो चाहे श्रद्धा, विजय उसकी सदा होती है। दिलीप कितना उदास बैठा था ! किंतु कालीचरन की इस एक बात का यह प्रभाव पड़ा कि उसके मुख पर मुसकराहट दौड़ गई। प्रश्न-सूचक ढंग से उसने कालीचरन से पूछा—"पहले यह बतलाओ कि चाय लाये हो, या और कुछ ?"

"बस छोटे सरकार, आपकी यही ज़िद्द गड़बड़ है।" कालीचरन ढिठाई दिखलाता हुआ कहने लगा—"क्या होता है काढ़े-जैसी शक्ल वाली इस कलमुँही चाय से ? अधौटा दूध जमाया करें तो चेहरे पर कुछ रौनक़ भी जान पड़े। चार दिन बाहर क्या रहे, सूखकर लपट के मारे टपका हुँ आये।"

कुछ गम्भीर होकर दिलीप बोला—"खैर, तुम जो ले आये सो ठीक है। लेकिन देखो कालीचरन, बिना समझे-बूझे बात करने में कभी बड़ाई नहीं मिलती—हँसाई अलबत्ता मिलती है। रबड़ी, मलाई, चाभने वालों की कमी नहीं है, इस शहर में। मगर कोई एक आदमी बता सकते हो,

जो दूसरा गणेशजी हो। दूध-घी में लाख गुण हों, पर वे सब मिलकर भी चाय नहीं बन सकते। जैसे करोड़ों रुपये जोड़ लेने पर भी कुछ आदमी जीवन भर कंगाल ही बने रहते हैं।"

अब कालीचरन ने दिलीप के पैर थाम लिये। बोला—"छोटे सरकार, बहस में भला तुमको कभी कोई जीत भी पाया है! मुंसिफ़ साहब कहा करते थे, छोटे भैया ने डॉक्टरी लाइन में न डाल दिया होता तो दिलीप बड़ा नामी वकील होता।"

"अच्छा-अच्छा अब जो निकलता हूँ सो देखना। लाओ दूध ही सही, मुझे इस वक्त कुछ कमज़ोरी सी जान पड़ती है।"

इसी क्षण कालीचरन ने ढके हुए गिलास के ऊपर से प्लेट जो उठा लिया, तो ओवलटीन मिला देखकर उसकी बाछें खिल गईं। बोला—"वाह।" और तब वह दूध चढ़ाने लगा। कालीचरन दुबका हुआ चुपचाप खड़ा रहा।

गिलास खाली करके जब दिलीप कालीचरन को देने लगा तो अनायास उसके मुँह से निकल पड़ा—"पीने को पी गया, पर अच्छा नहीं लगा कुछ"।

कालीचरन कुछ-कुछ संदेह और कुछ-कुछ आश्चर्य के मिश्रित भाव से बोला—"तबियत ठीक नहीं, इसलिए।"

"नहीं कालीचरन, तुम नहीं जानते, मैं इन दिनों कहाँ रहा?" दिलीप ने जब कहा, तब कालीचरन और भी अधिक आश्चर्य में पड़ गया। बोला—"जेहल देखने तो नहीं गये सरकार, जहाँ सुनते हैं आदमी भेड़-बकरी की तरह चराये जाते हैं!"

"बको मत कालीचरन; जो कहता हूँ उसे सुनो।"

"मगर आप बतलाते ही नहीं, तो का करें!"

"अच्छा सुनो। मैं उस हॉस्पिटल से आ रहा हूँ, जहाँ एक नदी में ऐसी बाढ़ आ गई कि गाँव-के-गाँव बह गए, झोपड़ियाँ और कच्चे घर सदा के लिए नष्ट हो गए। जानवर, आदमी, अनाज, कपड़े, सारा सामान

बहुत-कुछ तो बह गया, जो बचा सो,सड़ गया,नष्ट हो गया,कुछ हाथ न लगा। फिर जहाँ उन बाढ़-पीड़ितों को ठहराया गया, वहाँ जब कई दिनों के बाद उन्हें अच्छा पेट-भर खाना मिला, तो वे सब-के-सब बीमार पड़ गए ! और अब उनकी दशा यह है कि दवा के अभाव में वे पड़े-पड़े कराह रहे होंगे और मैं यहाँ बैठा कुछ दूध पीकर—और कुछ फैलाकर—तुम्हारे साथ बैठा बातें मार रहा हूँ !"

दूध फैल जाने और गिलास टूट जाने पर कालीचरन यों ही बहुत दुखी था; पर अब तो और भी लज्जित हो उठा। झट-पट गिलास और प्लेट लेकर उसने चाहा कि भाग खड़ा हो; पर तभी दिलीप ने पूछा—"भोजन तो मुझे करना नहीं है। फिर भी जानना चाहता हूँ, साग क्या बना है ?'

कालीचरन कोई उत्तर नहीं दे रहा था। तब दिलीप ने सोचा—'हो न हो, इसमें भी कोई राज़ है।' फलतः उसकी उत्सुकता की मात्रा और बढ़ गई। अब उसने कह दिया—"बतलाओ, कालीचरन ! चुप क्यों हो रहे ?"

कालीचरन ने दृष्टि नीची करते हुए कह दिया—"कई तरह के साग लाया हूँ।"

"लेकिन चाचाजी तो कहते हैं—मैंने सभी खर्चे तोड़ रखे हैं। फिर यह इतना साग क्यों आता है ? और आता है, तो पता नहीं वह बनता कब है ? क्योंकि मेरे सामने तो वह कभी आ नहीं पाता !"

कालीचरन पहले तो सिटपिटा गया। फिर अपनी धोती को घुटनों पर ठीक करता सकुचाता हुआ बोला—"घर बिगड़ रहा है सरकार ! मुंसिफ़ साहब के बाद से घर की मान-मरजादा, इज़्ज़त और बरक्कत ही सब माटी में मिल गई है !"

तब एक हुंकार के साथ दिलीप के मुँह निकल गया—"हूँ !"

कालीचरन जाने लगा, तो दिलीप ने कह दिया—"मुझे सब पता है कालीचरन ! जुहीवाले दादा भी आए थे, गोपी लोध को लेकर। पाँच

बीघा वाला खेत उन्होंने चौदह सौ रुपये पर उसको उठा दिया है। आखिर ये रुपये कहाँ गये, जो चाचीजी कहती हैं कि घर का खर्च तक नहीं चल रहा है ! कहने को गहने वन्धक रखे गए हैं, जब कि उन्हें बैंक में रखवा दिया गया है केवल इस खयाल से कि किसी दिन चोरी न हो जाय ! मुझे एक-एक बात का पता लगता रहता है कालीचरन !" फिर अपने भाल पर दो अँगुलियाँ रखते हुए दिलीप बोला—"सच-सच कहो कालीचरन, अपने बैंक के एकाउंटेंट साहब घर पर एक दिन आये थे या नहीं ? फिर उनके साथ चाचाजी बैग लेकर गय थे कि नहीं ? इसे चुगली मत समझो। मैं भी तो आखिर इस ज़मीन-जायदाद का एक स्वामी हूँ। मुझे भी इन बातों को जानने और समझने की ज़रूरत है। पर सब-कुछ जानते हुए भी इस सम्बन्ध में तुमने मुझको कुछ नहीं बतलाया। मैं पूछता हूँ तुमसे, मैं तुम्हारे हितों का अधिक खयाल रखता हूँ, या वे ?"

कालीचरन ने फिर दिलीप के पैर थाम लिये और आँखों में आँसू भरकर गीले रुँधे हुए कंठ से वह बोल उठा—"छोटे सरकार, मुझसे कुछ मत कहलाइए। मैं बहुत ग़रीब आदमी हूँ। अगर बड़े सरकार ने सुन लिया, तो वे मुझे जीता न छोड़ेंगे !"

"तो तुम कायर हो कालीचरन !" दिलीप बिना रुके कहता गया—"रोटी के दो टुकड़ों के लिए तुम अपनी उस आत्मा का हनन कर रहे हो, जो भगवान् की पवित्र धरोहर है !"

दिलीप का इतना कहना था कि कालीचरन रो पड़ा। दिलीप क्षण भर चुप रहा। फिर आप-ही-आप कहने लगा—"मैं तो यहाँ घड़ी-दो-घड़ी के लिए आता हूँ। सो भी केवल माँ को देखने और तुम लोगों का हाल-चाल जानने के लिए। आज ही मुझे फिर चला जाना है। लेकिन इतना जान लो कालीचरन, कपट और काग़ज़ की नाव डूबती बड़ी जल्दी है।"

जो गमछा कन्धे पर पड़ा हुआ था, उसी से कालीचरन ने आँसू पोंछ डाले और कान पकड़कर बोल उठा—"अगर मैं अब कभी आपसे कोई बात छिपाऊँ, या पेट का खयाल करके आपके साथ

दग़ा करूँ, तो मेरा सत्यानास हो जाय !"

इसी समय कुछ ऐसा जान पड़ा, जैसे चिक के उस पार एक छाया ज़रा-सी झलककर रह गई। तब दिलीप सशंकित भाव से बोल उठा—"जाओ देखो, महराजिन ने मेरे लिए खीर चढ़ा दी या नहीं।"

फिर कालीचरन जाने लगा, तो दिलीप ने कह दिया—"एक गिलास पानी दे जाना। शेव कर लूँ तो नहाऊँ। कई दिन बिना नहाये-धोये जो काम में लगा रहा, तो तबियत में कुछ सुस्ती आ गई है।"

और कालीचरन जब दरवाज़े के बाहर निकलने लगा तो क्या देखता है, छोटीचाची घूमकर दाईं ओर मुड़ रही हैं।

: ८ :

मुहल्ले में अधिकांश मकान तो उन रईसों के थे, जो लेन-देन करते, किश्त पर रुपया देते, गाँठ-गिरवी रखते; मकानों की दलाली करते अथवा उनके किराये पर बेफ़िक्री के साथ जीवन बिताते थे। दिन-भर वे घर के दरवाज़ेवाली गद्दी या बैठक में जमे रहते। काम के समय अगर कोई मित्र आ जाता, तो उसकी तरफ़ आँख उठाकर देखना भी उनके लिए एक बहुत बड़ा एहसान हो जाता और छुट्टी के समय अगर कोई न दीख पड़ता, तो घंटे-आध-घंटे देर से आने पर पहले उसके स्वागत में दो-चार आकाशी और फ़रमायशी बाण, भाले या बम चल जाते, तब कहीं धरातल पर आने की नौबत आती। उनके बच्चों को दिन में अध्यापक लोग स्कूलों के अन्दर मुहम्मद तुग़लक और टीपू सुलतान की जन्म-पत्री लिखवाते और सायं-प्रातः इन्हीं मकानों के किसी ऊपरी कमरे में बैठकर यह समझाने की चेष्टा करते कि आजकल आतिथ्य-धर्म और स्वागत-सत्कार का तो जैसे लोप ही हो गया है ! रबड़ी-मलाई, खीर-पूरी, दूध-जलेबी, चाय-बिसकिट और सेब-सन्तरे लोग अपने कमरे

में बैठकर चुपचाप उड़ा डालते हैं, पर नित्य मिलनेवाले आदरणीय लोगों को रोज़ न सही, छठे-छमाहे भी नहीं पूछते।

इन मकानों के नीचेवाले भागों, बीच के अधबने हिस्सों और खपरैलों में अधिकतर मज़दूर लोग रहते थे। मिल की ड्यूटी ख़तम हो जाने के बाद वे जब किसी मैनपुरी तम्बाकू या फुलकीवाले के पास खड़े मिलते, तो या तो सिनेमा के किसी तमाशे की चर्चा करते, या किसी आवारा लड़की से बातचीत होने के किसी मनोरंजक प्रसंग की। अपनी आदतों के लिए मुहल्ले भर में प्रसिद्ध कालू मिस्त्री होता, तो बीड़ी पीते-पीते जेब के रुपये निकालकर अपने किसी साथी को यह बतलाये बिना न मानता कि आज का दिन यार अच्छा बीता। घसीटे को मैंने फिर भरती करवा दिया और उससे पाँच रुपये फटकार दिये !......तुलसीराम तेल-मिल में काम करता था। वह जो कहीं आ जाता, तो मूँगफली चबाता-चबाता अपनी तेल में डूबी और कीचड़ से मैली हो रही सदरी की जेब से पैसे निकालकर सबसे पहले इकन्नीवाली चाय पीता और साथ में सस्ते मेल के बिस्किट लेता। फिर पान खाकर, सिगरेट के दो कश लगाकर दर्शन-पुरवा की ओर चल देता। उसके एक पैर में चोट थी, इस कारण वह ज्यादातर रिक्शे पर चढ़ता। पर पैसे देने में प्रायः रिक्शेवाले से झगड़ा हो जाता, क्योंकि वह बिना तै किये ही उस पर बैठकर चल देता और उतरते समय जान-बूझकर पैसे कम देता।

इस मुहल्ले के अधिकांश मकान अधूरे बने पड़े थे। किसी में ऊपर का भाग बनते-बनते रह गया, तो कोई प्लास्टरिंग के बिना वस्त्र-हीन नंगा पड़ा रहा। आरम्भ में जितना पैसा लग गया, लग गया। उसके बाद जो जीवन की गति में मोड़ आया, तो मकानों का गतिरोध हो गया। फल यह हुआ कि कहीं बीच में लकड़ी की टाल की दुकान है, तो कहीं धोबी की। कहीं हल्दी-धनियेंवाला बैठा मक्खी मार रहा है, तो कहीं चक्की और आरा-मशीन के रिश्ते बन-बिगड़ रहे हैं। बीच-बीच में पांचाल देश की संस्कृति का समन्वय रंग बदल रहा है। पैरों में रेशमी सलवार, देह पर

कुरता, चुन्नी, वक्ष पर सोने की जंजीर और कानों में लम्बे झूलते इयरिंग पहने हुए यत्र-तत्र अनेक प्रमदाएँ दीख पड़ती हैं, जो घर-गृहस्थी के काम में पुरुषों का मुँह नहीं ताकतीं और बाहर के सारे काम स्वयं कर लेती हैं। उत्तरप्रदेश का नागरिक उनके साहस, सहयोग और परिश्रम को देखकर प्रायः अवाक् हो उठता है! जिन्होंने धूप-हीन कमरों के अन्दर, सीमित और घिरे हुए प्रकाश की छाया में ही, अपनी अधोमुखी श्रीमतियों की मुख-श्री देखी है, वे स्वस्थ देह और साहसी तबियतवाली इन वीरांगनाओं के वृन्द-के-वृन्द जब सड़क पर निकलते देखते, उनके स्वच्छंद हास-परिहास में नाना प्रकार की भंगिमाओं और मुद्राओं के चढ़ाव-उतार की छवि-माधुरी हृदयंगम करते, तो एकदम ठगे-से रह जाते। कुछ लोग तरह-तरह की फब्तियाँ कसते, नाक-भौं सिकोड़कर अपनी अरुचि व्यक्त करते। लेकिन कुछ ऐसे दूरदर्शी भी रहते, जो देश के सुनहले भविष्य का स्वप्न देखने में तन्मय हो उठते।

मुहल्ले में एक लोकनाथ बनियाँ रहता था। उसकी दूकान छोटी थी, पर उसमें लाभ की मात्रा अधिक थी। उसके मस्तक पर बाईं ओर एक घाव का निशान था और उसकी चेष्टाओं से ऐसा जान पड़ता था, जैसे वह संसार से कुछ चिढ़ा हुआ है। वैद्यों तथा हकीमों के नुसखों की चीजें जुटाकर रखने में वह बड़ा प्रवीण था। जो चीज उसकी दूकान पर न भी मिलती, वह कहाँ और किस तरह मिलेगी, इसका विवरण दे देता और ग्राहक को यदि वह वस्तु इतने पर भी न मिलती, तो वह स्वयं प्रयत्न करके ला देता। इस कार्य में वह कभी आलस्य न करता।

पर लोकनाथ के जीवन में एक बड़ी भारी कमी रह गई थी कि उसके कोई सन्तान न थी। पति-पत्नी बड़े सबेरे गंगा-स्नान करने निकल जाते। नित्य वे अपने पुराने पापों के लिए भगवान् से क्षमा माँगते। भगवान् की ओर से उन्हें क्या उत्तर या आश्वासन मिलता, यह तो कभी प्रकट न होता था। लेकिन उत्साह की उनमें कमी न रहती। कोई भूखा-टूटा उसके यहाँ से विमुख न लौट पाता। जब लोकनाथ सौदा लेने कहीं

बाहर निकल जाता तो उसकी पत्नी दुकान पर बैठी मिलती। उसकी अवस्था पचास के लगभग हो चुकी थी। दुकान के पास से निकलनेवाले लोग जब उसको अकेला बैठा देखते, तो आगे बढ़कर कानाफूसी करने लगते। कोई उपहास के भाव से कहता—"देखा बुड्ढी टुइयाँ को? इसको अब भी बहुत कुछ आशा है·······!" और इस कथन के साथ वे हा-हा-हा-हा करके हँस पड़ते!

मुहल्ले में एक कबाड़ी की दूकान थी। उसका नाम था गनी। तरह-तरह की शीशियाँ, देशी-विदेशी दवाइयों के खाली डब्बे, चीनी मिट्टी के बर्तन, टी-सेट, सिगरेट, बिसकिट, मेल्टेड मिल्क के खाली किंतु फूहड़-पन के साथ कट-छटे टिन, ड्रेसिंगवाले शीशे, पीतल, ताँबे, चन्दन की लकड़ी आदि पर बनी मूर्त्तियाँ, खिलौने और कलापूर्ण नक्क़ाशीदार बर्तन, तालों की चाबियाँ, साइकिल के पुर्ज़े, हिंदी, बँगला तथा अंग्रेज़ी की सैंकड़ों पुरानी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाओं के फुटकर अंक—कोई सैंकड़ों चीज़ें उसके यहाँ इकट्ठी रहतीं। इस कारण कोई-न-कोई ग्राहक उसके यहाँ सदा मौजूद रहता। यों क़ायदे से वह अपनी दुकान रात को आठ बजे बन्द कर देता, पर जब तक वह उस दूकान के पीछेवाली गली में अपनी कोठरी के दरवाज़े पर चारपाई डाले जगता पड़ा मिलता, तब तक कोई ग्राहक उसके यहाँ से लौट नहीं सकता था। अगर घर जाने में देर हो जाती, तो खाना वह होटल में खा लेता, लेकिन ग्राहक की माँग की चीज़ खोजकर निकाले बिना इतमीनान से बैठना उसके लिए मुश्किल था। कोई नहीं जानता था कि उसकी पूँजी कितनी है। लेकिन महाजनों के यहाँ उसकी साख बहुत थी। उसके यहाँ आनेवाली कोई भी गाँठ कभी वापस नहीं जा सकती थी। किसी-किसी का मत था कि उसके दो बीवियाँ हैं जिनमें से एक को वह छोड़ चुका है। मगर साथ उसके दूसरी बीवी भी न रहती। क्योंकि वह बीवी छोड़ सकता था, मगर दुकान नहीं।

मुहल्ले में एक नाई रहता था, जिसका नाम था परसादी। वह शरीर की नस-नस से इतना परिचित था कि उनके स्थानान्तरित अथवा कोई

अस्थि इधर-से-उधर हो जाने पर उसका कौशल देखते बनता था ! सिर की पीड़ा और शरीर की थकान तो वह चुटकियों में दूर कर देता था। मन में नाना प्रकार की चिन्ताएँ इकट्ठी हो गई हों, रात को नींद न आई हो, लेकिन परसादी के एक बार बदन में हाथ लगा देने पर तुरन्त नींद आ जाती थी। उसकी पत्नी अपूर्व सुन्दरी थी। इसीलिए राज-रईसों से वह जो कुछ इनाम पाता, वह सब उसी पत्नी के हवाले कर दिया करता। आम दनी उसकी कम न थी। लेकिन खर्च करने में उसका हाथ इतना खुला हुआ था कि उसे प्रायः पैसे की कमी ही बनी रहती थी। उसे किसी रोज़गार से संतोष न था। कभी तो वह कुल्फ़ी-मलाई की बरफ बेचता फिरता—कभी ताँगा हाँकता नज़र आता। इतना सब-कुछ था, लेकिन मालिश करने के लिए जो कहीं से निमंत्रण आ जाता तो वह वर्तमान को भूलकर झट भविष्य का पल्ला पकड़ लेता। साधारणतया सदा वह प्रसन्न दिखलाई पड़ता, पर उसके जीवन में एक दुःख जैसे स्थायी बन गया था। हर दूसरे वर्ष उसके बच्चा उत्पन्न होता और साल भर के अन्दर समाप्त हो जाता। इस घटना-क्रम से उसकी पत्नी का शरीर दिन-पर-दिन टूटता जाता था। इसलिए उसे सदा इस बात की चिन्ता बनी रहती कि कहीं ऐसा न हो कि मेरी पत्नी काल का कौर बन जाय। लेकिन उसके जीवन में केवल एक वाक्य ऐसा था, जो इन सारी चिन्ताओं से ऊपर था। और वह था—"परसादी ज़रा मेरी कमर तो सीधी कर देना।"

मुहल्ले में एक आवारा रहता था, जिसका नाम वफ़ाती था। शरीर से वह दुर्बल था। पर आवाज़ उसकी बड़ी कड़कीली थी। लट्ठे का पायजामा, तनज़ेब का कुरता—सैंडो-कट का बनियान जिसके भीतर से झाँकता रहता—और न्यू-कट का जूता-मात्र ही उसकी पोशाक थी। एक बढ़िया रेशमी रूमाल उसकी गरदन पर हमेशा बँधा रहता और बटनों का रंगीन फीता कम-से-कम गले के पास एक झलक ज़रूर मारता प्रतीत होता। टोपी के मामले में आप कमज़ोर थे। कभी टुपलिया, कभी किश्तीनुमा, कभी काली मखमल की, कभी बालदार, कभी सर्ज या कश्मीरे पर दो अंगुल

कढ़ाई, तो कभी विशुद्ध खादी की, नेता-कट। सिनेमा आप रोज देखते और टिकट भी बालकनी का लेते। तलाशी शौक़ से ले लीजिए, लेकिन अगर कोई चीज़ बरामद न हो, तो गाली-गलौज और धौल-धप्पा के लिए तैयार रहिये। सिगरेट कैप्स्टन के नीचे आपको कभी चलती नहीं, मगर पैसे चुक जायँ तो जूठी बीड़ी तक चल सकती है! बम्बई पहुँच गए तो हिन्दू, जाति कायस्थ और नाम विश्वनाथ। ग़जल आपसे एक-से-एक बढ़िया सुन लीजिए; मगर शर्त यह है कि कम-से-कम एक मरतबे तो उन्हें शायर क़बूल ही कर लीजिए! इक्के-ताँगे में साथ हो जाय, तो रास्ते में पान-सिगरेट शौक़ से लेते जाइए और उतरने का वक़्त आ जाय, तो जेब से पैसे निकालकर फिर वहीं रख लीजिये। मगर घर पहुँचते-पहुँचते यह मत सोचिए कि पेन कहाँ गया!......सगी बहन के यहाँ आप पधारे हैं। कमरे से लगा बाथ-रूम है। कोई साहब उसके अन्दर गये हुए हैं, मगर कमरे में जो खूँटियाँ लगी हैं, उन पर उनका कोट टँगा हुआ है। उसके ऊपरी जेब में पारकर पेन वह साफ़ झलक मार रहा है। न सही पेन, चश्मा, पर्स, फुटकर रेजगारी, अरे साहब कुछ तो जेब में होगा! बाथ-रूम में जो महाशय थे, इतमीनान से उन्होंने कपड़े बदले और पास पड़ा हुआ समाचार-पत्र पढ़ा, या अपने किसी दूसरे काम में जा लगे। इतने में कई आदमी आये और गये कि अचानक उनके मुँह से निकल पड़ा—"अरे! घड़ी कहाँ गई?"

उधर मियाँ बफ़ाती किसी रेस्तोराँ में बैठे, आइस-क्रीम के कप पर, चम्मच साफ़ करते नजर आयँगे!

आपके पास बैठक-उठक अगर शुरू हो गई, तो हो गई। फिर उसका छोड़ना क्या? संयोग की बात कि आपके यहाँ कोई मेहमान आ गए। दो-चार दिन वे आपके यहाँ ठहरे। आपने उनसे भी रसाई कर ली। साथ बैठना-उठना चलता रहा। यहाँ तक कि अब आपके बिना उनको चैन नहीं। अन्त में वे मेहमान एक दिन चले गए चलते समय तो आप कहीं देख नहीं पड़े, पर मालूम कर लिया कि घर से कोई भेजने नहीं पहुँचा, तो आप आ पहुँचे। बहुत घबराये और हाँफते हुए बोले—'गजब हो गया! भैया

का टिकट कहीं गिर गया। फिर सेकंड-क्लास का टिकट ठहरा। अब दूसरा टिकट खरीदने में कोई तेरह रुपये कम पड़ते हैं। मैं साइकिल से दौड़ा आ रहा हूँ। फल यह हुआ कि तेरह रुपये आपके और आपके बाप के फिर रिश्तेदारी का मामला ठहरा। इतनी छोटी-सी रक़म के लिए कौन पर्वाह करता है ! कई बार पिता के घर से निकाले गए। मगर माँ की ममता ने दो महीने के अन्दर आपको फिर बुलवा लिया। घर में बिसातख़ाने की दूकान होती थी। उसमें चाचा साहब बैठते थे। समझा-बुझाकर उसमें आपको भी बिठलाया गया। पर दस दिन बाद अचानक आप फिर ग़ायब हो गए। किसी ने आपसे कुछ कहा नहीं और व्यवहार भी आपके साथ कुछ बुरा नहीं हुआ। कई सप्ताह तक आपका कुछ पता न चला। एक दिन सबेरे नौ बजे जो दुकान खोली गई, तो उसमें दफ़्ती के बने खाली-डिब्बे, चीड़ की पेटियाँ, दो-चार कंघे, काग़ज़ की कतरनें, सिगरेट की दो-तीन बुझी टुकड़ियाँ और सब-की-सब खाली अलमारियाँ देखकर करीम भाई का दिल बैठ गया ! आठवें दर्जे तक आपने अंग्रज़ी पढ़ी थी और बात करने में कभी हिचकना आपने सीखा नहीं। पता नहीं, आप दिल्ली के किसी होटल में ठहरे हैं, या बम्बई के फ़ारसरोड पर सिगरेट झाड़ते हुए चहल-क़दमी कर रहे हैं। कई महीने बीत गए। हो सकता है कि आपने पाकिस्तान का टिकट कटा लिया हो—और यह भी हो सकता है कि बम्बई की किसी फ़िल्म-कम्पनी में आप धेले के तेल पर चवन्नी वसूल करनेवाले मालिशबाज का मेकअप कर रहे हों !

मुहल्ले से ज़रा दूर हटकर, चौराहे के बग़ल से उत्तर की ओर जो एक छोटी-सी गली पड़ती है, उसमें एक मियाँ इकराम रहते थे। उनका काम था रास्ते चलते इक्के ताँगेवालों, सड़क पर चारपाई डाले बैठे हुए दुनिया के रंग-ढंग पर बहस करनेवाले महाजनों, मकान-मालिकों और उनके रिश्तेदारों, नौकरी छूट जाने पर पास-पड़ोस के बड़े आदमियों की खुशामद करनेवाले निठल्ले क्लर्कों, वकील-मुख्तारों के नज़र पड़ गये मुंशियों या पेंशिनयाफ़्ता सरकारी नौकरों को अपने ताज़े हुक्के से तम्बाकू पिलाना और

बिना माँगे पैसे से लेकर इकन्नी तक झाड़ देना। उनके बाल अब पक गए थे, मगर सुरमा उनकी आँखों की बरौनियों पर अब भी बदस्तूर बोलता रहता। उनके दाँत अब आधे ही रह गए थे, मगर पान का शौक़ होठ और मुँह की चीरन पर बहती पीक की धार से साफ़ झलक जाता था। उनके सिर पर जो मैली-सी दुपलिया टोपी रहती, वह सिर का सिर्फ़ एक-चौथाई भाग ढक पाती थी। इकन्नी से लेकर दो-चार आने तक दे देनेवाले चलते-फिरते उदार ग्राहकों के चेहरों के लिए अनुसंधान की उन अभ्यस्त आँखों में क्षुधा, निराशा, लालच और आतुरता मिश्रित एक हीन भावना सदा तैरती रहती।

दिलीप को ये सब लोग पहचानते थे। पहले तो केवल मुंसिफ़ साहब के पुत्र होने के कारण उसका ये लोग आदर करते थे; परन्तु अब वह उनके आदर का पात्र इसलिए भी बन गया था कि ग़रीब-से-ग़रीब आदमी के लिए उसके हृदय में सहानुभूति थी। जब वह अपनी गली से निकलता, तो बन्दगी भाईजान, सलाम साहब, नमस्ते भैये, जय रामजी की बाबूजी, नमस्कार सरकार की धूम मच जाती और अगर वह जल्दी में होता, तो भी उसे देर लग ही जाती। सभी उससे मिलना चाहते, सभी उससे अपना दुःख-सुख कहने को उत्सुक रहते। आज तक उसके इस सम्मान में अन्तर न पड़ा था। सभी जानते थे कि वे लखनऊ डॉक्टरी पढ़ रहे हैं। जब मिलते, तब पहला प्रश्न यही होता—"कै दिन की छुट्टी में आये हो?" उत्तर में यदि वह कह देता, कल चला जाऊँगा, तो उनकी तबियत गिर-सी जाती। वे सोचने लगते, तब इनके पास इतना समय ही कहाँ होगा जो मेरी परेशानियों की कथा सुन सकें और सुन सकें तो उसका कोई हल भी निकाल सकें।

परन्तु अब उसकी इस स्थिति में अन्तर पड़ गया था। लोग बड़े हौसले से पूछते—"अभी कितने दिन बाक़ी रह गए हैं तुमको डॉक्टर बनने में?" तो वह एक झटका खाकर गिर-सा पड़ता। उसकी आँखें चौंधिया जातीं, उसका चेहरा फक् पड़ जाता। झूठ वह बोल न सकता था, और सत्य कहने में उसकी मर्यादा को आघात पहुँचता था। उसकी स्थिति उस राजा की-सी

थी जो गद्दी से उतार दिया गया हो। वह उस नेता के समान था, जो चुनावमें केवल पाँच वोट से हार गया हो ! वह उस अध्यापक से मिलता-जुलता था, जिसकी जबान लग गई थी और हाथ काँपने के कारण जो एक शब्द तक न लिख सकता था। ···वह उस मैजीशियन के रूप में अपने को देख रहा था, खेल दिखाने के समय, जब हाउस फुल हो चुका तभी किसी विषाक्त गैस ने उसकी आँखों की ज्योति सदा के लिए समाप्त कर दी। ···उसके क्षण उसी तरह बीत रहे थे, जैसे महारानी कैकेयी के, जब राम लक्ष्मण और सीता के साथ वन को सिधार गये थे, अयोध्यानगरी रो रही थी, रानियाँ अचेत पड़ी थीं, महाराज दशरथ स्वर्ग सिधार गए थे और भरत ने आते ही विलाप, रुदन और कटु वचनों से उनका समादर किया था।·· वह उस बहिष्कृत हीरो के समान था जिसकी प्रतिरूप छाया की सहायता से ही दिग्दर्शक ने ज़िद में आकर अपना चित्र पूर्ण करने का निश्चय कर लिया था।···वह उस मछली की आत्मा बन गया था, जो जलाशय को केवल देख सकती थी, पर जिसके स्पर्श से उसे वंचित रखा गया था। ··वह ऐसी नहर थी, जिसे पानी की धार कभी नसीब ही नहीं हुई और अब गन्दे नाले के रूप में जिसका उपयोग देखा जाता है ! परन्तु चित्र का यह केवल एक पहलू था, जो काफ़ी से कहीं अधिक धुँधला और काला था। दूसरा पहलू इससे कहीं अधिक उज्ज्वल, चमकीला और प्रकाशमय था। बारम्बार दिलीप के मन के आकाश में उमड़-घुमड़कर बादलों को चीरती हुई एक बिजली-सी कौंध जाती थी। बारम्बार उसके कल्पना प्रान्त पर एक आदर्श-वाक्य लिख जाता था। वह वाक्य कोई ऐसा असाधारण भी न था, जिसका मूलाधार वेद से नीचे सम्भव न हो। वह वाक्य कोई ऐसा बहुत कोमल और मधुर भी न था, जिसे प्यार से गुनगुनाया और गाया जा सकता हो और वह वाक्य कोई उतना प्यारा भी न था, जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता कि उसे प्राण छोड़ते समय मेरी माँ ने एक अजर अमर निधि के रूप में सौंपा है अथवा जिसे प्राणों की प्राण पत्नी और प्रेयसी से, चिर मिलन की पवित्र स्मृति में, मैंने पाया है।

एक सीधा-सादा वाक्य था वह। केवल इतना कि 'मनुष्य के व्यक्तित्व की परीक्षा केवल तब होती है, जब उस पर संकट पड़ता है।'

और इसलिए दिलीप ने चुपचाप यह तै कर लिया कि जो कोई भी मुझसे यह पूछेगा कि कितने दिन की छुट्टी में आये हो, तो बिना किसी सोच-विचार और संकोच के मैं उसके मुँह पर, फट से, यह कह दूँगा कि इस बार तो मैं हमेशा के लिए छुट्टी ले आया हूँ। लोगों को आश्चर्य होगा कि क्या फ़ाइनल कर लिया ? क्योंकि वे लोग यह भी न सोचेंगे कि फ़ाइनल करने का एक निश्चित समय होता है। सेशन प्रारम्भ हो जाने के बाद तुरंत फ़ाइनल कर लेने का प्रश्न जिसके मस्तिष्क से फूटता है, उसको अपना इलाज कराना चाहिए। पर यह प्रश्न तो हो ही सकता है कि खैरियत तो है ? तब मुझे यह स्पष्ट कर देना पड़ेगा कि अभी तक जान जोखिम में नहीं है; बाक़ी सब खैरियत है। प्रश्न तो और भी होंगे और फिर उनका एक सिलसिला भी चलेगा। चले, उन्हें भी देखा जायगा !

हाँ, तो यह निश्चय दिलीप ने उसी दिन किया, जब वह मौसमपुर से घर लौटा था। वरन् कहना चाहिए कि उस समय किया, जब कालीचरन रो-धोकर उसके कमरे से बाहर हो गया था और जब यह भी उसे विदित हो गया था कि सारी-की-सारी बातें छोटीचाची स्वयं आड़ में खड़ी चुपचाप सुनती रही हैं।

इस निश्चय का आधार था पिता का आदर्श। मुरारी बाबू के जीवन में एक बार एक ऐसी विचित्र घटना घट गई थी जिसका प्रभाव बालक दिलीप पर सदा के लिए स्थायी बन गया था।

वर्षा के दिन थे और रात का समय। मुरारी बाबू इंटर-क्लास के डब्बे में बैठे थे। बैठे तो वास्तव में न थे; क्योंकि एक चौथाई भाग छोड़कर पूरी बेंच पर उनका होलडाल पड़ा हुआ था और वे उसी पर लेटे हुए थे। उनके सिर की ओर एक अटैची-केस रखा था और पर्स क़मीज की ऊपरी जेब में सिर उठाये खड़ा अकड़ रहा था ! गाड़ी फास्ट-एक्सप्रेस थी और चालीस की गति से चली जा रही थी। डेढ़ घंटे से पहले कोई ऐसा स्टेशन मिलने

की सम्भावना न थी, जहाँ गाड़ी ठहर सकती। लेटे-लेटे मुरारी बाबू के मन में यह प्रश्न उठा कि कहीं ऐसा न हो कि सो जाने पर कोई भला आदमी मेरा पर्स मार दे। प्रश्न सर्वथा स्वाभाविक था और यात्री की बुद्धिमानी का थोड़ा-सा परिचय तो दे ही रहा था। पर तत्काल उसका जो उत्तर उसने स्वयं सोचा, वह इस प्रश्न की अपेक्षा बौद्धिक चाहे अधिक न हो, पर मनोरंजक तो अवश्य ही अधिक था।

और वह उत्तर यह था कि यात्रा में मुझे नींद प्रायः आती नहीं है। और अगर आती भी है, तो इतनी नहीं कि कोई मुझे स्पर्श कर ले और मैं जान भी न सकूँ। और मैं यह देखने के लिए भी कम उत्सुक नहीं हूँ कि देखें, कैसे कोई मेरा पर्स उड़ाता है।

लगभग आधे घंटे तक मुरारी बाबू इसी सोच-विचार में पड़े रहे कि ऐसा जोखिम मुझे लेना चाहिए या नहीं। कुल मिलाकर सत्तासी रुपये उनकी जेब में थे और जाना उनको था देहली—और ट्रेन उस समय कानपुर और इटावा के बीच में थी। घूम-फिरकर यही समस्या सामने आ जाती थी कि इस प्रयोग में अगर हानि हो ही गई, तो··?"

तो दिल्ली दूर हो जायगी। कुली को तो पैसे ताँगे वाले से दिलवा दूँगा। पर फिर ताँगे वाले का भुगतान करने के लिए उन मित्र को सताना पड़ेगा, जिनके यहाँ मुझे ठहरना है। संभव है, उनको इसमें कोई आपत्ति न हो। पर वे जो उपदेश देंगे और उसके सिलसिले में जो प्रवचन सुनायँगे उसको तो गीता के तिलक-भाष्य की भाँति, चुपचाप, बिना कान-पूंछ हिलाये सुनना ही पड़ेगा! उत्तर देने के लिए मेरे पास तर्कों की कमी न होगी, पर फिर जितने दिन उनके यहाँ ठहरूँगा, घूमने-फिरने और आवश्यक वस्तुएँ खरीदने तथा वापसी के खर्च को मिलाकर सौ-पचास रुपये की चपत तो उनको लग ही जायगी। यह भी हो सकता है कि उनका बजट इसके लिए तैयार न हो और यह भी संभव है कि वे मेरे बजट में कुछ काट-छाँट करने का भी साहस कर बैठें! तात्पर्य यह कि अपने एक प्रयोग के लिए बैठे-ठाले एक मित्र को व्यर्थ ही कष्ट देना पड़ेगा। और

भलमनसाहत की दृष्टि से यह बुरी बात है।

इस प्रकार उन्हें अन्त में अपना उक्त प्रयोगात्मक निश्चय बदलना पड़ा और पर्स को उन्होंने चुपचाप उस अटैची के अन्दर रख लिया।

पर इतने में वे क्या देखते हैं कि उनके सामने जो युवक बैठा हुआ है, वह जग रहा है और साथ ही सिगरेट भी पी रहा है। तब वे सोचने लगे कि भारत-जैसे गरम देश में जो लोग सिगरेट अधिक पिया करते हैं उनकी संस्कृति अधिकतर कैसी होती है ? फलतः नाना प्रकार के विचार उनके मानस में आए और गए और होते-करते उन्हें आलस्य ने घेर लिया। वे कितनी देर सोते रहे, इस बात का पता उन्हें तब चला, जब उनकी आँख खुली और सावधान होते-होते उन्होंने देखा, अटैची-केस ग़ायब है !

जिस समय यह कहानी मुरारी बाबू अपने मित्रों में सुना रहे थे, उस समय, इसी स्थल पर उन्होंने उनसे एक प्रश्न किया था। और वह प्रश्न यह था कि बतलाइये, इस कथा का अन्त क्या हुआ ? लोगों ने भाँति-भाँति के उत्तर दिये। किसी ने कहा कि जो कुछ आपने पहले से सोच लिया था, अन्त को वह होकर रहा,क्योंकि वही होनहार था। किसी ने बतलाया, जब तक यह न मालूम हो कि उस युवक का क्या हुआ, जो आप के सामने वाली सीट पर बैठा सिगरेट झाड़ रहा था, तब तक आगे की कल्पना करना बड़ा कठिन है।

तब मुरारी ने इतना और बतला दिया कि वह युवक सिगरेट तब भी पी रहा था। परन्तु फिर इतने पर भी कोई हल न निकला। अन्त में विवश होकर सबको एकमत से यह स्वीकार करना पड़ा कि कहानी की तो कोई भी कल्पना हो सकती है, पर घटना की कल्पना को सही उतार देना कठिन है। क्योंकि कल्पना फिर भी कल्पना ही है। घटना की विचित्रता को वह कभी पा नहीं सकती। अब आप ही बतलाइये कि फिर हुआ क्या ?

तब मुरारी बाबू बोले—"असल में कहानी का प्रारम्भ इसी स्थल से होता है। अभी तक यह केवल एक घटना थी। घटना का नाम कहानी

कदापि नहीं हो सकता ।

"बात यह हुई कि आलस्य मुझे अवश्य आ गया था और चेतना भी मेरी—कहना चाहिए—तन्द्रिल हो चुकी थी । पर उपचेतना मुझमें तब भी बनी हुई थी । इसका फल यह हुआ कि मुझको सोया हुआ समझकर जब उस युवक ने यह अटैची-केस मेरे सिरहाने से उठाया और उसे स्थानान्तरित कर दिया, ठीक उसी क्षण मेरी आँख खुल गई और मैं उठकर बैठ गया । और ज्यों ही मेरी दृष्टि उस युवक के ऊपर पड़ी, त्यों ही उसने सिगरेट का एक ऐसा कश खींचा कि उसके धुएँ से मेरे ऊपर उस डब्बे के अन्दर सीमित आकाश धूम्र-शिखाओं से पूर्ण आवृत्त हो उठा । किंतु यह समझने में मुझे देर न लगी कि युवक कुछ सकपका ज़रूर गया है । जान पड़ता है कि क्षण-क्षण पर पकड़े जाने की आशंका से वह अत्यन्त भय-कातर हो उठा है, पर आप लोगों को यह जानकर अत्यन्त विस्मय होगा कि तब भी मैंने अपने अटैची-केस को इधर-उधर कहीं भी खोजने की चेष्टा नहीं की । वरन् इसके विपरीत कपड़ों को इतमीनान से तहाकर मैंने विधिवत् होलडाल में रखा और उसको चमड़े की बद्धियों से कस दिया ।

इस स्थल पर उन्होंने फिर एक प्रश्न किया—"क्या मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि उस समय मेरा क्या तात्पर्य था ?"

सभी मित्र अवाक् थे । किसी ने भी कोई उत्तर नहीं दिया । तब मुरारी बाबू बोले—"अब मैं एकदम से उठ खड़ा हुआ । मैंने अपना ट्रंक निकाला । फिर उसके ऊपर बेडिंग रख दिया । छाता उसकी बगल में जमा दिया । और अन्त में अँगूठी भी उतारकर उस युवक को देते हुए मैंने कहा—'लो, यह सारा सामान भी मैं तुमको देता हूँ । विश्वास मानो, मैं तुमसे ज़रा भी नाराज़ नहीं हूँ ।"

युवक को अपनी दृष्टि पर विश्वास नहीं हुआ । एकदम से हतप्रभ होकर वह बोला—"मैं· · ·मैं समझा नहीं । आ· · ·आपका क्या मतलब है ?"

तब मुसकराते हुए मने उत्तर दिया—"लेकिन मैं तो तुम्हारा मतलब

समझता हूं। मैंने तुम्हारे सामने ही अपनी जेब से पर्स निकालकर अटैची-केस में रखा था। तुम तब भी जग रहे थे और अब भी जग रहे हो! फिर भी अटैची-केस ग़ायब है। मैं जानना चाहता हूँ कि इस घटना का अर्थ क्या है? तुम समझते होगे कि जिस समय तुमने मेरे सिरहाने से अटैची-केस उठाया, उस समय मैं सो रहा था। पर यह तुम्हारा भ्रम था। मैं यह भी जानता हूँ कि तुमने उसे कहाँ छिपा रखा है। लेकिन उसमें तो केवल सत्तासी रुपये हैं। उनसे कितने दिन तुम्हारा काम चलेगा? इससे तो यह कहीं अच्छा होगा कि यह सामान और अँगूठी भी तुम ले जाओ। बेच लेने पर दो-चार महीने के लिए तो निश्चिंत हो ही जाओगे!"

तब देखते-देखते उस युवक ने मेरे पैर पकड़ लिए। उसकी आँखें डब-डबा आईं। डिब्बे में लेटे हुए सारे लोग उठकर बैठ गए। और युवक बोला—"आप देवता हैं या महात्मा, यह मैं नहीं जानता। हो सकता है कि आप पुरुष-रूप में देवदूत हों। और बात-की-बात में आँखों से ओझल हो जायँ! ख़ैर, जो कोई भी हों; पर अब आप मुझे क्षमा कर दें। मैं नहीं जानता था कि बुराई का बदला भलाई से चुकाने में इतना जादू है और मुझे विश्वास नहीं था कि इस दुनियाँ में अब भी आप-जैसे महात्मा मौजूद हैं।"

इसके बाद उस अटैची-केस को उसी बेंच के नीचे कुछ फ़ासले से उठाकर उसने मेरे सामने रख दिया। अन्तर केवल इतना था कि अब वह एक तौलिये से लपेटा हुआ था, जिसको उस युवक ने चुपचाप खोल लिया।

कई मित्र एक स्वर से बोल उठे—"वाह! क्या कहानी सुनाई है साहब! धन्य हैं आप।"

एक दूसरे ने कहा—"मगर काम भी आपने कमाल का किया। डब्बे-वाले तो एकदम हैरत में आ गए होंगे।"

पर मुरारी बाबू उस समय मुसकराते हुए बोले—"मगर कहानी का अन्त तो अभी हुआ ही नहीं।"

"तो यह कहिए कि आपने हम सबको बेवकूफ़ बनाने के लिए आज इकट्ठा किया है!" एक साहब के मुँह से निकल गया।

"नहीं नहीं, ऐसा न कहिए। सुनिये, कहानी का अन्त यह है कि रिश्वत न लेने के कारण मेरे जिस पेशकार से आपको अक्सर शिकायत रहती है, वह उस दिनवाला वही चोर है।"

: ९ :

काल किसी के सुख-दुःख की चिन्ता नहीं करता । उसके चरण जब धरती के ऊपर चलते हैं, तब धरती रोती है और काल अट्टहास करता है। कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है, जब इतिहास करवट लेते हैं, धरती जागती है, तो काल रोने लगता है। मनुष्य की प्रत्येक इच्छा काल की अनिच्छा है। उसकी प्रत्येक महत्त्वाकांक्षा काल का रुदन है; आक्रोश और घृणा है। और यह कितनी विचित्र बात है कि मनुष्य सब-कुछ जानते हुए भी यह भूल जाता है कि वह काल के अनुशासन से परे नहीं। इसीलिए उसको अपनी ही रुचि और इच्छा उसका अपना सुख-दुःख ही एक-मात्र सत्य है। जब दादा ने देखा, उनकी परित्यक्ता पत्नी लेडी-डॉक्टर श्रीमती प्रतिभादेवी के आज के जीवन को अध्ययन करने का और कोई मार्ग नहीं है, सिवाय इसके कि मैं त्रिभुवन बाबू से ही क्षमा माँग लूँ और विनयपूर्वक उनसे कहूँ कि अपने यहाँ ठहरने से मुझे वंचित न कीजिए। मैं सदैव इस बात का ध्यान रखूँगा कि मेरे द्वारा आपको किसी प्रकार का कष्ट न हो, आपके व्यस्त कार्यक्रम में कोई व्याघात उपस्थित न हो। तब उन्होंने उनको एक पत्र लिखा :

"प्रिय त्रिभुवन बाबू,

उस दिन मैं आपका पत्र पाकर स्तब्ध हो गया था। मैं चला तो आया, लेकिन बार-बार मेरा मन कह रहा था कि आपने मेरे साथ मित्र का-सा व्यवहार नहीं किया। मैं जानता हूँ, आप शहर के नामी वकील हैं। आपकी प्रैक्टिस पाँच हजार से कम नहीं है। प्रतिष्ठा आपकी चेरी है। लेकिन

सब-कुछ होकर आप आखिरकार एक दुनियाँदार आदमी ही निकले: एक साधारण सांसारिक प्राणी, जो केवल पत्नी, बच्चों और परिवार के भरण-पोषण और ऐश्वर्य-वृद्धि में सम्पूर्ण जीवन तेली के बैल की तरह खपाकर एक दिन सदा के लिए आँखें मूंद लेता है। जैसे दुनियाँ में लाखों-करोड़ों मनुष्य नित्य मृत्यु के शिकार होते हैं, जैसे बकरे और मुर्गे नित्य कटते हैं, जैसे ज्वलन्त आलोक के निकट असंख्य कीट-पतंग नित्य मरते ही रहते हैं, जैसे अगणित चींटियाँ जन-जन के पैरों तले कुचलकर दम तोड़ देती ह, आपका मरण भी एक दिन इसी प्रकार होगा। वर्ष-के-वर्ष व्यतीत हो जायँगे। पर मैं पूछता हूँ, कितने आदमी आपका मृत्यु-दिवस मनायँगे, कितने स्थानों पर आपकी मूर्तियों के नव-नव उद्घाटन होंगे, कितने पत्रों में आपके जीवन-सन्देश छपेंगे? एक दिन आयेगा, जब आपके नाती-पोते भी आपका नाम स्मरण नहीं करेंगे। तिनके की ज़िन्दगी का कोई मूल्य नहीं होता और क्षमा कीजियेगा, आपका जीवन एक दिन बिलकुल तिनके के समान बन जायगा!

मुझे हँसी आती है, जब लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति की मृत्यु हो गई। मैं डंके की चोट के साथ यह कहना चाहता हूँ कि मनुष्य कभी नहीं मरता। वह अजर, अमर और अविनश्वर है यदि—और वह 'यदि' बहुत बड़ा है—मनुष्य के अन्दर दया, ममता, शील, सौजन्य और मानवता के सतत पोषण की पवित्र भावना है। मनुष्य तो जीवित रहते हुए भी मर जाता है यदि वह सदा न्यस्त स्वार्थों में व्यस्त रहता है। जो व्यक्ति संकट-काल में अपने मित्र की सहायता नहीं करता, जिसकी सहानुभूति एक शब्द-जाल होती है, जिसकी संवेदना एक बनावटी शिष्टाचार, जो राह चलते हुए दीन-दुखियों की ओर दृष्टि नहीं डालता, उसकी आँखें सही रहते हुए भी फूट जाती हैं। जो दूसरों के दुःख पर रोना नहीं जानता, उसकी सहायता करने के लिए जिसका हाथ नहीं बढ़ता, उसका हृदय मनुष्य का हृदय नहीं होता। मैंने पाषाण को फूट-फूटकर रोते देखा है, आप उससे भी हीन हैं! मैंने पशुओं को बिलख-बिलखकर रोते देखा है, आप

उनसे भी गए-गुज़रे हैं ! मैंने अनेक चींटियों का ऐसा दल देखा है जो एक चींटे को सहारा देकर जल-धार से बाहर निकाल रहा था। आप उनमें की एक चींटी भी नहीं हैं ! आपने अपने को समझ क्या रखा है !

मैंने यह पत्र लिखते समय सोचा था, आपसे विनयपूर्वक क्षमा माँग लूँगा; परन्तु 'घायल की गति घायल जाने', आप जान ही क्या सकते हैं !

आप मेरे मित्र बनते हैं ! गोस्वामीजी की एक चौपाई है—'धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी, आपत्काल परखिए चारी।' शीशे में अपना मुँह तो ज़रा देखिए····हा····हा····हा····आप मित्र हैं !··छिः !

आपका—

ज्योतिस्वरूप वर्मा।"

"पुनश्च:

आपको चुनौती है, आप इस पत्र को फाड़कर रद्दी की टोकरी में फेंक दीजिएगा। अगर मेरे तपस्वी-जीवन का एक क्षण भी भगवान् की इस अद्भुत सृष्टि का क्षण है, तो जिस तरह उस दिन आपने मुझे रात-भर तड़पते देखा है, एक दिन सारा परिवार चारों ओर से घेरकर खड़ा-खड़ा टुकुर-टुकुर देखता रहेगा—उसी तरह आपको तड़पते हुए। यह मेरे अन्तर की वाणी है और सत्य होकर रहेगी।

ज्यो०।"

दादा ने पत्र डाक में छोड़कर एक संतोष की साँस ली।

काल की गति बड़ी विचित्र है। त्रिभुवन बाबू सोचते थे कि मैंने वर्मा-जी को टहलाकर बड़ी बुद्धिमानी का कार्य किया है; किन्तु चार दिन बाद जब दादा का यह पत्र उनको मिला, तो वे व्याकुल हो उठे; उन्होंने सुरेन्द्र के हाथ उनके यहाँ एक पत्र भेजा। उसमें केवल चार पंक्तियां थीं, किन्तु उन पर आँसुओं के स्पष्ट चिह्न बने हुए थे। उसमें लिखा था:

"प्रिय वर्माजी,

मैंने आपका पत्र पढ़ा। एक बार नहीं, दस बार पढ़ा। मेरी पत्नी ने भी मुझे रोते देखकर उस पत्र को मेरे हाथ से छीनकर पढ़ ही लिया।

आपको नहीं मालूम है, जब मैं किसी मुकदमे में हार जाता हूँ, तब मेरी क्या दशा होती है ! आपने बहुतेरे धन-पशु वकील देखे होंगे; किन्तु मैंने अपने जीवन की जो बात आज तक गोपनीय रखी, प्रसंगवश वहआज मुझे आपसे कहनी ही पड़ी । हार जाने पर पैरवी की स्वीकार की हुई सारी रक़म मैं अपने मुवक्किल को वापस लौटा देता हूँ ! मुझे दुःख है कि आपके केस में भी मैं हार गया हूँ । इसलिए मेरी विनय है कि जब तक आपकी समस्या सुलझ न जाय, आप मेरे यहाँ सहर्ष आकर ठहरें । शायद मैं आपकी कुछ सेवा कर सकूँ। पत्र मिलने के पश्चात् अब तक मैंने खाना नहीं खाया। आप जब पधारेंगे, तब आपके साथ ही 'ब्रेकफास्ट' करूँगा ।

आपका बन्धु—
त्रिभुवननाथ ।"

पत्र पाते ही दादा चल दिए और जब त्रिभुवननाथ के यहाँ पहुँचे, तो वे उनके कण्ठ से लग गए । उनकी आँखें आँसुओं से तर थीं । दादा ने उनके आँसू पोंछे और गद्-गद् कण्ठ से बोले—"देखो त्रिभुवन, मैं एक दुःखी प्राणी हूँ । इसलिए मैंने जो कुछ तुमको लिखा, उसका तुम कुछ खयाल न करना; मैं अब तुमसे क्षमा चाहता हूँ ।"

दादा उनके यहाँ ठहरे और रात फिर आई—वैसी ही नागिन-सी लपकती, काली, दर्दभरी भयावनी रात ! त्रिभुवन बाबू चुपचाप लेटे थे और दादा करवटें बदल रहे थे । माली सो गया था । अब कहीं से कोई स्वर सुनाई नहीं पड़ता था । मिलों में काम करनेवाले मज़दूर, दैनिक पत्रों के छापेखानों में 'नाइट-ड्यूटी' पूरी करके घर की ओर शिथिल तन-मन-प्राण प्रस्थान करनेवाले कम्पोज़ीटर और प्रूफ़रीडर, अपर इंडिया एक्सप्रेस से आए हुए यात्री पैदल, साइकिल और इक्के से आ-जा रहे थे । शहर की गन्दगी ढोनेवाली गाड़ी का खटर-खट्ट स्वर कभी-कभी फूटकर बँगले के अन्दर आ जाता था । शंटिंग करते हुए रेल के डब्बे जब परस्पर भिड़ जाते अथवा सिगनल न पाने के कारण कोई मालगाड़ी ही लाइन पर रुक जाती, तो इंजन से निकलती हुई आवाज़ का भयानक स्वर निखिल गगन-मण्डल में

व्याप्त होकर रह जाता; लेकिन सब एक साथ नहीं, उतने ही अन्तर से, जितने त्रिभुवननाथ और दादाजी के परस्पर-विरोधी मानस-स्वर।

दादा के कान अब फिर वहीं जा लगे थे। उसी छालदीवारी पर, जहाँ से त्रिभुवनबाबू उन्हें खींच लाए थे। उनकी दृष्टि उस प्रकाश की ओर स्थिर हो गई थी, जो एक बरामदे से आ रहा था और जहाँ से रोने और किसी के कराहने का स्वर भी उन्हें सुनाई दे जाता था।

बड़ी देर तक वे वहीं खड़े रहे। फिर एक बार वे अपने स्थान पर लौटे। देखा—त्रिभुवन बाबू, गम्भीर निद्रा में लीन हैं। माली अपने क्वार्टर के आगे बिना बिस्तर की नग्न चारपाई पर अन्टाचित्त लेटा है और सोते-सोते होंठ फुलाता और बजाता हुआ कभी-कभी फुस्स करने लगता है!

दोनों ओर से निश्चिन्त-से होकर दादा छालदीवारी के पास आए, उचके और दूसरी ओर पिंडलियों तक गहरी गीली मिट्टी के कीचड़ में जा गिरे! एकाएक फच्च-सा एक शब्द हुआ। दादा को ऐसा मालूम पड़ा, कि अब मैं पकड़ा गया—नाक कटी। अब कमरे के अन्दर बैठी हुई कोई नर्स इस आवाज़ की भनक पाकर इधर ही दौड़ पड़ी और मुझे कीचड़ में सने ऐसे वीभत्स रूप में पाकर 'पुलिस-पुलिस' कहकर चिल्लाई!

एक बार उनके मन में आया कि त्रिभुवन बाबू ठीक ही कहते थे, मर्यादा का पालन तो हमको करना ही पड़ता है। लेकिन फिर तत्काल जैसे सहस्र कण्ठों से चिल्ला-चिल्लाकर कोई उनसे कहने लगा—

'मर्यादा का पालन वही लोग करते हैं, जिन्हें कभी जीवन का विष अलग-अलग, एक-एक घूंट, पीने का अवसर नहीं मिलता। दूसरों के बनाए और चलाए हुए मार्ग पर चुपचाप चलते जाना ही जिन्होंने सीखा है, जब वे पैदा हुए तब दरवाज़े पर शहनाइयाँ नहीं बजीं; जवान हुए तो सौ-पचास मील दूर रहनेवाले लोगों ने भी जिनकी शक्ल का परिचय नहीं प्राप्त किया और जब वे मर गए, तो उनकी शव-यात्रा के पीछे-पीछे दस-पाँच आदमी से अधिक नहीं गए, उनका जन्म और मरण उन पशुओं के समान

बीता, जो आज की सभ्यता में नित्य बधशालाओं में आ-आकर कूच कर जाया करते हैं !

मर्यादा! · · · ·मर्यादा! ·· · · ·मैं मर्यादा का क्रीतदास नहीं हूँ। मैं दूसरों के बनाए हुए मार्ग पर चलनेवाला पंगु, असहाय, जड़ और मशीन का पुरज़ा नहीं हूँ। मैं मनुष्य हूँ; मैं हृदय रखता हूँ। उस हृदय में अनन्त सोते, झरने, सरोवर और सरिताएँ रखता हूँ मैं। मैं दिल रखता हूँ जी, मैं कोई ऐसा-वैसा साधारण व्यक्ति नहीं हूँ।'

उनके पैर अब भी कीचड़ में धँसे हुए थे। उनके पास केले का एक वृक्ष था। उनके सिर के बिलकुल पास अधपके केलों की एक धँवर—डेढ़ हाथ लम्बी—लटक रही थी। उनकी कमर के पास उसी केले के एक सूखे पत्ते की कोर उनकी शीतल, कोमल त्वचा का स्पर्श कर रही थी और उधर बराण्डे से आइडोफ़ारमिक बू आ रही थी।

दादा चुपचाप कीचड़ में से अपना पैर निकालकर एक कटहल के वृक्ष के नीचे, उसके तने की आड़ में छिपकर बैठ गए। उनके मन में आया—जान पड़ता है, प्रतिभा ने अपना कार्य समाप्त कर दिया है और मरीज़ को थोड़ा आराम मिल गया है।·······तो अब वह बाहर नहीं निकलेगी। कब से मैंने उसे नहीं देखा, जब कि वह मेरी पत्नी है ! कहीं ऐसा न हो कि काल की बीस वर्ष की इस अवधि ने उसका स्वास्थ्य और सौंदर्य नष्ट कर डाला हो !

नहीं, नहीं, मेरी प्रतिभा लेडी-डॉक्टर है। वह अपनी रूप-सम्पदा का संरक्षण जानती है। किन्तु जो प्रतिभा आज लेडी-डॉक्टर है, वह अब तो मेरी पत्नी नहीं है। नहीं, नहीं, वह मेरी ही पत्नी है और सदा मेरी ही रहेगी।

आँसू की दो बूंद पलकों के नीचे लुढ़क ही पड़ीं और तब कमीज़ उठाकर उन्होंने झट से उन्हें पोंछ डाला।

खट्ट से किसी चीज़ की आवाज़ हुई। मालूम हुआ, कोई उठा है। फ़ोन की घंटी बजी। कुछ स्पष्ट और अस्पष्ट स्वर सुनाई पड़े। एक कमरे से दूसरे कमरे में तेज़ी से गतिशील चप्पलों के स्वर। एक झटके के साथ कुछ फुसफुसाहट, फिर तेज़ी के साथ दरवाज़े का एक किवाड़ खुलने की

आवाज़, फिर कुर्सी घसीटने का स्वर, फिर एक सन्नाटा––कहीं कुछ नहीं––कोई स्वर नहीं––कोई आवाज़ नहीं। दादा सोचने लगे, यह बात क्या है कि कोई कुछ नहीं बोल रहा है। कहीं प्रसूता नारी का प्राणान्त तो नहीं हो गया !

इतने में एक नारी बाहर निकली, जिसके पैरों की जूतियाँ बकलेदर की थीं। जिन पर सुनहले काम की रेखाएँ बिजली की रोशनी में दूर से ही झलक मारती थीं; फिर दुग्धधवल साड़ी का निम्नभाग······ओह ! निश्चयपूर्वक यह प्रतिभा है। तो क्या उसका जीवन भी साधना का जीवन है ? कोई शृंगार नहीं ! नर्स के हाथ में जग है, कन्धे पर टावेल लो, उसने लाल साबुन उठाया। वह उसका हाथ धुला रही है। और अरे! वह यह क्या कहने लगी––"मैं समझती थी, ऐसा नहीं हो सकता। एक ही बच सकता है। लेकिन ईश्वर की लीला अनोखी है।"

यकायक साबुन की बट्टी हाथ से फिसलकर कुछ फासले पर जा गिरती है। लो, नर्स उसे उठाने के लिए आगे बढ़ी।

इतने में ही उसकी निगाह अकस्मात् उस छाया की ओर जा पड़ी, जो दादा की थी, जो कटहल के वृक्ष के नीचे खड़े-खड़े उधर एकटक देख रहे थे। कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि नर्स साबुन हाथ में लेकर ठिठुक गई और उधर वर्मा जी के शरीर की छाया तने की आड़ में हो गई।

नर्स बोली––"कटहल के नीचे मुझे कोई आदमी मालूम पड़ता है, दीदी !"

प्रतिभा ने भीतर जाते हुए जवाब दिया––"माली को जगाओ, चौकीदार को उठाओ। देखो कौन है ?"

एक बार दादा के मन में आया––'उन्हें इसी अवस्था में यहीं बैठा रहना चाहिए। उन्हें इसी दशा में पकड़ा जाना चाहिए। वे कोई बयान न देंगे। और बयान में केवल एक वाक्य कहेंगे––मैं···मैं···मैं प्रतिभा का ····!'

और तत्काल उनकी आँखें भर आईं !

इतने में त्रिभुवन बाबू की टार्च उनके सिर पर आ पड़ी और दादा एक

क्षण का भी विलम्ब किये बिना ही उचककर फिर उस पार कूद गए। पहले दोनों चुप रहे। थोड़ी दूर, चार कदम, आगे-पीछे चले। आगे दादा, पीछे त्रिभुवन। दादा कह रहे थे—"शायद आप ही ठीक कहते थे। मर्यादा का उल्लंघन जितना आवश्यक है, मानवात्मा की अभिव्यक्ति के लिए उसका पालन उससे कम आवश्यक नहीं। अगर स्वाभिमान जीवित है, तो मनुष्य भी जीवित है। अगर व्यक्ति की प्रतिष्ठा जीवित है, तो उसका व्यक्तित्व भी जीवित है। मैं···मैं···प्रतिभा से मिलूँगा, लेकिन पति के रूप में —एक जासूस और चोर के रूप में नहीं।

दोनों अपनी-अपनी चारपाइयों के निकट पहुँच चुके थे। और उधर प्रतिभा के उस बँगले की मुंडेर के पास, उसी कटहल के वृक्ष के नीचे, नर्स कह रही थी—"यहाँ, इसी जगह, मैंने आदमी की उस छाया को देखा था।"

फिर देर तक उस बँगले के सभी लोग चक्कर काटते रहे। नाना प्रकार के वाक्य और कथोपकथन चारपाई पर लेटे हुए दादा और त्रिभुवन के कानों पर पड़ रहे थे; लेकिन दोनों चुप थे। दादा मन-ही-मन हँस रहे थे और त्रिभुवन काँप रहे थे!

: १० :

दिलीप के परिचितों की संख्या काफ़ी अधिक थी, पर जिसे आत्मीय कहा जा सके, ऐसे कम थे। उनमें भी सुरेन्द्र का स्थान प्रथम था। वे त्रिभुवननाथ के सुपुत्र थे। उनका मकान रास्ते में पड़ता था। इसलिए जब कभी दिलीप बाहर से आता, तो सुरेन्द्र के मकान के आगे से ही निकलता। प्रायः दोनों रास्ते में मिल जाते। किन्तु यदि कभी सुरेन्द्र मकान के अन्दर रहता, तो भी दिलीप के आगमन की सूचना उसे सहज ही मिल जाती। ऐसा भी कभी-कभी हुआ है कि एक बैठक पहले सुरेन्द्र के यहाँ हो चुकी है, तब दिलीप अपने घर गया है।

उस दिन दिलीप जब सुरेन्द्र के मकान के सामने से निकलने लगा, तो सुरेन्द्र रास्ते में खड़ा हुआ एक व्यक्ति से बात कर रहा था। यकायक दिलीप को देखते ही बोल उठा—"आ गए दिलीप ! मगर चार ही दिन में जान पड़ता है, बीमार होकर लौटे हो !" और दिलीप के ताँगे के निकट आ गया। दिलीप का रुख देखकर कोचवान ने भी ताँगा खड़ा कर दिया।

दिलीप को उस समाज से चिढ़-सी रहा करती है, जो किसी प्रकार का कोई श्रम किये बिना भोजन, वस्त्र और रहन-सहन में उच्च कोटि का जीवन व्यतीत करने में समर्थ रहता है। सुरेन्द्र भी इसी प्रकार के समाज का व्यक्ति है। इसलिए दिलीप ने कह दिया—"रात-दिन सेवा-कार्य में लगे रहने से चार दिन में, मैं अगर बीमार ही होकर लौटा, तो भी तुम्हारे आराम, सुख और मनोरंजन में, आशा है, किसी प्रकार का अन्तर न पड़ा होगा।"

"आराम, सुख और मनोरंजन ! खूब !" हँसता हुआ सुरेन्द्र बोला—"मगर तुम्हारी ईर्ष्या की इन तीनों ही वस्तुओं के मान और परिमाण दोनों ही सम्बद्ध व्यक्ति की रुचि और संस्कृति पर निर्भर करते हैं। इसलिए मैं जानना चाहता हूँ कि अब तो तबियत ठीक है न ?"

"हाँ-आँ ठीक है। थोड़ी-सी कमज़ोरी ज़रूर······।"

"ठहरोगे न दो-एक दिन ?"

"ठहरने की गुंजाइश तो नहीं है। लेकिन अगर विवश ही हो जाऊँ, तो एक-आध दिन ठहर भी सकता हूँ।"

"अच्छा चलो। मैं दोपहर में मिलूँगा।"

"लेकिन मैं दोपहर में भी व्यस्त रहूँगा।"

"अच्छा, तो गुडबाई !" कहकर सुरेन्द्र दिलीप की ओर देखने लगा।

तब दिलीप स्वतः ढीला पड़ गया। बोला—"अच्छा तुम दोपहर को ही आ जाना, मगर देखो अधिक प्रतीक्षा न कराना। मैं बारह के बाद घर से चल देना चाहता हूँ।"

इतने में ताँगा चल पड़ा। सुरेन्द्र दो क़दम साथ-साथ चलता हुआ कह रहा था—"जिन लोगों को मेरे मिलने के समय अक्सर काम निकल आता है, अब मैंने उनसे मिलना छोड़ दिया है।"

दिलीप भी सुरेन्द्र की इस बात पर चुप न रह सका। वह बोल उठा—"मुझे तो जान पड़ता है किसी साथी के द्वारा पार्लियामेंट में, इस आशय का एक मन्तव्य भेजना ही पड़ेगा, जिसके द्वारा साठ वर्ष के नीचे की अवस्था के प्रत्येक व्यक्ति को, सात-आठ घंटे का कोई-न-कोई कार्य करना अनिवार्य होगा।"

सुरेन्द्र इसका भी उत्तर अवश्य देता, पर तब तक दिलीप का ताँगा कुछ अधिक आगे बढ़ गया था।

बारह बज गए थे। बल्कि दो-तीन मिनट और आगे चल गए थे। इतने में दिलीप को कुछ ऐसा जान पड़ा, जैसे बैठक में, चाचाजी किसी से बातें करते-करते ज़ोर से चिल्ला उठे हों। तब झट से उसने कपड़े पहने। फीतेदार ब्राउन जूते वह पहनने जा ही रहा था कि यकायक उसकी दृष्टि आकाश की ओर जा पड़ी। बादल उड़े चले जा रहे थे और पृथ्वी पर धूप छिटकी हुई थी। अन्दर से चाची के चीख़ने की आवाज़ आ रही थी और माँ पास आकर कह रही थीं—"अब कहीं मत जा भैया! चौमासे की धूप बड़ी कड़ी होती है। फिर आज तो अभी तूने मखाने की खीर ही थोड़ा-सी खाई है। धूप में निकलने से कहीं तबियत ज़्यादा ख़राब न हो जाय।

"मैं कोई ऐसा-वैसा मोम का पुतला हूँ, जो······!" दिलीप के मुख पर माँ के प्यार की स्वीकृति का उल्लास था, कथन में कर्त्तव्यनिष्ठा का अभिमान। "पर मेरे लिए तो तू मोम से भी कोमल है भैया! और जुही वाले दादा भी आज आये हैं·····!" माँ सीधी तरह से न रोककर उन कारणों को दाँव पर लगा रही थीं, जो दिलीप को इस समय बाहर जाने से रोक सकते थे। पर दिलीप बाहर जाने को बिलकुल तैयार था। इसलिए उसने कह दिया—"तो मैं क्या

करूँ ?" और साथ ही वह दरवाज़े से आगे निकलने भी लगा। उसे अपने उत्तर की भाषा में रूखेपन का स्वतः अनुभव हो रहा था। किन्तु कथन की स्पष्टता के नाते वह विवश था। ऐसे समय उसे यह सोचते देर न लगी कि ये माँ हैं और माताएँ तो इस तरह कहती ही रहती हैं। "अरे मेरी बात तो सुनता जा। फिर जो तेरे मन में आये, सो करना।" कहकर माँ अन्दर चारपाई पर बैठ चुकी थीं और दिलीप तब दरवाज़े के बाहर निकल चुका था। तभी दिलीप माँ की बात पर ठहर गया और बोला—"कहो माँ, लेकिन जल्दी कहो!"

"कहना मुझे सिर्फ इतना है कि लड़की मेरी देखी हुई है।" दिलीप के मुख पर जैसे आँखें बिछाती हुई माँ बोली—"पढ़ी-लिखी, सुशीला और सुन्दर है!"

"पढ़ी लिखी?"—ठीक।

"सुन्दर?"—ठीक।

"लेकिन सुशील?"—ऊँहुँ! सोचता और अनेक प्रकार की कल्पनाओं से लड़ता-झगड़ता एक तो दिलीप बड़ी कठिनाई से अपनी मुसकराहट रोक सका, दूसरे उसने तुरन्त एकदम तेज़ी के साथ कह दिया—"देखो माँ, जिस हालत में हम रहते हैं उस हालत में—और खास तौर से आजकल—ब्याह-ब्याह की बात सोचना मैं सरासर बेवकूफ़ी, मूर्खता—और अपने साथ तो एक ज़ुल्म और अन्याय समझता हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि जब घर-घर रात-दिन का अपमान, कपट, तिरस्कार और उल्लू बनाते रहने का धंधा धुआँधार चल रहा हो तब....!" "जब तू छोटा था भैया, तब तेरे पिता कहा करते थे—मेरा दिलीप मेरा कहना चाहे न माने, लेकिन माँ की बात, माँ की आशा, वह ज़रूर पूरी करेगा।"

कथन के प्रकार में—दिलीप अनुभव करता है—माँ का कण्ठ भरा हुआ है। उनकी वाणी थरथरा रही है, उनकी आँखें डबडबा रही हैं, पलक भीग उठना चाहते हैं!

दिलीप स्तब्ध हो उठा। क्षण-भर वह कुछ कह न सका। उसके बायें

बग़ल में बैग था, उसका दायाँ हाथ अब दरवाज़े के किवाड़ पर आ गया था और सड़क पर लाउड-स्पीकर से कोई डेंटिस्ट साहब यह कहते जा रहे थे कि पारसाल मैंने सात हज़ार मरीज़ों को पॉयरिया से बचाया; पर इस साल मैंने दस हज़ार मरीज़ों को बचाने की प्रतिज्ञा की है। इस कथन में डेंटिस्ट के 'प्रतिज्ञा' शब्द-प्रयोग पर उसे हँसी आ गई। और उसने सोचा कि इसमें 'भीष्म' शब्द छूट गया है ! तभी उसने पूछा—"चाचाजी क्या कहते हैं ?"

"वे क्या कहेंगे ? उनको तो यह कहने में बड़ी खुशी होती है कि दिलीप ब्याह करने को तैयार नहीं।"

माँ का इतना कहना था कि तपाक से दिलीप बोल उठा—"वे बिलकुल ठीक कहते हैं।"

"लेकिन बेटा, हम अपने हितों की ओर भी देखना है। बहू के आ जान पर हमारा बल कितना बढ़ जायगा, इतनी-सी बात तेरी समझ में क्यों नहीं आती ?"

"अच्छा, तो तुम राजनीति की बात कर रही हो ! लेकिन मैं—मैं विशुद्ध नैतिकता के अतिरिक्त कोई बात ही नहीं सोचता। अगर चाचाजी की आत्मा को पूर्ण संतोष और शान्ति मिलने की सम्भावना हो, तो मैं तुमको इसी तरह साथ लेकर अभी इसी क्षण इस घर से विदा ले लेना पसन्द करूँगा।" इसके बाद दिलीप क्षण-भर रुका और एक आदर्श वाक्य कहकर चल दिया—"हम एक आदर्श को लेकर पैदा हुए हैं और एक आदर्श के पालन में ही मर भी जाना चाहते हैं !" उसकी वाणी में तेज उतर आया था। उसकी आँखें ज्वाला से खेल रही थीं।

इतने में कालीचरन गिलास में पानी लिये हुए उधर से आ निकला और दिलीप को देखकर बोला—"सरकार आपको पूछ रहे थे।"

माँ अन्दर जाने लगीं, धीरे-धीरे, कुछ सोचती हुई, भविष्य के एक सुनहरे स्वप्न की कल्पना प्राणों में छिपाये।

दिलीप नीचे की बैठक की ओर चल दिया—उसी तेज़ी के साथ,

जो अब धीरे-धीरे उसकी प्रकृति बन गई थी।

दिलीप आगे बढ़ा, तो उसे मालूम हुआ, बैठक में पूर्ण शान्ति है। कोई वार्ता चल ही नहीं रही ।

तब उसके मन में आया—"इस शान्ति के अन्दर कोई विस्फोट सो रहा है। दोनों पक्षों में से किसी एक ने कोई ऐसी बात अवश्य कह दी है, दूसरे को जिसका उत्तर सोचना पड़ रहा है। हृदय की बात छिपाई जा रही है, शब्दों के घटाटोप में फुसलाने की कला का निर्माण हो रहा है !·····खैर जी, देखा जायगा। अब मैं दो मील तक पैदल चल सकता हूँ !

घर के अन्दर से सदर फाटक को पार करने के लिए सीधा रास्ता है, चाचा की बैठक का एक दरवाज़ा उसी में खुलता है। इस समय वह बिलकुल खुला था। उस पर केवल एक चिक पड़ी हुई थी। दिलीप उसी को उठाकर अन्दर जा पहुँचा। सहसा उसकी दृष्टि पहले दादा पर जा पड़ी। तब आगे बढ़कर उनकी चरण-धूलि उसने अपने मस्तक से लगाई। उसके पश्चात वह चाचा के पैरों की ओर बढ़ा ही था कि उन्होंने स्वयं अपने पैर पीछे खिसका लिये ! उनके पैर रबर के स्लीपरों के साथ कुछ इस ढंग से रखे हुए थे कि बायाँ पैर आगे था, दायाँ पीछे। इसके सिवा उनमें अन्तर भी डेढ़ बालिश्त से कम न था। मालूम नहीं क्यों, आज और भी एक नई बात थी कि अगरुबत्ती दक्षिण के दोनों कोनों पर सुलग रही थी। पंखा मन्दतम गति से चल रहा था। अलमारियों के बीचवाली खूंटियों में से एक पर छतरी अब भी टँगी थी, मगर तीसरी खूंटी पर सदा टँगा रहने वाला हंटर आज अनुपस्थित था। दादा सफ़ेद किरमिच के जूते पहने हुए थे, जिसका तल्ला मोटी सफेद रबर का था। लेकिन आज वे अपने साथ एक बन्दूक भी लाये थे जिसको उन्होंने अपने दोनों पैरों के बीच खड़ाकर रखा था, जिस पर खाकी किरमिच का आवरण चढ़ा हुआ था।

गिरधारी लाला का हुक्का अब भी गुड़-गुड़ बोल रहा था। किन्तु दादा

बिलकुल चुप थे। उनके मुख पर उदासीनता की म्लान छाया स्पष्ट जान पड़ती थी। वह एक ऐसी छाया थी, जो मूक होने पर भी निःश्वास-जैसी मुखर थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो हृदय की छिपी आशाओं और मनोकामनाओं के अबोध कण्ठ पर किसी पिशाच ने हथौड़े से कील ठोंक दी हो! मानो आँखें निकली पड़ रही हों, रक्त की पिचकारियाँ छूट पड़ी हों और कण्ठ से तो ऐसा मर्मान्तिक स्वर फूट पड़ा हो, जिसको सुनकर मानवात्मा के कर्ण-रन्ध्र बधिर पड़ जाना चाहते हों!

हाँ, तो जिस समय गिरधारी लाला ने अपने पैर खिसका लिए उस समय हुक्के का धुआँ मुँह की चीरन से एक बार दायें से निकला, एक बार बायें से! और इसके पहले कि दिलीप ही कुछ कहे, स्वतः उन्होंने कह दिया—"बैठो!"

गिरधारी लाला व्यवहार-शास्त्र के पंडित थे। प्रायः प्यार के अवसर पर उनकी भाषा और मुख की शोभा में एक निखार आ जाता था; किंतु जब वे हृदय से प्यार न कर पाते, तब कृत्रिम प्यार दिखलाना वे एक प्रकार की कायरता समझते थे। अतः आज उन्होंने जब दिलीप से कह दिया—"बैठो"—तब दिलीप को कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि जिस अप्रिय प्रसंग को वह निरन्तर टाल रहा था, आज वही एकदम से निरावरण और वीभत्स रूप में उपस्थित होने जा रहा है।

यकायक हुक्के को थोड़ा पीछे हटाते हुए लाला गिरधारी ने पूछा—"तुमने दादा से कुछ कहा था?" प्रश्न के क्षण उनकी भृकुटियाँ कुछ सीधी हो गई थीं।

दिलीप का हृदय धड़क रहा था। एक बार तो उसके मन में आया कि जो कुछ भी उसे कहना है, एक साथ कह जाय। पर फिर यह सोचकर कि त्यागी के लिए यह भी एक तुच्छता ही है कि वह निम्न कोटि के स्वार्थों पर अपने आत्मीय सम्बन्धों की बलि दे डाले। अतः उसने बात को कुछ परिष्कृत रूप देकर कह दिया—"हाँ, कहा तो था कुछ।"

"कुछ कहा था, या मेरी शिकायत की थी?" उनके कथन में स्पष्टी-

करण का उद्देश्य अधिक स्पष्ट था; क्योंकि उनके स्वर में इस बार प्रकृत कर्कशता का अभाव था।

और इसका दिलीप पर अच्छा प्रभाव पड़ा। उसने सरल वाणी में कह दिया—"शिकायत के रूप में तो नहीं; लेकिन हाँ, जैसे कोई अपना दुःख प्रकट करता हो, बिलकुल उसी तरह केवल इतना कहा था कि मेरी पढ़ाई छुड़वाकर चाचाजी ने अच्छा नहीं किया।"

"हूँ। तो यह बात है।" एक क्षण रुककर जब गिरधारी लाला बोले और फिर चुप हो रहे, तो दिलीप को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे इस कथनमात्र से महाभारत के प्रथम दिवस का युद्ध समाप्त हो गया!

दिलीप अब भी सोफ़े के आर्म के सहारे खड़ा था। वह उस समय भी बैठा न था, जब गिरधारी लाला ने उसे बैठने की आज्ञा दी थी।

दादा इसी समय बोल उठे—"तुम समझते थे, यह जाल मेरा रचा हुआ है।" वे अभी इतना ही कह पाए थे कि गिरधारी लाला ने तीव्र दृष्टि से देखते हुए दादा से कह दिया—"अब आपको कुछ भी कहने की ज़रूरत नहीं रह गई। मुझे सब मालूम हो गया।"

दादा तब चुप रह गए। और गिरधारी लाला ने दिलीप से कह दिया—"अब तुम जा सकते हो।"

दिलीप चला गया। जाते समय वह सोच रहा था—'दादा ने बहुत जल्दी कर दी!'.....गिरधारी लाला कुरसी से उठे और कमरे में इधर-से-उधर टहलने लगे। थोड़ी देर तक तो दादा चुप रहे, अन्त में वे भी बन्दूक उठाकर खड़े हो गए और बोले—"अब मैं भी चलूँगा गिरधारी! सोचता था, तुम कोई रास्ता निकालोगे; लेकिन जब दशा यह है कि 'मेरे मन कुछ और है—कर्त्ता के कुछ और।'—तब मैं क्या कर सकता हूँ, और तुम भी क्या करोगे?"

कथन के साथ वे दरवाज़े की ओर बढ़े ही थे कि गिरधारी लाला हा-हा-हा-हा! हँस पड़े और बोले—"बस, इतने में ही पैर उखड़ गए! अरे इस तरह की बातें तो चलती ही रहती हैं। वर्षा में ही सदा पानी नहीं

बरसता, कभी-कभी पौष और माघ में भी बरस जाता है, जब घोर शीत के दिन होते हैं और दाँत से दाँत बजने लगते हैं ! पर उससे संसार का कौन सा काम—जीवन का कौन सा व्यापार रुका रहता है ।"

"मानता हूँ कि नहीं रुकता" दादा दरवाज़े पर ही खड़े-खड़े बोले—"लेकिन कोई इस तरह अपने पैरों में कुल्हाड़ी नहीं मारता । भगवान् करे, तुम हज़ार वर्ष जियो । मगर गिरधारी, कोई नहीं जानता कि कब क्या होनहार है ! बुरा न मानना । क्या उमर होगी तुम्हारी ? अड़-तालीस न ? तो क्या तुम समझते हो कि बीस-पचीस वर्ष से भी और अधिक चलोगे ? मगर मैं साफ़ कहना चाहता हूँ कि ज़माने को देखते हुए इतना भी चलना तुम्हारे लिए बहुत कठिन है । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मृत्यु द्वार पर खड़ी है । वह मुँह बाये हुए है और मनुष्य हर घड़ी उसकी ओर खिचता चला जा रहा है । अगर चार दिन बाद तुम्हारी भी बारी आ गई तो जिन लड़कियों पर आज तुम अपना सर्वस्व न्योच्छावर करके परमानन्द लाभ कर रहे हो, तुम्हारी अनुपस्थिति में जब वे ससुराल में होंगी, तब काम-काज के अवसरों पर बुला-बुलाकर कौन उनका मन बोधन करेगा ? एक दिलीप न ? और उसी दिलीप की मनो-कामनाओं को फर्श की धूल चाटने पर मजबूर करते हुए तुमको लाज भी न आई ?"

कालीचरन आया और पान रखकर चला गया । गौरैया आई और दरवाज़े के बाहरी खूँटे पर फुदककर उड़ गई । दादा पुनः उसी सोफे पर आ गए, जिससे उठकर अभी भाग रहे थे । बन्दूक उन्होंने खूँटी पर टाँग दी, टोपी उतारकर अपने पास रख ली । पर गिरधारी लाला टस से मस नहीं हुए । वे चुप ही बने रहे । पहले तो वे कमरे में इधर-उधर चुपचाप टहलते रहे, फिर सोफ़े के एक हत्थे पर हाथ रखते हुए बोल उठे—"बहुत सी बातें हैं दादा ! कोई एक बात हो तो उसे बतलाया भी जाय । आपको मालूम है कि इस घर का मासिक खर्च कितना है ?"

"सब मालूम है गिरधारी" दादा बोले—"मुझसे कोई बात छिपी नहीं है।"

"आपको मालूम है कि शारदा का विवाह मुझे इसी वर्ष करना है ?

"मालूम है।"

"आपको मालूम है कि शारदा आदि पाँच बहनें हैं और उसकी छोटी बहन विमला भी अब ब्याहने योग्य हो गई है ?"

"मालूम है।"

"तो अब मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या दिलीप का अपनी इन बहनों के प्रति कोई कर्तव्य नहीं ? मान लीजिए कि दिलीप ने मेडिकल-कॉलेज की पढ़ाई समाप्त भी कर ली। फिर ? फिर उसको बिल्डिग के सिवा अपनी डिस्पेंसरी के लिए दस हज़ार रुपया चाहिए। बड़ी भाभी के खर्चों में कमी करने लगें तो दुनियाँभर की गालियाँ पड़ेंगी मेरे ही मुँह पर। फिर दिलीप को नेता बनने का चस्का लग रहा है। दीन-दुखियों का उपकार करने में ही वह अपना जीवन खपाना चाहता है। और हम ठहरे कोल्हू के बैल कि रात-दिन हमें जुते रहना है। आप ही सोचिए 'डॉक्टर साहब' बन जाने पर इस परिवार की नाव कैसे किनारे लगेगी ? कोई माई का लाल है खेवनहार ? आप मुझे समझा दीजिए, मैं उसके हाथ में पतवार देने को तैयार हूँ। आपने अभी बड़े ही मर्म-भेदी शब्दों में कह डाला—तुम्हें लाज भी न आई ? अब मैं आपसे पूछता हूँ मेरी और इस घर की लाज आज किसका मुँह देखती है ?"

दादा अब विचार में पड़ गए। एक वाक्य भी उनके मुँह से न निकला। दरवाज़े पर अंगूरवाला चिल्ला रहा था—"तीनै रुपया सेर लगाये।"

तभी गिरधारी दरवाज़े पर आकर बोले—"ए अंगूरवाले, इधर लाना।" और गिरधारी ने आधसेर अंगूर तुलवा लिये। फिर काली को बुलवाकर उनको अन्दर भेजते हुए कहा—"इनके नकुवे निकालकर दो तश्तरियों में लगा ला !"

काली जब चला गया, तब गिरधारी ने फिर कहना शुरू कर दिया—

"आपकी बात दूसरी है; आप तो घर के हैं, सब तरह से अपने हैं। लेकिन मैं चाहता हूँ कि गृहस्थी का नग्न रूप मुझे किसी के सामने न रखना पड़े। मैं अपनी मान-मर्यादा और आन पर मर मिटनेवाला आदमी हूँ। आप उस दिन आए, आपने कहा—'गिरधारी ज़िद मत करो, सौ रुपये छोड़ दो। यही समझ लो कि तुमने एक किसान की मदद की।' तब लाचार होकर मुझे आपकी बात मान लेनी पड़ी। पर उसी असामी से दिलीप को पाँच सौ रुपये निकालते हुए भी संकोच होता! मैं झूठ कह रहा हूँ? और यह तो कोई बात न हुई कि भूमि सारी जनता की है, इसलिए उसपर किसी को छदाम भी लेने का हक़ नहीं।... मैं साफ़ कहता हूँ, दिलीप तब तक इन बातों को समझ ही नहीं सकता, जब तक उसके सिर पर भार नहीं पड़ता। मैं तो उसका विवाह इसी वर्ष कर देता, पर सारी मुश्किल तो यह है कि वह घर पर ही नहीं ठहरता। आपने स्वयं देख लिया, उसको जनता के कामों से ही फ़ुरसत नहीं। फिर वे काम भी ऐसे कि उनके भरोसे रहकर आदमी चार दिन सम्मान के साथ नहीं जी सकता। बतलाइये, मैं झूठ कहता हूँ।"

दादा उठकर खड़े हो गए और तम्बाकू का पहला उबाल साफ़ करने के अनन्तर उन्होंने कह दिया—"आप उतना ही सत्य कहते हैं, जितना मुक़दमे की पैरवी में कोई वकील।" फिर बिना रुके कहते गए—"आपकी हाँडी में काफ़ी चावल नहीं हैं, तो आप पड़ोसी के घर में डाका डालकर यह कहना चाहते हैं कि उसके यहाँ ख़र्च ही क्या है! आपके पाँच लड़कियाँ हैं और उनके ब्याह के लिए आपने जो सबेरे-सबेरे, चारपाई से उठते ही, रोना आरम्भ कर दिया, तो आप चाहते हैं कि हम भी आपकी शक्ल देखते ही छाती पीटने लगें! लड़कियाँ ब्याहने को हैं, तो आप उनके पीछे दिलीप की ज़िन्दगी चौपट कर डालेंगे! तृष्णा और मोह सबको होता है, मगर बाएँ हाथ की पाँच अँगुलियों की रक्षा के लिए क्या आप दायाँ हाथ ही काट डालेंगे! जनता की सेवा को आप मूर्खता समझते हैं; क्योंकि आपको अपने बाल-बच्चों से बड़ा मोह है। पर जिन्होंने अपना सारा जीवन

ही जेलों में समाप्त कर दिया, वे भी आदमी थे और उनके दिल के अन्दर की धड़कनों में भी अपने बाल-बच्चों के लिए कम मोह, ममता और प्यार नहीं था। बात ऐसी करो गिरधारी, जो फब जाय। ऐसी मत करो कि सुनने वाला अपना मत्था ठोककर बोल उठे—"कहाँ आ फँसे!"

"अपना-अपना खयाल है।" तश्तरी में से एक लौंग उठाकर गिरधारी-लाला ने अत्यन्त संक्षिप्त-सा उत्तर दे दिया। तब दादा विचार में पड़ गए। वे सोचने लगे—अब तक जो बातें हुई, उनमें मेरे काम की केवल एक बात निकल पाई है। फिर जेब से उन्होंने एक बटुआ निकाला और थोड़ा-सा कत्था-सुपारी निकालकर मुँह में रख लिया। उसके बाद पीतल की चूनादानी में से चूना निकालकर उसकी गोली बना ही रहे थे कि पोस्टमैन ने दो चिट्ठियाँ कमरे के अन्दर फेंक दीं, जिनमें से एक को गिरधारी-लाला ने तुरन्त उठा लिया। परन्तु चश्मे के बिना उसे पढ़ते कैसे, इसलिए विवश होकर उन्हें अलमारी खोलनी पड़ी।

दादा उस समय सोच रहे थे—'दिलीप तब तक इन बातों को समझ ही नहीं सकता, जब तक उसके सिर पर भार नहीं पड़ता!'—बात तो सोलह आने सही है।—'मैं तो उसका विवाह इसी वर्ष कर देता, पर सारी मुश्किल यह है.....।'—तो जान पड़ता है—विवाह-सम्बन्धी तैयारियाँ भीतर-ही-भीतर चल रही हैं। और यहीं हम पिछड़ रहे हैं।'

इतने में चश्मा निकालकर गिरधारी ने मन-ही-मन वह पत्र पढ़ना प्रारम्भ कर दिया था। तभी दादा बोले—"क्या है गिरधारी?—किसकी चिट्ठी इतनी ज़रूरी आ टपकी कि हमारी बातचीत के बीच में ही उसे पढ़ लेना लाज़िमी हो गया!"

"कुछ नहीं, यों ही ज़रा···" गिरधारी लाला ने जान-बूझकर टहला देने की भाषा में कह दिया।

"फिर भी, मालूम तो कुछ हो।" दादा बोले। उनको भी ऐसा जान पड़ा कि चिट्ठी में कोई खास बात ज़रूर है।

सड़क पर खड़ा ताँगे का घोड़ा फुर-फुर बोल रहा था। उसी क्षण दादा

ने जो अपने हाथ का पृष्ठ-भाग नथुनों से लगाया, तो मालूम हुआ—दायाँ स्वर चल रहा है। फिर क्या था, उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"देखो गिरधारी, हमसे चालबाज़ी की बातें मत करो। साफ़-साफ़ बतलाओ, किसकी चिट्ठी है और उसमें क्या लिखा है ?"

इसी समय काली अंगूर ले आया। कोने में जो छोटी टेबिल रखी थी उसे दोनों के सामने रखा और उसपर उसने दोनों तश्तरियाँ जमा दीं। लेकिन उसी क्षण दादा ने एक तश्तरी चुपचाप उठाकर काली को देते हुए कह दिया—"इसे ले जाओ।" कारण की कल्पना किये बिना काली उनकी ओर देख कर रह गया ! बोला—"मालिक ······ ?"

किन्तु उसी समय दादा ने कह दिया—"मैं कुछ खा नहीं सकता गिरधारी। मुझे आज तुमसे लक्षणा के विवाह की समस्या सुलझानी है।"

तब लाला गिरधारी हँसते-हँसते बोले—"तो साफ़-ही-साफ़ यही क्यों नहीं कहते कि दिलीप के लिए डिस्पेंसरी खुलवानी है ?"

: ११ :

सुरेन्द्र के सामने पहुँचते ही दिलीप ने कह दिया—"तुम तो कहते थे मैं दोपहर में आ रहा हूँ।"

मुसकराते और अँगड़ाइयाँ लेते हुए गद्दी पर लेटे-लेटे सुरेन्द्र ने उत्तर दिया—"बस, आ ही रहा था।"

"पर ऐसा क्या काम कर रहे थे, जो आते ही रह गए, सवाल तो यह है। मालूम नहीं हम लोग समय का मूल्य समझना कब सीखेंगे ?"

"समय का मूल्य समझना हम लोग सीख चुके हैं। इसीलिए भोजन करने के बाद क्या सकाम और क्या निष्काम, किसी भी प्रकार की सेवा हम कभी स्वीकार नहीं करते। क्योंकि समय का मूल्य आँकते समय हम आराम का भी मूल्य आँक लेते हैं। और आजकल तुम्हारा भी कुछ ठीक नहीं।

सवेरे आए, फिर थोड़ी देर में जाने की तैयारी करने लगे। अब यह भी पता नहीं, कब आओ। आओ या बाहर से ही दिल्ली, बनारस, कलकत्ता कराची जहाँ चाहो चल दो। ऐसे उठल्लू आदमियों से मित्रता रखने पर अपने राम का विश्वास, अब धीरे-धीरे कुछ उठ-सा रहा है !"

"यह बहुत अच्छी बात सुनाई तुमने !" दिलीप गद्दी के पास पड़ी हुई कुर्सी पर बैठ गया और बोला—"मैं भी अब आगे उन्हीं लोगों से मित्रता का नाता चलाऊँगा, जो एक नम्बर के स्वार्थी, घोर आलसी और मक्खी-चूस होंगे। अवसर आने पर वादा करने पर भी, जो काम न आयँ, ऐसे ग़ैरज़िम्मेदार मित्र अगर जीवन में दो-चार भी मिल जायँ, तो सफलता निमंत्रण देकर मुझे अपने पास बुला सकती है !"

"वाह ! क्या बात कही है ! मगर यह भी ख़ूब रहा कि मैंने तुमको निमंत्रण नहीं दिया" और इसके बाद सुरेन्द्र ने कुछ ज़ोर से पुकारा—"अरे चतुर्भुज !"

"कोई नया नौकर रखा है क्या ?"

"नहीं तो। अरे वही चैतू है, अपना पुराना सिपाही। इधर एक हफ़्ता हुआ, मैंने उसको एक नया ख़िताब दिया है। काम करने में वह कितना तेज़ पड़ता है, यह तुमको मालूम ही है। मानो दो हाथों के बजाय चार हाथों से काम करता हो। तो बस, तरक़्क़ी के रूप में मैंने सोचा, क्यों न इसको चतुर्भुज का ख़िताब दे दिया जाय। हमारी पूर्व सरकार जिस पर ख़ुश होती थी, उसको ख़िताब देती थी कि नहीं ? तो बस, वही तरीक़ा अपने राम ने भी अपना लिया है।"

इतने में चतुर्भुज आ पहुँचा। वेश-भूषा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं है। मगर सफ़ाई पहले से कुछ इक्कीस दिखाई देती है।

सुरेन्द्र बोला—"देखो चतुर्भुज, इनका कहना है कि जब से चतुर्भुज के हाथ की चाय नहीं मिली, तब से तबियत ख़राब रहने लगी। देखा नहीं, सूखकर टिटिहरी हो गए हैं ! तो बस, इनको एक कप चाय तो ज़रा दिखा देना !"

चतुर्भुज चलने लगा, तो सुरेन्द्र बोला—"अरे सुनना। एक बात तो कहना भूल ही गया। गरम समोसे अगर न मिलें, तो फिर दो-चार खस्ता ही सही। पैसे तो तुम्हारे पास उस नोट में से थोड़े-बहुत बचे ही होंगे। अगर न बचे हों, तो अज्जो से माँग लेना, अम्मा से नहीं। भला!"

"मैं कुछ खाऊँगा नहीं अल्ल-बल्ल। समझे बेकार पैसे खराब कर रहे हो। जानते हो, मेरी तबियत ठीक नहीं है।"

"मरी तबियत। हमारे साथ रहो तो एक महीने में पहाड़ी धीरज बना के छोड़ूँ! क्या समझते हो मुझको?"

"अच्छा, बकवास बहुत हो चुकी। अब कुछ स्वार्थ-परमार्थ की भी चर्चा हो जाय।"

"हो जाय। मगर एक शर्त है।" और सुरेन्द्र दिलीप के बिलकुल कान के पास मुँह ले जाकर बोला—"मुझे मालूम है कि तुम आजकल चन्दे की कमाई साफ़ कर रहे हो! इसलिए और चाहे जो मसला पेश करना, मगर पैसे का नाम मत लेना।"

"देखो सुरेन्द्र, मैं उन चन्दाखोर लोगों में नहीं हूँ, जो सम्पूर्ण देशभक्त जाति के मुख-मंडल पर दोनों हाथों से कलंक की कालिमा पोतने पर तुले रहते हैं! मैं उन बने हुए देशभक्तों में भी नहीं, जो अपने अन्दर-ही-अन्दर पनपनेवाले कोढ़ को इसलिए छिपाया करते हैं कि कहीं उसी लपेट में वे स्वयं भी न आ जायँ! पर जो लोग मानवता के दारुण उत्पीड़न के क्षण अपव्यय अथवा ग़बन की प्रचारित बातों से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं, उनको यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ऐसा युग कभी नहीं आयगा, जब पैसे के नाम पर मुँह फेर लेनेवाले धना-धीशों की हृदयहीनता इसलिए प्रशंसित और सराहनीय समझ ली जायगी कि सेवा के कार्य में दम तोड़नेवालों में से किसी एक के लिए, चन्दे की रक़म में से, दस रुपये कफ़न के लिए दे दिए गए थे! पिछले दिनों बाढ़-पीड़ित जनता के बीच रहकर मैंने ऐसे-ऐसे भयानक दृश्य देखे हैं कि सरल, कोमल और भावप्रवण सुजन यदि उन्हें देख लें, तो उनकी मानसिक शान्ति लुप्त हो

जाय ! या तो वे पूरा दृश्य देखने के पहले ही मूर्छित हो जायँ अथवा कालान्तर में निश्चयपूर्वक विक्षिप्त हो उठें। साधारण व्यक्तियों के लिए यह कह देना बड़ा सरल है कि जीना-मरना तो लगा ही रहता है। पर केवल भूख की ज्वाला से दग्ध हो-होकर जब कोई प्राणी प्राण रहते हुए भी देखता है कि कौवा आँखों में चोंच मार रहा है और उसका जीर्ण-जर्जर असमर्थ हाथ ही उस पर उठ नहीं पाता ! तब ऐसे दृश्य देखकर भी जो लोग हृदय खोलकर पीड़ित मानवता की रक्षा के लिए अपने संचित कोष का मुँह देखते हैं, वे मनुष्य नहीं राक्षस हैं ! मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति केवल दया और ममतामयी वह संस्कृति है, जो भूखे को भोजन, नंगे को वस्त्र, असहाय और असमर्थों को त्राण और पोषण देती है। यदि ऐसी संस्कृति पर आपका विश्वास नहीं है, तो चन्दे की क्या बात है, चाय-वाय का यह शिष्टाचार भी बनावटी है ! और मौखिक सहानुभूति और बनावटी शिष्टाचार का मोह अब मैंने छोड़ दिया है।"

सुरेन्द्र दिलीप के इस वक्तव्य को चुपचाप सुनता रहा। एक शब्द उसने इस सम्बन्ध में नहीं कहा। फिर "मैं अभी आया" कहकर वह उठा और अन्दर चला गया। थोड़ी देर बाद वह जब लौटा, तो चाय आ चुकी थी। लेकिन आते ही सुरेन्द्र पहले तो कुछ हँसने-सा लगा। फिर गम्भीर होकर बोला—"माताजी ने तुम्हें बुला भेजा है दिलीप ! कहती हैं—'दिलीप को जितने रुपये की जरूरत हो, मुझसे ले जाय। पर ऐसी जली-कटी सुनाकर मेरा जी न दुखाय। धन्य थे वे मुरारी दादा, जिन्होंने ऐसा सपूत उत्पन्न किया और धन्य हैं वे जीजी, जिनकी कोख में उसने जन्म लिया। उसे भेजो तो जरा···आज मैं उसकी आरती उतारना चाहती हूँ' !"

प्रफुल्ल दिलीप बोला—"मैं अभी चलता हूँ, चलो !"

सुरेन्द्र ने कहा—"अजीब आदमी हो ! पहले चाय तो पी लो।"

अब दिलीप के होंठों पर थोड़ा हास फूट पड़ा। वह कहने लगा—"काम सब वही करते हो, जो मैं चाहता हूँ; मगर तब, जब बकते-बकते मेरा मुंह दर्द करने लगता है।"

सुरेन्द्र चाय ढाल रहा था, इसी समय चिक का परदा उठा और उसके अन्दर से एक लड़की झाँकती हुई दिखलाई पड़ी।

यह लक्षणा थी।

दिलीप अपने को सँभाल न सका बोला—"आओ, आओ, लक्षणा!" फिर मन-ही-मन सोचने लगा—'इन थोड़े-से घंटों में ही मेरा मन कितना बदल गया! लक्षणा आ गई, तो कुछ ऐसा जान पड़ा, जैसे कोई ऐसी वस्तु आ गई, जो मेरी है। हो सकता है कि यह सोचना अन्त में मेरा पागलपन सिद्ध हो। क्योंकि नियति के विधान को मैं क्या करूँगा! •••• पर आज किस मुँह से मैंने माँ से कहा था कि इस समय में विवाह की बात सोचना भी मूर्खता समझता हूँ?'

सुरेन्द्र दिलीप की ओर देखने लगा। विस्मय के साथ उसने उससे पूछा—"इस लक्षणा को तुम कब से जानते हो दिलीप?"

दिलीप ऐसा कब का हाज़िर-जवाब है, जो तुरन्त बोल उठता। अतः इस कथन के साथ लक्षणा हँसती हुई अन्दर आ गई और सुरेन्द्र की ओर देखती हुई बोली—"आपको मालूम नहीं, मैं जब पैदा हुई थी, तब छठी के दिन ये मेरे घर दावत खाने आये थे।" फिर थोड़ा आगे बढ़ आई और एक कुर्सी खिसकाकर उस पर बैठती हुई कहने लगी—"और जब मेरा मुण्डन-संस्कार हुआ था, तब इन्हें मिठाई खाने को मिली थी! इतना परिचय कम है?"

सुरेन्द्र ने कप दिलीप के आगे रख दिया और वह कहने लगा—"बड़ी शैतान हो गई है लक्षणा!"

चम्मच हाथ में लेकर टेबिल पर पटकती हुई लक्षणा बोली—"बड़ी तो अभी नहीं हुई हूँ।" और रूमाल उसने होठों से लगा लिया। सुरेन्द्र कनखियों से दिलीप की ओर देखने लगा। तभी लक्षणा पुनः बोल उठी—"मनोविज्ञान-शास्त्रियों का मत है कि बचपन की शैतानियाँ प्रौढ़ावस्था में प्रतिभा के विकास की सीढ़ियाँ बन जाती हैं। तभी तो बचपन में जो लड़के शैतान होते हैं, आगे चलकर वे बहुत बुद्धिमान और प्रतिभाशाली

साबित होते हैं। यदि आज हमारे बीच मातेश्वरी स्वरूपरानी बनी होतीं, तो यह बात मैं उनसे भी प्रमाणित करा देती।"

बात कह लेने के बाद भी जान पड़ता है, लक्षणा की तबियत नहीं भरी। तभी इसके पश्चात् वह बोली—"एक हमारे युवा संन्यासी दिलीप भाई साहब हैं, जिनको हँसना तक नहीं आता! राम राम!!"

इस बार सुरेन्द्र के साथ-साथ दिलीप भी हँस पड़ा। चाय का दूसरा कप तैयार हो चुका था। उसे लक्षणा के आगे रखते हुए सुरेन्द्र बोला—"चाय कम तो न पड़ेगी?"

दिलीप अभी तक समझ नहीं सका था कि सुरेन्द्र ऐसा क्यों कह रहा है। उसे यह भी नहीं मालूम था कि एक नाते से लक्षणा सुरेन्द्र की भानजी भी होती है। अतः उसने स्वाभाविक रूप से कह दिया—"कम पड़े तो और मँगवा लेना। पानी तो अभी चढ़ा ही होगा।"

सुरेन्द्र तब तक अपना भी कप ढाल चुका था। अतः वह बोल उठा—"सम्भव है, तब भी कम पड़ जाय!" कथन के साथ वह जब लक्षणा की ओर देखने लगा, तब अचानक उसके होंठ प्रच्छन्न हास का किसी प्रकार निरोध न कर सके। और सुरेन्द्र के हास से प्रभावित होकर दिलीप भी एक रहस्यात्मक हँसी में जा पड़ा। यहाँ तक कि लक्षणा स्वयं भी खिल-खिल करने लगी।

इसी क्षण अवसर अनुकूल देखकर सुरेन्द्र बोल उठा—"देख लिया, युवा सन्यासी हँसना जानते हैं या नहीं? मगर कोई हँसानेवाला ही न हो, तब तो मामला नाजुक है ही।"

सुरेन्द्र के इस कथन से दिलीप बात-की-बात में गम्भीर हो गया। वह लक्षणा के समक्ष सुरेन्द्र से ऐसी स्पष्टोक्ति की आशा नहीं करता था।

लक्षणा अपना कप खाली करके चल खड़ी हुई और बोली—"सचमुच मामा, आज कुछ ऐसा शुभ दिन है कि सबेरे से चाय पीते-पीते नाक में दम आ गया। यह सातवाँ कप मेंने अभी लिया है।"

"तो ऐसा कर कि समोसे की यह प्लेट भी तू झट से साफ़ कर दे!"

कमीज़ के कफ़ का बटन लगाता हुआ सुरेन्द्र बोला—"हाँ-हाँ, मज़ाक नहीं। उससे चाय की खुश्की का प्रभाव निश्चय ही दब जायगा।"

लक्षणा दरवाज़े पर पहुँच चुकी थी। अँगुली में चोटी की लट लपेटती हुई थोड़ी रुकी और घूमकर गम्भीरता के साथ बोली—"मामाजी होकर तुम मुझे ऐसी सीख दोगे, यह मैं न जानती थी। कम-से-कम इतना तो सोचना था कि आज हम अगर किसी का अधिकार छीनने लगें, तो कल···।" और इसके आगे कुछ न कहकर एक बार दिलीप की ओर आँखें डाल वह एकदम से दाँतों में जीभ दबाकर भाग खड़ी हुई।

दिलीप की जैसे सिट्टी गुम हो गई। वह एकदम से गम्भीर हो उठा। कर्म की दुनिया में पहुँचकर वह सोचने लगा—'अभी सुरेन्द्र की माँ—मौसी—से मिलना है। दादी से मिले बिना गति नहीं है। बफ़ाती का संसार देखना ही होगा। फिर दवाइयाँ और उनके बिलों का भुगतान। समय इतना कम और काम इतने अधिक!'

वह अभी एक ही समोसा ले पाया था कि चाय के घूँट के साथ पूर्णाहुति करते हुए उठ बैठा। सुरेन्द्र के साथ जब वह मौसी से मिलने जा रहा था तभी फ़ोन की घंटी बज रही थी। और दिलीप सोच रहा था—'एक स्वप्न जाता है, तो एक आता है।'

·· ·· ··

गिरधारी के यहाँ से लौटकर दादा चारपाई पर लेट रहे। अभी त्रिभुवननाथ कचहरी से लौटे नहीं थे। इसलिए अपने मन का दुःख वे किसी से कह नहीं सकते थे। कमरे में पंखा चल रहा था। उसके साथ पंखे के ऊपर लगा हुआ पाइप की छड़ का टुकड़ा भी बराबर हिलता जाता था। और चारपाई पर लेटे हुए दादा सोच रहे थे—'निरन्तर हिलने वाला नल का यह टुकड़ा केवल एक लोहखण्ड नहीं, वरन् उत्तर के क्षण नकारात्मक भाव प्रकट करनेवाला गिरधारी लाला का सिर है। एक-एक कर सारी बातें उन्हें याद आ रही थीं। उन्होंने कहा था—'आपने सोचा

होगा कि लड़के को मिला लेने-मात्र से सारी समस्याएँ अपने-आप हल हो जायँगी। लेकिन आपने यह नहीं सोचा कि अभी लड़का स्वयं ब्याह करने को तैयार नहीं है। कैसे उसे इसके लिए तैयार किया जाय, यह भी एक समस्या है। पर यह समस्या ऐसी नहीं है, जो हल न हो सके। लेकिन प्रश्न तो यह है कोई उसे इसी समय क्यों हल करे !"

"ठीक है गिरधारी भाई" मेरे मुँह से निकल गया था—"अब तो हर एक व्यक्ति के सामने हर घड़ी एक ही प्रश्न, एक ही उत्तर और एक ही स्वर रह गया है कि वह कोई ऐसा कार्य क्यों करे, जिससे दूसरे को तो लाभ हो, पर स्वयं उसे कुछ भी लाभ न हो। अब एक मनुष्य का दूसरे के साथ केवल एक ही नाता रह गया है और वह है स्वार्थ का। और शायद यही सही भी है कि जो पूर्ण रूप से अपना सगा है, अपना ही अंश है, वही अपना आत्मीय भी है। भाई हुआ कि भतीजा हुआ, उसका लाभ और उसका सुख और चीज़ है।"

"इसमें भी क्या कुछ शक है ?" ख़मीरे के ताज़े हुक्के की भीनी-भीनी ख़ुशबू का आनन्द लेते हुए गिरधारी ने कहा था—"भतीजा अगर अपने पुत्र के समान हो सकता, चाचा भतीजे के लिए पिता के समान बन सकता, बड़ा अपने से छोटे को हीन न समझता और छोटे को कभी यह सोचने-समझने का अवसर न मिलता कि केवल छोटा होने के कारण बड़ों की आज्ञा पर मुझे चलना ही पड़ेगा, तो आज इस दुनिया की शक्ल ही कुछ और होती।"

"दुनिया की शक्ल कुछ और होती, चाहे न होती !" मेरे मुँह पर आ ही गया और मैंने भी कह ही डाला—"मगर इतना तो अवश्य ही होता कि जो लोग केवल अपनी छाया देखकर चलते, केवल अपने-आपको सर्वज्ञ और सर्वश्रेष्ठ मानते और विश्व की सारी वैभव-सम्पदा का अपने को ही एक-मात्र ठेकेदार बना लेना चाहते हैं, उनको शीशे में एक बार अपना मुँह देख लेने का अवसर तो मिल ही जाता। और ऐसी भी कोई बात नहीं है कि आज ऐसा अवसर हाथ से एकदम निकल ही गया हो। क्योंकि आज की दुनिया में भी ऐसे लोग मिल जायँगे गिरधारी, जिन्होंने पथ के भिक्षुक

तक को कभी पुत्र से कम प्यार नहीं किया। जिस दिन वे द्वार पर आये हुए भूखे-टूटे अतिथि-अभ्यागत की माँग पूरी नहीं कर पाये, उस दिन उनसे खाना नहीं खाया गया और सारी रात उन्होंने करवटें बदलते हुए बिता दी !"

"बिता दी होगी। क्योंकि बेवक़ूफ़ों की इस दुनिया में ऐसी कोई कमी तो है नहीं।" हँसते-हँसते गिरधारी लाला ने हुक्के की नली पुनः मुंह से लगाते-लगाते कहा था—"इसके सिवा ऐसे उपदेश हमने बहुत सुने हैं। और जिनके मुँह से सुने हैं, उनकी करतूतें भी देखी हैं। इसलिए यह प्रवचन तो आप बस बन्द ही कर दीजिए। मुख्य बात जो मैंने कही, बस उसी का ध्यान रखिए।" और इसी स्थल पर आकर बात समाप्त हो गई थी।

इसी समय बिस्सू की माँ किवाड़ों की ओट में आकर खाँसने लगीं। दादा समझ गए; बहू यह जानने के लिए आई है कि गिरधारी से क्या बातचीत हुई।

तब दादा उठ बैठे। बटुआ खोला और उसमें से तम्बाकू निकालकर बाईं हथेली पर रखी। फिर चूने के साथ दाएँ अँगूठे से उसे रगड़ते हुए बोले—"गिरधारी के यहाँ मैं गया तो बहुत आशा लेकर था, लेकिन फिर लौटा सर्वथा निराश होकर। अब या तो मैं उसके यहाँ कभी जाऊँगा नहीं, और अगर किसी प्रसंग से जाना ही पड़ा, तो लक्षणा के ब्याह की बात तो हरगिज़-हरगिज़ न उठाऊँगा।"

बिस्सू की माँ दादा की इस बात को सुनकर सन्न रह गईं। दादा ने भी कुछ नहीं कहा। फिर दो मिनट बाद तम्बाकू की दो चुटकी मुंह में रखते हुए वे बोले—"घबराओ नहीं, बहू ! भगवान् करेगा, हमको इससे भी अच्छा लड़का मिल जायगा।"

तब एक आह छिपाये बिस्सू की माँ चुपचाप अन्दर चल दीं।

: १२ :

दिलीप जब कभी इस मुहल्ले में आता या इसकी बात सोचता है, तो उसे अपने सामने यहाँ की अनेक विभूतियाँ एक 'क्यू' के आकार में खड़ी दीख पड़ती हैं। किन्तु उन सबमें बफ़ाती की शक्ल उसे बड़ी विलक्षण जान पड़ती है। अक्सर लोग उसका नाम सुनते ही चौंक उठते हैं, क्योंकि इधर उसने कीर्ति भी यथेष्ट अर्जित कर ली है। लोगों का कहना है; बफ़ाती की हवा एक सेकिण्ड के अन्दर आपकी जेब से पर्स ग़ायब करने लग जायगी और आप टुकुर-टुकुर देखते रह जायँगे! आपकी जेब का गला उसके ब्लेड के स्पर्श के बिना ही उसे रक़म दे देगा। पर यदि आप स्वाभिमानी हैं और परिस्थिति ने आपको परेशान कर रखा है, तो वह अनुभव करेगा कि उसको आपकी सहायता करनी है।...यहाँ सोचने की बात यह है कि बफ़ाती के पास दमड़ी नहीं रहती, मगर सहायता करने में उसका हाथ कभी रुक नहीं सकता। दिलीप ऐसे लखपतियों को जानता है, जो ऐसे अवसरों पर टका-सा उत्तर दे देते हैं। दिलीप ऐसे करोड़पतियों को भी जानता है, जो साथ के उठने-बैठनेवाले हैं, किन्तु अवसर आने पर सहायता के नाम पर जिनके खुले हुए दाँत ही नज़र आते हैं। और यह भी ज़रूरी नहीं है कि जिसे सहायता की आवश्यकता है, वह बफ़ाती को अपनी परिस्थितियों से प्रभावित ही कर दे, तभी वह उसकी सहायता करेगा। नहीं, आपने उससे कहा है, उसे याद किया है, बस इतना ही उसके लिए बहुत है। आपकी बात सुनकर, समय निकाल-कर, वह स्वयं आपसे मिलेगा, बातचीत करेगा, रुपया देगा। और एक बार किसी को सहायता देकर फिर वह कभी न रुपये वापिस लेगा और न अपनी सहायता की कभी चर्चा करेगा। दुःख-दर्द की बात करते-करते बीच-बीच में झट से उसकी आवाज़ भर्रा उठेगी, गला रुँध जायगा और आँखों से टप्-टप् आँसू बहने लगेंगे।

इस नगर के लोग जब समाचार-पत्रों में यह पढ़ते—आज बफ़ाती ने स्टेशन पर खूब हाथ साफ़ किया : उसने एक डिप्टी-कलेक्टर साहब का पर्स

मार दिया, तो वे आश्चर्य में पड़ जाते। मुहल्ले में जब यह चख-चख होती कि आज जी० टी० रोड पर एक मोटर लुट गई, तो उनके सामने बफ़ाती जैसे सदेह उपस्थित हो जाता। कुछ लोग सोचते—बफ़ाती के सिवा इस तरह की सफ़ाई के हाथ दूसरा कोई दिखा ही नहीं सकता। कुछ लोगों को इस पर विश्वास न होता। वे कहने लगते—"नहीं नहीं, उसके हृदय में बड़ी दया-ममता है। हिंसा वह नहीं कर सकता।"····नशेखोर लोग कहीं चोरी-छिपे बैठकर आपस में बात करते, नशापत्ती जमाते, तो किसी-न-किसी प्रसंग से बफ़ाती का नाम ज़रूर याद किया जाता।

बफाती क्या था, शैतान या इन्सान, इसका निर्णय करना सबके लिए सरल नहीं है। किन्तु दिलीप के चाचा गिरधारी लाला को यह सुनकर कभी प्रसन्नता न होती थी कि दिलीप आज प्रायः तीन घण्टे नगर के नामी उचक्के और उठाईगिरे बफ़ाती के साथ गन्दी बस्ती में इधर-उधर चक्कर लगाता रहा। किन्तु असल बात यह रहती कि बफ़ाती दिलीप को उन बस्तियों और घरों में प्रत्यक्ष रूप से, पीड़ित मानवता का चीत्कार सुनाने ले जाया करता था। एक बार ऐसा भी हुआ कि बफ़ाती दिलीप को एक ऐसी बुढ़िया के पास ले गया, जिसके लड़के को परदेस गये हुए बीस वर्ष हो गए थे। उसकी पैंतीस वर्ष की अवस्थावाली स्त्री अब साठ वर्ष की वृद्धा मालूम पड़ती थी। उसके दाँत आधे से अधिक गिर गए थे। उसकी आँखें गड्ढों में धँस गई थीं! उसके गाल पिचक गए थे। गले के नीचे दोनों ओर की हड्डियाँ अपने ऊपरवाले भाग में खाइयाँ बना चुकी थीं। आधे से अधिक बाल सफ़ेद हो चुके थे और बुढ़िया सत्तर पार कर चुकी थी। उसके बाल सन हो जाने के बाद अब कुछ पाण्डुर हो चले थे। उसकी आँखें जाती रही थीं। उससे उठा नहीं जाता था। वह बिना सहारे कहीं आ-जा नहीं सकती थी। एक टूटी चारपाई पर पड़ी हुई वह कराह रही थी। दिलीप जब वहाँ पहुँचा तो बफ़ाती ने उसको उसी बुढ़िया के पास ले जाकर खड़ा कर दिया। वह झुका और उसने उसके कान के पास मुँह ले जाकर कह दिया—"दादी, अगर तुम्हारे आँखें होतीं और जिनको मैं ले आया हूँ, उन्हें

तुम देख पातीं, तो तुम अपने सारे दुःख भूल जातीं !"

बुढ़िया के दुबले-पतले हाथ काँप उठे। उसका एक हाथ उठा और पाटी पर जा गिरा। उसकी साँस बढ़ गई थी और अब उसे खाँसी आ गई थी। उसकी बहू ने चारपाई के नीचे से खपरा उठाकर उसके मुँह के सामने कर दिया। दो मिनट स्वस्थ होने में लगे। तब बुढ़िया बोली—"बेटा··· बेटा, मेरा लाल कब आयगा ?" और उसकी बहू का क्रन्दन और चीत्कार उस झोपड़े-भर में फैलकर दीवार और खपरैल से टकराने लगा !

देखते-देखते बफ़ाती का चेहरा बदल गया। उसका निचला ओंठ दाएँ तरफ़ काँप उठा। उसकी भौंहें कुछ सीधी होने लगीं और उसने कुछ कठोर स्वर में कह दिया—"मैं आपसे सिर्फ़ एक बात पूछना चाहता हूँ। इस दादी का और इस बहन का क्या क़सूर है ? लड़का अपनी इस ज़िम्मेदारी को क्यों भूल गया ?—और उसको इस हद तक गैर-ज़िम्मेदार बनाया किसने? खैर, जाने दीजिये, अब सवाल यह है कि इनकी ज़िन्दगी के लिए आप क्या कहते हैं ?—मैं आपकी बात नहीं कहता, मगर पास-पड़ोस के लोग, हमारा समाज और आज़ाद मुल्क इन दुखियों और अनाथों के लिए क्या करता है ?—आप इनसे यह उम्मीद करते हैं कि ये 'इम्प्लायमेंट-एक्सचेंज' का दरवाज़ा खटखटायँगी ? आप इनसे यह उम्मीद करते हैं कि ये खेतों में हल चलायँगी या ढोरों और चौपायों के लिए चारादाना करेंगी ? या मिलों में काम करके तीन दिन के अन्दर इस दुनिया से कूच कर जाने की सलाह आप इन्हें देना चाहते हैं ?.... तो फिर इनकी इस हालत का इलाज क्या है ?"

इसके बाद बफाती की ज़बान रुक गई। वह धीरे-धीरे दिलीप को दरवाज़े के बाहर ले आया। बिना अपना हौसला पूरा किये, अपनी पूरी बात सुनाए उससे नहीं रहा गया—"आप मुझको चाहे जो सज़ा दिलवा दीजिए, मैं उफ़ तक न करूँगा। मगर इसका कुछ तो इलाज कीजिए।" और इतना कहते-कहते वफ़ाती ने जेब पर लटकता हुआ रूमाल निकालकर आँखों से लगा लिया !

दोनों सड़क पर खड़े थे। कई लोग इधर-उधर से आये और गये। एक

इक्का हवा से बातें करता हुआ निकल गया और एक साइकिलवाला उसकी लपेट में आते बाल-बाल बचा और सहसा कम्पित वाणी में दिलीप के मुँह से निकल गया—"यह सब मुझसे न पूछो। मैं कुछ नहीं कहना चाहता। मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा है। मैं सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि तुम्हारा रास्ता ग़लत है। लेकिन काम···काम तुम ऐसा कर रहे हो बफ़ाती, जो आदमी····इस मक्कार दुनिया का आदमी नहीं कर सकता। जब तक हमारा समाज नहीं बदलता, जनता में सचाई और ईमानदारी नहीं आती, उसमें मानवी सहानुभूति की सोई हुई भावना जाग्रत नहीं होती, तब तक कुछ नहीं हो सकता। रही इनको थोड़ी-बहुत मदद करने की बात, वह तो ईश्वर ही कर सकता है।" एक आह के साथ दिलीप के मुँह से निकल गया—"और सो भी, तुम्हारे-जैसे आदमी के द्वारा!"

दिलीप का हृदय धक्-धक् करने लगा था। एक जगह रुककर वह फिर बोल उठा—"अच्छा हुआ बफ़ाती कि तुमने मुझे एक ऐसी जगह दिखला दी··। मगर नहीं, तुम्हारी तरह मैं भी एक कमज़ोर आदमी हूँ। हो सकता है, कभी तुम्हारी तरह मेरा भी दिमाग़ फिर जाय। समझते हो कि नहीं? मैं एक कमज़ोर आदमी हूँ—बहुत कमज़ोर आदमी हूँ!" कहते-कहते उसका कण्ठ रुँध गया। आवाज़ भर्राने लगी और वह स्वयं भी रो पड़ा।

और एक दिन दिलीप जब वफ़ाती के साथ अपने मुहल्ले की ओर आ रहा था, तब उसने कहा था—"ज़रा उधर देखिए भइया···उफ़!"

दिलीप की दृष्टि उस नुक्कड़ पर लगे एक कूड़े के ढेर के ऊपर जा पड़ी। चौराहे के नुक्कड़ पर एक होटल है। वहाँ का सड़ा-गला, उच्छिष्ट अन्न कूड़े पर पड़ा हुआ है। एक व्यक्ति उसे उलट-पलट रहा है। कभी-कभी वह उस कूड़े से कुछ निकालकर अपने मुँह में रख लेता है।

इस दृश्य को देखकर दिलीप का दिल दहल उठा। उसके मुँह से अनायास ही निकल गया—"उफ़····!"

बफ़ाती बोला—"किसने देखा है कि ये लोग इस तरह भी जी रहे हैं? ये अभी कल मर सकते हैं, आज मर सकते हैं, इसी वक्त मर सकते हैं। लेकिन

नहीं, तकलीफ़ उठाते हैं, इसलिए कि उन्हें पहले ज़िन्दा रहना है और तब इसके बाद दुनिया को ऊपर उठाना है। अगर इन्होंने परेशान होकर ज़िन्दगी ही खो दी, तो दुनिया को इनसे क्या मिलेगा? दिलीप भैया, इन्सान को मैं इतना सस्ता नहीं समझता।" तभी वह उस व्यक्ति के निकट गया और बोला—"ऐ इन्सान, तू मेरे साथ आ! देख मैं तेरा भाई हूँ।"

दिलीप काष्ठवत् खड़ा रहा।

पहले वह विक्षिप्त व्यक्ति चौंका। उसके शरीर का रंग काला था और क़द लम्बा। चाँद गंजी, परन्तु सिर के चारों ओर घुंघराले श्वेत बाल, जिनमें धूल भरी थी। शरीर पर एक फटा लम्बा ऊनी कोट, एक गन्दी फटी लँगोटी। मुंह पर घनी दाढ़ी।

वह बफाती को देखकर हँस पड़ा—हा···हा···हा···हा···तू मेरा भाई है।

"हाँ. हाँ, आओ; मेरे साथ आओ। मैं सचमुच तुम्हारा भाई हूँ।"

दिलीप ने देखा—बफ़ाती ने उसे एक हलवाई की दूकान पर पेट-भर पराँवठे खिलाए और उसे विदा कर दिया। जब उसने बफ़ाती से पूछा—"इन लोगों पर इतना खर्च कब तक करोगे?"

"जब तक हाथ-पैर साथ देते हैं दिलीप भैया! मुझे अपने लिए कुछ न चाहिए। अपने लिए मुझे न रक़म चाहिए, न हवेलियाँ चाहिएँ, न मोटर चाहिए। मुझे कुछ भी न चाहिए। सच तो यह है दिलीप भैया, मुझे अपनी ज़िन्दगी भी फीकी लगती है। इसलिए यह ज़िन्दगी जिनकी है उन्हीं को मैं सौंप देना चाहता हूँ।—कोई सवाब करता है, मैं लूट-मार, नोंच-खसोंट करता हूँ! इसी बात पर तो मैं घर से निकाल दिया गया था।"

"तुम घर से निकाल दिए गए थे?" दिलीप ने सड़क पर ही खड़े-खड़े पूछा।

"कई साल हो गए भैया!"

"क्यों, कैसे?" आश्चर्य से दिलीप ने उससे प्रश्न कर दिया।

"वह ऐसे भैया कि मैं एक प्रेस में काम करता था। देखता था

रास्ते म बीमार पड़ तड़प रहे हैं। सोचता चार दिन की भूखी बुढ़िया आज रोटी के बिना मर जायगी ! जब घर जाता, तो सोचता रह जाता, इनकी कैसे मदद करूँ, इनकी दवा का कैसे इन्तज़ाम करूँ, इनकी ज़िन्दगी को कैसे सुखी बनाऊँ ! पर इन सबका कोई हल न मुझे सूझता।"

इसी क्षण बीच में ही दिलीप बोल उठा—"अरे बचना ज़रा।" और उसने बफ़ाती का हाथ पकड़कर अपनी ओर घसीटते हुए कहा—"बहुत बच गये, वरना··· ।"

और एक मोटर आगे से निकल गई।

बफ़ाती अपने को कुछ सँभालता हुआ क्रोधपूर्वक बोला—"देखा आपने ? अपने आगे ये किसी इन्सान को देखते हैं ?—देखना पसन्द करते हैं ?—बोलिए, जवाब दीजिए दिलीप भैया !"

दिलीप एक क्षण शान्त रहा। उसने देखा, इस बफ़ाती में एक ऐसी प्रखर ज्वाला है, पौरुष की एक ऐसी निर्विरोध उमंग है, सेवा का एक ऐसा प्रबल तूफ़ान है, जिसकी पूरी जानकारी प्राप्त कर लेना अनुचित न होगा। उसके जी में आया, एसे व्यक्ति यदि समय पर सही-सही मार्ग-संकेत पा जायँ तो आगे चलकर इनकी भी महापुरुषों के रूप में वन्दना हो सकती है। देश इनसे बहुत-कुछ पा सकता है।—और यह बात भी है कि जीवित रहने के लिए वास्तविक संघर्ष तो ये लोग ही करना जानते हैं।

"खुदा के नाम पर एक पैसा-बेटा !"

दिलीप की विचार-धारा भंग हो गई। उसने देखा—जब तक वह अपनी जेब में हाथ डाले-डाले, तब तक बफ़ाती ने उसे एक दुवन्नी देकर विदा कर दिया !

दिलीप ने ज्यों ही बफाती की ओर देखा, त्यों ही उसने कहा—"मुझे माफ़ कर दो दिलीप भैया ! इस धरती पर जिनको अपना कहने वाला हासिल नहीं है, जिनके नन्हें बच्चों की दवा, इलाज और वक्त आने पर मदद और परवरिश करने वाला कोई नहीं, क्या आपकी जिन्दगी से उन्हें कुछ मिला नहीं ! आपने इन्हें क्या नहीं दिया ?"

तब दिलीप को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे बफाती उससे कहीं आगे है, कहीं बड़ा है। इसी बीच वह फिर बोल उठा—"अच्छा भैया, फिर मिलेंगे।"

"ज़रा सुनो, ठहरो बफ़ाती !" दिलीप ने रुकने का आग्रह करते हुए कहा।

बफ़ाती बोला—"हुक्म कीजिए भैया....!"

दिलीप बोला—"बफ़ाती, मैं जानना चाहता हूँ, आखिर तुम घर से क्यों निकाल दिए गए ? अभी-अभी तुमने कहा न कि तुमको माँ-बाप ने घर से निकाल दिया था !"

"क्या झूठ कहता हूँ भैया ? ··फिर आपसे झठ बोलकर रहूँगा कहाँ ?" बफ़ाती ने अपने कुरते के बटन लगाते हुए कहा।

"नहीं, मेरा मतलब यह नहीं है कि तुम मुझसे झूठ वोले या बोलोगे। लेकिन यह बात मैं ज़रूर जानना चाहता हूँ कि तुम्हारे माँ-बाप ने तुम्हें घर से क्यों निकाल दिया ?"

"सब मतलब के यार हैं बाबूजी ! इतना करने के बाद भी उन्हें मुझसे पैसे माँगते शर्म नहीं आती। क्या कहूँ, उन्होंने क्यों निकाला और कैसे निकाला। मुझे सबसे अधिक दुःख इस बात का रहता था कि मैं अपनी आँखें फोड़ नहीं सकता था !····मेरी इन आँखों से उन लोगों का दुःख देखा नहीं जाता था, जिन्हें उनके घरवालों ने लात मारकर निकाल दिया था और जो बिना किसी रोजी-रोज़गार के एक भिखारी की ज़िन्दगी बिताने को मजबूर हो गए थे ! मैं एक ऐसी लड़की को जानता था, जिसको उसके माता-पिता ने—यहाँ तक कि भाई-भौजाई ने भी—अपने घर रखने से इन्कार कर दिया था; क्योंकि वह विधवा हो जाने के बाद उनके साथ रहने का इरादा रखती थी। उसके छोटे-छोटे चार बच्चे थे और वह सोचती थी कि अब उन्हीं को देख-देखकर मैं अपना यह विधवा जीवन काट दूँगी। उसकी ससुराल में उसका जेठ भी था। परन्तु उसकी स्त्री—यानी उस लड़की की जेठानी—मर चुकी थी। और वह कुछ इस तरह की पाक-साफ़ और नेक औरत थी कि

सोचती थी—इन हालतों में उसका धरम वहाँ ससुराल में कैसे बचेगा! हर आदमी में कमज़ोरियाँ होती हैं। यों वे पहले से नहीं जान पड़तीं; पर कब वे भड़क सकती हैं, इसको कौन जानता है! उसका क़ुसूर सिर्फ़ इतना था कि वह रुपया-पैसा और ज़ेवर उन लोगों को सौंप नहीं सकती थी; क्योंकि उनके लालची स्वभाव को वह जानती थी। ··· इसी तरह एक दिन मुझे ऐसा लड़का मिल गया, जिसको उसके माता-पिता अब आगे पढ़ाने का ख़र्च नहीं देना चाहते थे।

"क्यों?" दिलीप चौंककर बीच में ही प्रश्न कर बैठा।

"इसलिए दिलीप भैया" बफ़ाती बोला—"कि उन्होंने उसका विवाह कर दिया था और वे सोचते थे कि इस तरह का दबाव डालने पर वह लड़का अपनी ससुराल से पढ़ाई का ख़र्चा पा जायगा।"

"फिर हुआ क्या?"

"वही जो होना था। वह लड़का अब अपने फ़र्ज़ को, इन्साफ और ज़ुल्म को, सही-ग़लत क़दम को, समझने लगा था। उसने ससुरालवालों को अपनी पढ़ाई का ख़र्चा देने पर मजबूर करना ठीक नहीं समझा। क्योंकि दहेज में वे लोग उसके वालिद को एक ख़ासी अच्छी रक़म पहले ही दे चुके थे। लड़के ने जब अपनी यह उलझन मुझे बतला दी ···।"

"तब तुमने क्या किया?"

बफ़ाती बोला—"मैंने उससे पूछा—'अब तुम कैसे पढ़ोगे?' वह एक रेस्तोराँ में बैठा हुआ चाय पी रहा था। मेरे इस सवाल के साथ उसका चेहरा तमतमा उठा। उसकी बड़ी-बड़ी पुरअसर आँखें थीं। उसने मुँह तक लाये हुए कप को फिर टेबिल पर रखते हुए जवाब दिया—'पहले तो मैं अपनी औरत का ज़ेवर बेच-बेचकर पढ़ाई और अपने खाने-पीने का ख़र्चा चलाऊँगा। उसके बाद कहीं-न-कहीं काम खोजूंगा। क्या आप समझते हैं कि मुझे काम न मिलेगा? मैं हलवाई के यहाँ थाल-कढ़ाई आदि बरतन मलने तक का काम कर सकता हूँ, मगर पढ़ाई नहीं छोड़ सकता!' ऐसे-ऐसे पचासों आदमी हैं, जिनकी दुःख की कहानियाँ सुनकर मुझसे चुप न रहा

गया। मैं भी उन दिनों पढ़ रहा था और मैं पढ़ाई की क़ीमत समझता था। लेकिन मेरे माता-पिता चाहते थे कि मैं कहीं नौकरी करूँ, तो सौ-पचास रुपये महीने लाकर उनको दूं।"

बफ़ाती ने देखा दिलीप की आँखें भर आई हैं। उसने आगे कहा—"उन्होंने इसके लिए मुझे मजबूर भी कर दिया। हर महीने जो तनख्वाह मुझे मिलती, मैं उन्हें चुपचाप दे देता। लेकिन जब मुझे पैसों की ज़रूरत पड़ती, तो वे खर्चे का हिसाब मुझसे माँगते। उस हिसाब में भी उनकी तबियत की हुकूमत चलती थी। मेरी तबियत का खयाल उनके सामने कोई क़ीमत न रखता था! लेकिन मैं तो समाज के इन सताये हुए लोगों की कुछ-न-कुछ सेवा किये बिना जी ही न सकता था। एक दिन जब मुझे तनख्वाह मिली, तो उसमें से दस रुपये निकालकर मैंने उस विद्यार्थी को दे दिए, जिसके पास अब खाने के लिए कुछ न बचा था और जिसका पाजामा फट गया था! घर आने पर जब इन दस रुपयों का हिसाब मुझसे पूछा गया, तो मैंने सच-सच बतला दिया। इस पर मेरे बड़े भाई ने मुझे बेंतों से बहुत पीटा! हर बेंत के उठते समय उनके मुंह से यही निकलता—'साला नवाबज़ादा बना है!' तब मैंने यह महसूस किया कि हम कहाँ खड़े हैं! हमारे घर-कुनबे और समाज के ये लोग कहाँ जा पहुँचे हैं! पेट भरने और बच्चे पैदा करने के सिवा इनकी जिन्दगी का कोई मक़सद ही नहीं रह गया! एक आदमी के साथ दूसरे आदमी की जो एक हमदर्दी होती है, इन्सानी फ़र्ज़ होता है, उससे हम कितनी दूर जा पड़े हैं! बस, इसी दर्द को लेकर मुझे नींद न आती! रात-रात भर मैं रोता रहता। तब एक दिन मैंने घर छोड़ दिया।

"भैया दिलीप, मैं अपने को पहचानता हूँ, मुझे लोग कैसी नज़र से देखते हैं, यह मैं जानता हूँ। लोग रास्ते चलते हुए मेरी बाबत बातें करते रहते हैं और मैं इन्हीं कानों से सब सुनता रहता हूँ! दुनियाँ-भर की नफ़रत पीकर मैं कैसे जिन्दा हूँ, यह मुझसे न पूछिए दिलीप भैया! लोग मेरे नाम पर थूकते हैं, यह भी मैंने देखा है! लेकिन मैं इतना और जानता हूँ कि जो मेरा असली बाप है—जो मेरा खुदा है—वह मुझसे कभी नाराज़

हो नहीं सकता। क्योंकि क़दम-क़दम पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि जिन लोगों की कोई मदद नहीं करता, उनकी मदद सिर्फ़ वही कर सकता है और करता है। और मुझे इस बात का नशा है, अभिमान है कि मैं उसके इशारों को समझता हूँ!"

बफ़ाती की कहानी सुनकर दिलीप चौंक पड़ा। वह सोचने लगा कि एक पवित्र उद्देश्य के लिए न्याय और विधान की सीमाओं से बाहर चले जानेवाले केवल समाज की दृष्टि में पापी हो सकते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि जो समाज ही गया-गुज़रा है, उसकी दृष्टि का मूल्य क्या है! रह गई शासन और व्यवस्था की बात, सो उसका दंड भोग लेने अथवा उससे बच-कर निकल जाने के बाद फिर पाप और अपराध तो केवल विचार और तर्क के विषय रह जाते हैं।

बात करने में काफ़ी समय बीत गया था। इसलिए दिलीप बोल उठा—"यों तो तुम्हारी बातें मुझे बहुत मज़ेदार लगीं बफ़ाती भाई! उन्होंने मुझे प्रभावित भी कम नहीं किया। लोग चाहे जो समझें, तुम्हारी मानवता और वीरता दोनों ही ऊँचे दरजे की हैं। लेकिन फ़िर भी मेरी आत्मा यही कहती है बफ़ाती कि कुछ भी हो, बुरा काम आखिर बुरा ही है। इसलिए अब तुम इस खोटे काम को छोड़ दो। बहुत हो चुका। अब मैं तुमको ऐसा रास्ता बता-ऊँगा, जिससे तुमको संतोष और सुख तो मिलेगा ही, वह इज्जत भी मिलेगी जिसके तुम अधिकारी हो।"

तब मुसकराता हुआ बफ़ाती बोला—"बहुत अच्छा भैया, मैं आपकी बात नहीं टालूंगा।"

और तब दिलीप सोचने लगा, अब बफ़ाती रास्ते पर आ जायगा।

: १३ :

बादलों का एक भूला-भटका समूह, उस दिन, न जाने किस दिशा से यात्रा करता हुआ आया और क्षितिज के साथ सहसा अठखेलियाँ करने लगा। अन्त में वह छिन्न-भिन्न होकर ऐसी छोटी-छोटी सैकड़ों टुकड़ियों में विभाजित हो गया, मानो किसी ने धुनी हुई रुई को सम्पूर्ण आकाश पर बिखेर दिया हो।

गिरधारी लाला आज प्रातः से ही व्यस्त थे। पचीसों पुराने बही-खाते सँभालने, देखने और रखने में उनका काफ़ी समय लग चुका था। गाँठें गिरवी रखनेवाले काग़ज़ात का एक बँधा बस्ता अब भी उनकी गद्दी की शोभा बढ़ा रहा था। अपना हिसाब-किताब देखने के पश्चात् उन्होंने एक लम्बी साँस छोड़ते हुए मन-ही-मन कहा—'इस प्रकार एक खासी अच्छी रक़म डूब जायगी···जो लगान काश्तकारों के नाम खाते में बक़ाया लगा रह गया है, ज़मीन-जायदाद के साथ वह सब भी गया, डूबा। गवर्नमेंट ने काश्तकारों को इतनी छूट दे रखी है, इतना सिर चढ़ा लिया है कि अब उनका जामे के अन्दर रहना मुश्किल है! ····फिर अब तो शासन-सत्ता से डर नाम की चीज़ भी जैसे जाती रही।····देखना है कितने दिन गाड़ी चलती है!'

वे जब इन संकल्प-विकल्पों के थपेड़े खा रहे थे, तब उनकी दृष्टि अनायास ही चिक की ओर चली गई। उन्होंने देखा, कालीचरन हुक्का ताज़ा करके लाया है और दबे पैरों उसे उनके निकट रखकर जा रहा है। तम्बाकू की भीनी-भीनी ख़ुशबू पाकर गिरधारी लाला का चेहरा खिल उठा। बहुधा बल्कि सदैव ही उलझनों की घड़ियों में प्रेरणा देनेवाला यह हुक़्क़ा ही उनका एक-मात्र मित्र है। उन्होंने आवाज दी—"ए कालिया····!"

कालीचरन अन्दर जाते-जाते रुक गया और लौटकर ठिठुकता हुआ-सा उनके सामने आकर खड़ा हो गया। तब उन्होंने पूछा—"इस वक्त तुझे कुछ काम है?"

संकोच के साथ कालीचरन बोला—"सरकार···!"

"अरे सरकार के बच्चे, मैं जो पूछता हूँ, उसका जवाब क्यों नहीं देता ?"

कालीचरन ने दबे स्वर में कहा—"कुछ कपड़े साफ़ करने थे। साबुन लगाकर रख आया हूँ। उन्हीं को····।"

इतने में गिरधारी लाला बोल उठे—"उन कपड़ों को पड़ा रहने दो। मैं जो कहता हूँ, उसको पहले सुनो····सोहन तँबोली की दुकान जानते हो ?"

"सरकार वही जो आगे चौराहे पर·····।"

बात पूरी भी न होने पाई थी कि गिरधारी लाला सिर खुजलाते हुए बोले—"हाँ, वही जिसके एक आँख है असली और दूसरी नक़ली। उससे कहना कि अगर आज चिराग़ जलने के वक्त तक रुपये न आ गए, तो याद रखना मेरा नाम है गिरधारी, मैं दूसरी असली आँख भी नक़ली बना दूँगा ! ····बस जाओ, यही कह देना।"

तब कालीचरन अन्दर जाने के बजाय बाहर चला गया।

इतने में शारदा आ पहुँची। उसके हाथों में बुननेवाली ऊन और सुइयाँ थीं। वह दरवाज़े पर ठिठुककर खड़ी हो गई और चिक के बाहर सिर निकालकर झाँकने लगी। हुक्का गुड़गुड़ाते हुए वे एकदम रुके और धुआँ नाक और मुँह से एक साथ उगलते हुए बोले—"क्या है ?"

शारदा अन्दर चली आई और सामने आकर बोली—"कुछ किताबें बदल गई हैं।"

"ऐं ! क्या कहा ? किताबें बदल गई हैं ? क्या मतलब ?"

शारदा ने कहा—"इस साल हमारे कोर्स की कई किताबें बदल गई हैं। परसाल 'हिन्दी गद्य-प्रदीपिका' पढ़ाई जाती थी, इस साल 'हिन्दी गद्य के विकास की सीढ़ियाँ' पढ़ाई जायगी। परसाल 'भारतीय इतिहास के युग-निर्माता' पढ़ाई जाती थी, इस साल 'भारतीय इतिहास के युगप्रवर्तक' पढ़ाई जायगी। परसाल 'नागरिक ज्ञान' पढ़ाया जाता था, इस साल 'नागरिक विज्ञान' पढ़ाया जायगा।"

गिरधारी लाला ने कहा—"तो फिर मैं क्या करूँ ?"

साड़ी के छोर को सँवारते हुए शारदा ने कहा—"इन पुस्तकों को लेना

ही पड़ेगा। इसके लिए दस रुपए।"

गिरधारी लाला कुछ झुंझलाकर बोले—"रुपए मेरे पास नहीं हैं। माँ से ले ले। और देख, दस-दस, पाँच-पाँच के लिए मेरे पास कभी न आया कर।"

शारदा कुछ ठिठुकी और चल दी। वह अभी दरवाज़े के उस पार ही गई थी कि इतने में सड़क की ओर से आते हुए ग़नी ने कह दिया—"सलाम बाबूजी और आगे बढ़कर वह एक डब्बा देते हुए बोला—"खमीरा लाया हूँ लखनऊ से। बिलकुल अव्वल नम्बर है।"

गिरधारी लाला ने हुक्के को पीछे खिसका दिया। पहले सिर से पैर तक ग़नी को अच्छी तरह देखा। मुस्कराहट की रेखाएँ होठों पर आईं और विलीन हो गईं। बोले—"बैठ जाओ, खड़े क्यों हो! तुम हमको कोई दूसरा समझते हो?"

ग़नी मुस्कराने लगा। प्रसन्नता के साथ कुछ ढीली तहमत को तोंद के ऊपर खिसकाते हुए बोला—"लाला जी, दिल चीरकर तो दिखलाया नहीं जा सकता। कसम खुदा की—मैं अब्बा से ज़्यादा आपकी इज़्ज़त करता हूँ।"

गिरधारी लाला एकाएक कुर्सी से उठे। अलमारी से एक बढ़िया सिगरेट निकाला और दियासलाई के साथ ग़नी को देते हुए बोले—"लो, जमाओ! मैं भी तुम्हें दूसरा दिलीप समझता हूँ। शहर की नामी दुकान से पूरा टिन ले आया हूँ। तुमने अभी तक सस्ते क़िस्म की सिगरटें पी होंगी, यही···तीन-चार आने पैकटवाली। मगर यह सिगरेट बीस आने पैकट वाली है···दो आने में एक पड़ी! ···जलाओ, फूंको, देखो मज़ा इसका।"

ग़नी ने सिगरेट को पान से काले हो रहे होठों के बीच रखने से पहले कह दिया—"लालाजी, इसको बनावट न समझिएगा। शहर में अगर कोई रईस है, तो आप इस में ऐसी क़ीमती सिगरेट बजाय आपके और पियेगा कौन! मगर सब से बड़ी बात तो यह है कि तबियत आपने नवाब वाजिद-अली शाह की पाई है। आप ख़ुद अकेले-अकेले लुत्फ़ उठाना पसन्द नहीं

करते, बल्कि हम-जैसे नाक़िस, नाचीज़ दोस्तों को भी इज़्ज़त देना जानते हैं।"

ग़नी ने सिगरेट का कश खींचते हुए कहा—"वाक़ई बहुत बढ़िया सिगरेट पिलाई आपने !"

गिरधारी लाला कुर्सी से पुनः उठे। फिर अलमारी खोली। टिन उठाया और ग़नी के आगे कर दिया—"लो, जितनी चाहो, ले जाओ।....संकोच मत करो !"

ग़नी की बाँछें खिल गईं। दो सिगरटें निकालते हुए वह बोला—"हज़ार हज़ार शुक्रिया—एक मैं खुद पिऊँगा, एक अल्लारक्खू की माँ को पिलाऊँगा। उसको भी तो मालूम होना चाहिए कि कैसे रईसों के बीच मेरी उठक-बैठक है।"

लालाजी ने टिन बन्द किया। दियासलाई अब तक ग़नी के हाथ में थी। उससे लेकर उन्होंने दोनों चीज़ों को अलमारी में रखकर उसे बन्द कर दिया और इतमीनान से आकर कुर्सी पर बैठते हुए कहा—"अब कुछ काम की बात हो जाय।"

ग़नी ने कुछ रुख बदलते हुए कहा—"आप इस ग़नी को क्या समझते हैं ? क्या आप समझते हैं कि महज खमीरा लेकर मैं आपकी खिदमत में हाज़िर हुआ हूँ ?" और स्वर को कुछ धीमा करते हुए कहने लगा—"मगर कहते डरता हूँ आपसे !"

गिरधारी लाला के मुँह से निकल गया—"और पास आ जाओ, मगर ठहरो।" और उन्होंने उठकर बैठक का मुख्य द्वार बन्द कर दिया। पंखा चल ही रहा था, बिजली भी जला दी और बोले—"अब इतमीनान से कहो।"

ग़नी ने बग़ल में दबी हुई चीज़ की गाँठ खोलते हुए कहा—"बिलकुल खरा सोना है। पाई भर फ़रक़ निकल जाय, तो मैं एक के बदले दस दूँगा आपको।"

गिरधारी लाला ने देखा—सोने के ठोस कड़े जान पड़ते हैं। हथेली पर रखकर वज़न का अनुमान करते हुए कहा—"पहले काटना और फिर तपाना पड़ेगा।"

ग़नी ने उत्तर दिया—"मगर मैंने अभी अर्ज़ किया न कि मैं एक के बदले दस चुकानेवाला आदमी हूँ।"

गिरधारी लाला को हँसी आ गई। कड़ों की ओर लालचभरी दृष्टि से देखते हुए उन्होंने कहा—"देखो ग़नी, तुम हमारे दोस्त ज़रूर हो, मगर यहाँ सवाल तिजारत का है, दोस्ती का नहीं; एक बात।··और दूसरी यह कि जितना तुम मुझे जानते हो, मैं तुम्हें उससे ज्यादा जानता हूँ। एक के बदले तुम दस चुकाओगे कहाँ से?"

अब ग़नी आश्चर्य में पड़ गया। लेकिन तुरन्त तहमत सँभालते हुए बोला—"तब मैं कहूँगा कि आप मुझको क़तई नहीं समझे। आपके इक़बाल से एक मकान है यहाँ शहर में। उस मकान के आगे दुकान है अपनी, बहुत बड़े पैमाने पर चूड़ियों की; जिस पर अल्लारक्खू की माँ बैठती है। मकान के पीछेवाला हिस्सा किराए पर उठा हुआ है और उसका निकास पिछवाड़े की गली से है। सत्ताईस रुपये उससे आते हैं। गाँव में आपको मालूम ही है, बीस बीघे पुख्ता जमीन है, जिसका भूमधर मैं बन चुका हूँ। इसलिए यह सोचना कि मौक़े पर दो-चार हज़ार मैं खर्च नहीं कर सकता, मेरे साथ जुल्म करना है। हम अपनी आन-बान पर ज़िन्दगी कुरबान करनेवाले आदमी हैं। माफ़ कीजियेगा, आपकी तरह काँख-कूँखकर पैसा निकालनेवाले आदमी नहीं!"

गिरधारी लाला फिर हँस पड़े और बोले—"तुम मेरा मतलब नहीं समझे।····मैं यह थोड़े ही कह रहा था कि तुम्हारे पास टका नहीं है! मेरे कहने का मतलब तो यह था कि चीज़ किसी दूसरे की और उसके हर्जाने में एक का दसगुना चुकाने बैठो तुम! मैं तुमको इतना बेवक़ूफ़ नहीं समझता। फिर जब तुम्हारा कहना यह है कि सोना बिलकुल असली है, एक पाई भी मिलावट उसमें नहीं है, तब उसको परखने से क्यों डरते हो? और मान लो, कहीं कट ही गया और सौदा न पटा, तो फिर जुड़वाने में देर कितनी लगती है? हमारे गुरू कहा करते थे कि लोटा खरीदो तो पहले यह देख लो कि उसमें पेंदी भी है······क्या समझे?" और लालाजी फिर

हँस पड़े ।

ग़नी भी इस बार हँस पड़ा। बोला—"बाबूजी, आपकी बातें भी निराली होती हैं। आखिर मुझे दाँव पर लाकर पटक ही दिया आपने! ख़ैर कोई बात नहीं। देख लीजिये, जैसे चाहे वैसे। मगर यह तो बताइये कि दस तोले की गाँठ है, आप रखियेगा कितने पर, और शर्त क्या रहेगी?"

गिरधारी लाला कुर्सी से उठे, दाईं ओर मुड़े, चार क़दम चले और मत्थे पर हाथ रखकर पीछे खिचड़ी हो रहे बालों पर हाथ फेरते हुए बोले—"देखो ग़नी, जब तक सोना परख नहीं लिया जाता, घोड़े की चाल नहीं देख ली जाती, गाय को घर पर रखकर उसका दूध-दही, मट्ठा और मक्खन एक बार पेट के अन्दर चला नहीं जाता और पान मुँह में रखते-रखते अपना परिचय नहीं देता, तब तक न कोई उनकी मुनासिब इज़्ज़त कर सकता है, न उनका सही दाम लगा सकता है।"

इसी समय भीतर के दरवाज़े से चिक का परदा फिर उठा और एक कड़कीली आवाज़ के साथ गिरधारी के मुँह से निकल गया—"कौन?" और इस प्रश्न के साथ ही उन्होंने खुले हुए माल के ऊपर कपड़ा डाल दिया।

उत्तर में काली ने कहा—"सोहन तम्बोली ने शाम को आने का वादा किया है।"

गिरधारी लाला बोले—"अच्छा जाओ।··· लेकिन ठहरो, ज़रा सुशील बाबू को तो बुलाना, जो सोने का काम बनाते हैं और फ़र्म बिहारीलाल बनवारीलाल सराफ़ की दूकान के ऊपर बैठते हैं।"

काली बोला—"वही बंगाली बाबू, जो सिनेमा के पीछे रहते हैं?"

गिरधारीलाला ने तपाक से कहा—"हाँ हाँ वही।"

काली चला गया। अब लाला उठे। सड़क की ओर वाला दरवाज़ा खोला। बिजली की बत्ती बन्द की, फिर अपनी कुर्सी पर आ जमे और ग़नी की तरफ़ झुककर धीरे से बोले—"किसका माल है? चोरी-चकारी का तो नहीं है?"

ग़नी ने कानों पर हाथ धर लिए। फिर सिर हिलाकर एक झटके के

साथ उत्तर दिया—"ऐसा कभी हो सकता है ?"

गिरधारी लाला कुर्सी की पीठ से जा लगे और एक अँगड़ाई लेते और सँभलते हुए बोले—"इस दुनियाँ में सब हो सकता है ग़नी मियाँ ! अभी तुम हो किस फेर में ! मैंने अपनी इस छोटी-सी जिन्दगी में ज़माने के बहुत से चढ़ाव-उतार देखे हैं। मैंने देखा है, नीम के पेड़ के दुबग्घे पर उगते हुए नन्हें से पीपल के अंकुर ने उसका कलेजा चीर दिया है ! देखते-देखते दस बरस के अन्दर, पीपल का पेड़ बढ़कर चारों ओर छाकर रह गया है और नीम पेड़ का दुबककर पिद्दी बन गया है ! ··· मैंने देखा है, इलाहाबाद में गंगाजी की धारा का एक हाथ झूसी पर है, दूसरा दारागंज पर। बीच में बालू पड़ गई है और उसमें ककड़ी, तरबूज़ और खरबूज़े बोये गए, पनपे, फले और मिट गए। फिर अचानक गंगाजी ने अपना रुख बदल दिया। वे झूसी चली गईं और दारागंज की तरफ़ उन्होंने आँख तक नहीं उठाई। शहर के लोग पहले गंगा नहाते, फिर कपड़े बदलकर जब धूप में निकलते और दारागंज पहुँचते तो फिर एक बार पसीने से नहा उठते।····और उसके बाद अब मैं यह भी देख रहा हूँ कि झूसीवाले दारागंज आकर स्नान करते हैं।····मैंने देखा है कि भरी जवानी में अकेला बेटा दुनियाँ से कूच कर गया! घर पर कार-बार सँभालनेवाला कोई एक बच्चा भी नहीं बचा ! और अब हालत यह है कि भरी-पूरी गृहस्थी के लिए उनको बाज़ार से अनाज खरीदना पड़ता है ! नौकर-चाकर, दोस्त-दुश्मन जहाँ और जिस तरह चाहते हैं, मारते खाते हैं ! खड़ी फसल कटवा ली जाती है ! खलिहान में पड़ी हुई अनाज की लाँक में से गट्ठे-के-गट्ठे रात-बिरात इतमीनान से उठवा लिये जाते हैं ! घर में लड़की की शादी होती है, तो पिछवाड़े का छप्पर आग की लपटों में नज़र आता है ! साल बीतने नहीं पाता कि दोनों बैल मर जाते हैं ! नतीजा यह होता है, बिना जमीन उठाये, बिना बाग़-बगीचा उजाड़े, बिना लकड़ी बेचे, उनका काम नहीं चलता। और तबियत का हाल यह है कि हलवाई की दुकान पर आप बताशा लेने गए हैं। बताशों

भरी टोकरी अन्दर रखी है। उसमें से सेर भर बताशा निकालन के लिए हलवाई जब दुकान के अन्दर जाता है, तब वे पुराने ज़माने के रईस और जमींदार चुपचाप थाल में से दो पेड़े निकालकर जेब के अन्दर रख लेते हैं! ••••इसीलिए कहता हूँ ग़नी कि इस दुनिया में सब होता है!"

ग़नी चुप रह गया। उसका कलेजा धड़क उठा। उसने चाहा कि गाँठ उठाकर चल दे। लेकिन अब वह फँस चुका था; क्योंकि माल किस तरह का है, इसकी जानकारी ख़ुद उसको भी न थी।

सुशील बाबू को आते देर नहीं लगी। दरवाज़े के सामने आते ही मुस्कराते और दाँतों से पान की लाली झलकाते हुए बोले—"नमस्कार दादा!"

गिरधारी लाला उठकर खड़े हो गए। एकाएक उनका हाथ अपनी दाढ़ी पर पड़ गया और उन्होंने अनुभव किया, खूटियाँ निकल आई हैं। मन-ही-मन कहा—'ख़ैर कोई बात नहीं' और सुशील बाबू से बोले—"आइये बंगाली बाबू। लीजिए, पान लीजिए।" और इतना कहकर उन्होंने डब्बे से पान निकाले और दो पान उनको और दो ग़नी को दे दिए। दरवाजा फिर बन्द किया और बिजली की बत्ती फिर जला दी। गाँठ के ऊपर का कपड़ा खोला और कहा—"ज़रा देखो इसको तपाकर और काटकर। क्योंकि अगर किसी भी जगह से माल गड़बड़ निकला, तो ज़िम्मेदारी आपकी होगी।"

सुशील बाबू ने कड़ों को हाथ में लेकर पहले वज़न का अन्दाज़ लिया और फिर कुछ सन्देह के साथ पूछा—"तुलवाया था? कितने रुपए भर हैं?"

ग़नी के मुँह से निकल गया—"दस तोले से क्या कम होंगे?"

सुशील बाबू बोले—"काँटा आपके यहाँ होगा। निकालिए तो ज़रा!"

गिरधारी लाला उठे, अलमारी खोली, काँटा और उसके साथ के बाँट निकाले और सुशील बाबू के सामने रखकर बोले—"लीजिए, आप ही तोलिये!"

सुशील बाबू ने तोलकर जब देखा, तो माल केवल छः तोले निकला।

ग़नी का मत्था चकरा गया ! उसकी आँखों पर अँधेरा-सा छा गया ! मगर फिर देखते-देखते उसका चेहरा तमतमा उठा, भौंहें चढ़ गईं, होठ हिल उठे और गाँठ समेटते और बगल में दबाते हुए उसने कह दिया—"माफ़ कीजिएगा लालाजी, मुझे धोखा दिया गया है। मैं अब इस चीज़ को आपके यहाँ नहीं रखूँगा और जिसने यह गाँठ रखने के लिए मुझको फँसाने की कोशिश की है, जब तक उसकी नाक न साफ़ कर दूँगा, तब तक चैन से न बैठूँगा। मुझे इस माल पर खुद ही शक हो गया है। इतने मोटे कड़ों का वज़न इतना कम हो ही कैसे सकता है, जब कि सोना असली है।"

सुशील बाबू और गिरधारी लाला एक साथ हँस पड़े। मगर तब तक ग़नी दरवाज़ा खोलकर जा चुका था।

: १४ :

प्रतिभा का जीवन एक साधना का जीवन था। उसके पास कम पैसा नहीं आता था। परन्तु जितना अधिक पैसा आ सकता था, अपेक्षाकृत उससे बहुत कम आ पाता था। इसका एक कारण यह भी था कि उसका बँगला एक अर्थ-शोषक व्यवसायी की दुकान न थी; वह एक प्रकार का आश्रम था। उसके यहाँ उस प्रकार के रोगी अधिक आते थे, जिनके पास न तो पहनने के लिए काफ़ी कपड़े रहते, न दो दिन के लिए भी खाने का कोई प्रबन्ध होता; जो पथ्य के लिए न साबूदाना खरीद सकते, न मूँग की दाल। नुस्खा लिख देने पर किसी मेडिकल-स्टोर से दवा ले आना जिनके लिए असम्भव रहता। ये लोग अक्सर इस हालत में आते कि गन्दगी के कारण उन्हें कमरे में बैठाना भी असह्य हो उठता! मिलनेवाले और परिचित सफ़ेदपोश अक्सर शिकायत भी करते—"आजकल आपकी डिस्पेंसरी तो एक अनाथालय बन रही है !"

प्रतिभा देवी यदि उस क्षण नुस्खा लिखती होतीं, तो उसको पूरा

करती-करती अतिशय गम्भीर होकर तुरन्त उत्तर दे देतीं—"जिनकी आप शिकायत कर रहे हैं, उनका केवल शरीर गन्दा है। सो भी ऊपर से; पर आप लोगों का शरीर ही नहीं, मन भी गन्दा और सड़ा हुआ है—सो भी भीतर से ! क्या आप समझते हैं कि इन सब लोगों को दवा के साथ ज़हर देकर सदा के लिए सुला देना चाहिए ?"

लोग उत्तर में तरह-तरह की बातें करने लगते। कोई टेबल पर से आलपीन लेकर दाँत किरोदता हुआ कहता—"यह संसार सदा से ऐसा ही चला आया है और सदा ऐसा ही चलता रहेगा। लोग जन्म लेंगे और मरेंगे। लोग आनन्द मनायँगे और रोयँगे। इस प्रकार सुख-दुःख तो जीवन में बने ही रहेंगे। आप इन लोगों के दुःख कहाँ तक दूर करेंगी ?"

तब एक ओर किसी स्त्री की बाँह पर से प्रतिभा के इंजेक्शन का हाथ उठता और दूसरी ओर तपाक से उपर्युक्त कथन का उत्तर मिल जाता—"जी हाँ, बिना दवा किये भी लोग एडियाँ रगड़ते-रगड़ते, रो-झींखकर अन्त में बच ही जाते हैं और दवा होने पर भी सभी मरीज़ तो बच नहीं पाते; क्योंकि आखिर दवा भी तो रोग की ही हो सकती है—मृत्यु की नहीं। जब यह निश्चित है और विधि के विधान की भाँति निश्चित है; जब यह हमारा एक विश्वास-सा बन गया है और ऐसा जान पड़ता है कि सदा बना भी रहेगा, तब पता नहीं, आप अपना अमूल्य समय और पैसा बरबाद करने यहाँ आते ही क्यों हैं ! मतलब यह कि शोषण और नोच-खसोट के संगठित चलन-व्यवहार की यह दुनिया—आप चाहते हैं—ज्यों-की-त्यों बनी रहे और आप लोगों के आनन्द-विनोद में कोई अन्तर न पड़े ! पिछड़े हुए, दलित और पीड़ित समाज को अगर हम ऊपर उठाना चाहते हैं, तो आप लोग झट यह फ़तवा देने को आगे आ जाते हैं कि ऐसा तो सदा से होता आया है और होता रहेगा ! खूब !!"

कुरसी पर बैठा-बैठा कभी कोई इतने ज़ोर से छींक देता कि एक ओर झट उसे टेबिल पर रूमाल रखकर अपनी गन्दगी छिपा लेनी पड़ती ; दूसरी ओर घर में लड़के की ससुराल से कुछ लोग बहू की विदा के लिए दो दिन

से पड़ रहे थे ! जो सामान वे ले आए थे, उसे चुपचाप रखकर उसने उन लोगों को बियरिंग वापस कर दिया था; क्योंकि दहेज में अब भी दो सहस्र रुपये की कमी बनी थी । और दहेज को वह स्वराज्य की भाँति अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझे बैठा था । और बात पड़ने पर वही कह उठता—"व्यक्तिगत दान-पुण्य और उदारता तो एक तरह की मूर्खता है । क्योंकि इससे हम प्रकारान्तर से समाज को परमुखापेक्षी और पंगु बनाते हैं !"

"जी हाँ, मनुष्य की आवश्यकताओं के प्रति सहृदयता और भिन्न रुचियों के प्रति सहनशीलता दिखलाना भी एक प्रकार की मूर्खता ही है ।" एक बच्चे की बग़ल में थर्मामीटर लगाते हुए प्रतिभा बोल उठी—"क्योंकि जिस तरह भेड़ें चराई जाती हैं, उसी तरह जब तक आदमी न चराये जायँग, तब तक हमारा सामाजिक संगठन कभी आधुनिक ढंग पर दृढ़ और पुष्ट हो नहीं सकता! इसके सिवा और भी तो एक बात है ।··· घर में घड़ों के अन्दर काफ़ी ठंढा पानी है । लेकिन बरफ़ की बात ही और होती है । और बरफ़ इस चौराहे के बाद, दूसरे नहीं तीसरे चौराहे पर, दो आने सेर मिलती है । यहाँवाले लुटेरे हैं सब-के-सब, जो तीन आने सेर लगाये हैं । साइकिल से आदमी भेजा गया है बरफ़ लाने । बस, अभी आ जाती है जरा देर में । और जो आदमी प्यासे बैठे हैं, उनके मुँह सूख रहे हैं । दस मिनट बीत गए, बीस मिनट बीत गए । पचीसवें मिनट पर वह आदमी ख़ाली हाथ लौट आया, हाँफता और यह कहता हुआ कि बरफ़ वहाँ खतम हो गई और यहाँवालों ने चार आने सेर कर दी ! और देर इसलिए हो गई कि साइकिल में पंचर हो गया था । इसके बाद जब प्यासे लोगों को घर के घड़े का पानी पिलाया गया, तब तक पाँचों में से एक आदमी ऐसा निकला, जो गिलास-पर-गिलास पीता ही चला गया और अन्त म पाँचवें गिलास को मुँह से लगाते-लगाते वहीं ढेर हो गया ! बेचारा लू का मारा और मुरझाया हुआ था और फिर घंटों से प्यासा था ! ··· तो दुनिया के जो नये रंग-ढंग आपको बहुत प्यारे लगते हैं, आप उनको

शौक़ से अपनाइय। लेकिन यह कौन सी बुद्धिमानी है कि महल बनाने का स्वप्न देखते ही पहले आप अपनी झोंपड़ी भी फूंक डालें!"

दिलीप अक्सर प्रतिभा देवी के यहाँ आकर चुपचाप यह चख-चख सुना करता। एक बार कुछ ऐसा हुआ कि एक बाबू साहब बहुत घबराये से, बड़ परेशान से दौड़ते और हाँफते हुए आए। उनकी आँखों में आँसू छलछला रहे थे। बोले—"देवीजी—मेरी पत्नी·······!"

देवीजी ने इंजेक्शन की शीशी का शिरोभाग तोड़ते और हँसते हुए कहा—"यह क्या बक रहे हैं आप? साफ़-साफ बतलाइए न कि मेरी पत्नी का यह सातवाँ महीना चल रहा है या·········।"

"जी नहीं देवीजी" उसके तो मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ है और इस वक्त उसकी हालत बहुत नाज़ुक है! किसी तरह उसके प्राण बचाइए।"

संयोग की बात कि उस दिन लगभग छः महीने बाद दिलीप को वही आदमी वहाँ फिर दीख पड़ा। पर इस बार वह कह रहा था—"अब के कोई ऐसी दवा कर दीजिए कि जो गड़बड़ी उस बार हुई थी, वह अब इस बार तो न हो!"

दिलीप का माथा ठनका। वह सोचने लगा, निश्चय-पूर्वक यह आदमी कोई ऐसा रोग पाले हुए है, जिसका प्रभाव इसके बच्चे पर पड़े बिना नहीं रहता और बहुत सम्भव है, पत्नी पर भी अवश्य पड़ता हो। किन्तु थोड़ी देर बाद उसने देखा कि वही आदमी एक औरत को इसलिए डाँट रहा है कि उसके बच्चे ने खेलते-खेलते मुँह की लार टपकाकर उसके जूते की पालिश बिगाड़ डाली थी!

इस दृश्य को देखकर थोड़ी देर तो प्रतिभा चुप रही। उसने उस औरत को भी समझा दिया कि बच्चे को वह अपनी गोद में ही रखा करे। पर फिर उस व्यक्ति से इतना कहे बिना वह रह न सकी—"कमरों को साफ़ रखने की पूरी व्यवस्था कर दी गई है। मरीज़ों से भी कह दिया जाता है कि वे गन्दे रहने की आदत छोड़ दें। पर अगर आपकी आँखें इन ग़रीब और अनाश्रितों को देखना भी स्वीकार नहीं करना चाहतीं, तो आप फिर कोई ऐसी

जादू की लकड़ी तैयार कीजिये, जिसको छुआ देने-मात्र से इन दरिद्र लोगों का समाज कम-से-कम उन क्षणों के लिए तो राज-परिवार बन जाया करे, जब आपका यहाँ शुभागमन हो !"

ऐसे कथनों के समय विस्मय-विमुग्ध श्रद्धा-सम्मोहित दिलीप क्षण-भर के लिए मुसकरा उठता। उसकी दृष्टि दीदी की उन शान्त गम्भीर आँखों पर स्थिर हो जाती, जिनको वह नित्य देखा करता था। वह अनुभव करता, सोचता, अपने-आपसे प्रश्न करता और उलझ भी जाता कि आज के हमारे इस देश और समाज में मानवी समवेदना और सहानुभूति का इतना अभाव क्यों हो गया है ? सार्वजनिक सम्पर्क के नाना क्षेत्रों में डॉक्टरों, वकीलों तथा कचहरी के विविध कार्यालयों में हृदय-हीनता का यह व्यापार कब तक इसी भाँति चलता रहेगा ?

और इन्हीं क्षणों में वह नाना प्रकार की योजनाएँ मन-ही-मन गढ़ डालता। 'हम एक ऐसे दल की स्थापना करेंगे, जो सांस्कृतिक विकास के महान् उद्देश्य को सामने रखकर नगर-नगर, गली-गली और घर-घर घूम-घूमकर नैतिक पतन की वास्तविक मर्म-व्यथा पर भाषण देगा और एक ऐसे समाज के नवनिर्माण के लिए जनता को जगायगा और तैयार करेगा, जिसका नैतिक स्तर सर्वथा स्वच्छ, स्वस्थ और उच्च होगा।'

उस दिन कुछ ऐसा हुआ कि यकायक ग़नी सामने पड़ गया। उसने सलाम किया, तो दिलीप ने पूछा—"कहो ग़नी, कैसे दिन कट रहे हैं ?"

ग़नी इस प्रश्न को सुनकर एकदम से जैसे हक्का-बक्का रह गया। वह संकेत से उसको अलग एकान्त में ले गया। बोला—"छोटे सरकार, आपसे क्या छिपाऊँ ! मैं तो बड़ी मुसीबत में फँस गया हूँ। कई दिन से दामाद आकर घर में ठहरा हुआ था। वह बम्बई जाना चाहता था। पर फ़ातिमा उसको इसके लिए मना करती थी। कल रात को जब मैं घर में नहीं था, इसी बात पर, दामाद ने फ़ातिमा को बहुत मारा-पीटा। यहाँ तक कि वह बेहोश हो गई। फिर वह उसका ज़ेवर लेकर रात को ही भाग गया। फ़ातिमा के पेट में बच्चा था। वह मर गया-सा जान

पड़ता है, क्योंकि खून बहुत गिरा है और फ़ातिमा की जान खतरे में है !"

सुनकर दिलीप का मुख क्रोध से तमतमा उठा। उसके होठ फड़कने लगे। उसने कहा—"डॉक्टर को दिखलाकर उसकी सही-सही हालत का एक सर्टिफ़िकेट ले लो, पुलिस में रिपोर्ट कर दो और दामाद के नाम वारंट निकलवाकर उसे गिरफ़्तार करवाओ। किसी आदमी को अपनी विवाहिता स्त्री के साथ भी पशुता का व्यवहार करने का कोई अधिकार नहीं है।"

"ठीक कह रहे हैं छोटे सरकार ! मगर ऐसा कहीं होता है !" ग़नी जेब से बीड़ी निकालकर कहने लगा—"आज घर-घर यही हालत है। फिर आखिर को अपना दामाद ही ठहरा। कहीं उसको सजा हो गई, तो अपने को क्या मिलेगा ?"

"अपने को मिलेगा यह बल कि हमने लड़की के अधिकार का मान तो किया ! अपने को मिलेगा यह संतोष कि आखिर हमने ज़ालिम को सज़ा दिलवा ही दी। इस तरह हम लड़की पर पड़नेवाली उन मुसीबतों से छुटकारा पायँगे, जो आगे भी उस पर पड़ सकती हैं। और इस तरह उसको यह समझने का मौक़ा मिल सकता है कि स्त्री स्त्री है; वह कीड़ा नहीं है कि जब चाहा, मसल डाला।"

ग़नी ने धीरे से कह दिया—"पर अपना खयाल तो यह है कि इस तरह लड़की और ज्यादा मुसीबत में पड़ जायगी। उसको दूसरे आदमी की ज़रूरत होगी। और मुमकिन है, वह भी उसके साथ ऐसा ही सलूक करे ! तो इस तरह वह कब तक आदमी बदला करेगी !"

दिलीप ने ग़नी की इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वह उससे ऐसे उत्तर की आशा नहीं करता था।····अब भी प्रतिभा को मरीज़ों से छुट्टी नहीं मिल पाई थी। अतः दिलीप ने स्वयं प्रतिभा से कह दिया—"इसकी लड़की को जल्दी देख लेने की ज़रूरत है दीदी ! उसकी जान खतरे में है" और प्रतिभा ने ग़नी से उसका हाल जो पूछा, तो उसे तत्काल उसके यहाँ जाना पड़ा। दिलीप तब भी यही सोचता रहा—'क्या ग़नी ठीक कहता है ? केवल विधान के बल से हम मनुष्य को देवता नहीं बना सकते, उसके

दुःख सदा के लिए दूर नहीं कर सकते। विधान की आधारभूत भावना का मान करने के लिए हमे जनता के सांस्कृतिक स्तर को उच्च बनना पड़ेगा।—'

फ़ातिमा चारपाई पर संज्ञा-हीन लेटी हुई थी। उसका बिस्तर खून से तर था। फ़र्श पर भी काफी खून पड़ा था और बहुत सा तो मोरी के रास्ते से बह भी गया था। उसके सिर के केश तकिये के ऊपर बिखरे पड़े थे। वाडिस के ऊपर तिरछी पड़ी हुई उसकी महीन साड़ी चारपाई के नीचे तक लटक रही थी। उसकी कंधों तक खुली बाहें सिरहाने की ओर फैली हुई दोनों पाटियों को छू रही थीं। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों की पलकें बन्द थीं और कपोलों तक ढुलकी हुई आँसू की बूंदें अभी तक सूख नहीं पाई थीं! उसके पान से लाल होठ कुछ-कुछ काले पड़ रहे थे।··उसके केशों में पड़ा हुआ इत्र पास जाते ही अपना गुलाबी परिचय दे उठता था। सामने की अलमारी में पानदान रखा था, जिसके ढक्कन पर रखा हुआ खुला पान अब सूख गया था! इस पानदान के पीछे रबर का एक हँसता हुआ खूबसूरत बबुआ था, जिसका उठा हुआ एक हाथ माँ को बुलाता हुआ-सा जान पड़ता था! उसके पास ही बुननेवाली ऊन की गुलाबी लच्छियाँ और चार अंगुल के बराबर बुने हुए भाग म गुँथी हुई उसकी सुइयाँ पड़ी थीं। इस अलमारी के ऊपरी खाने में एक बड़ा-सा शीशा था, जिसके कोने में एक फ़ोटोग्राफ़ चिपका हुआ था। यह फोटोग्रोफ सम्भवतः उसके पति का था।

प्रतिभा ने पास जाते ही कह दिया—"यह तो चली गई!" फिर उसने नाड़ी देखी, दिल की धड़कन देखी। लेकिन तब तक सब समाप्त हो चुका था।

फ़ातिमा सुन्दर थी। और ग़नी को देखकर कोई व्यक्ति यह सोच भी न सकता था कि उसकी लड़की इतनी सुन्दरी होगी। दिलीप प्रतिभा के पीछे चुपचाप खड़ा था। इस दृश्य को देखकर उसकी अन्तरात्मा रो उठी। उसने कहा कुछ नहीं, पर दिन-भर उसका मन अत्यन्त खिन्न रहा। अभी तक उसने जीवन का जागृत, स्मित, उत्फुल्ल, किंचित् म्लान

और सुषुप्त सौन्दर्य ही देखा था । पर आज मृतसौन्दर्य की जड़ आभा के भीतर उसने फ़ातिमा के स्वस्थ रूप और उससे भी बढ़कर उसकी सभ्यता की जो झलक पा ली, वह उसके लिए एक मर्म-भेदिनी पीड़ा बन गई थी ।

बार-बार वह यही सोचता रहा—'आखिर कब तक हमारे देश में, इस वय के नर-नारी इस प्रकार की मृत्यु के शिकार होते रहेंगे ? कब तक दानव-वृत्तियाँ ऐसे रूप-सौन्दर्य की हत्या करती रहेंगी ?'

किसी प्रकार भी वह अपने मन को शांत कर नहीं पाता था । नाना प्रकार की उल्टी-सीधी कल्पनाएँ उसके भीतर उठती, बोलती और हल्ला मचाने लगती थीं । चुपचाप खड़ा हुआ दिलीप मन-ही-मन उस फ़ातिमा से पूछ रहा था—'तुमको मृत अवस्था में देख पाना ही क्या मेरे भाग्य में लिखा था ?'

प्रतिभा ने झीनी साड़ी से फ़ातिमा का मुँह ढक दिया । दोनों चुपचाप चल दिए और ग़नी रो पड़ा ।

ग़नी बेचारा बहुत रोया । दिलीप उसको बड़ी देर तक समझाता रहा । वह दूसरे दिन भी उसके यहाँ गया और उसके यहाँ बैठा रहा । पर उस दिन ग़नी ने कहीं पूछ दिया—"अच्छा छोटे सरकार, ऐसी क्या बात हुई, जो आपने डॉक्टरी पढ़ना छोड़ दिया ?"

सुनकर दिलीप के हृदय पर बाण-जैसा आघात लगा । पर उसे अधिक न अनुभव करके उसने उत्तर दिया—"चाचाजी से नहीं पूछा ?"

"उनसे तो नहीं पूछा । मगर बफ़ाती कहता था—'गिरधारी लाला एक दिन इसके लिए पछतायँगे' ।"

"लेकिन ग़नी, मैंने तो बफ़ाती से इस विषय में कुछ कहा नहीं !"

"मगर आपके न बतलाने से भी बात तो छिप सकती नहीं । आप तो जानते हैं, ऐसी बातों के पर लग जाते हैं । तब वे अपने-आप उड़ने लगती हैं । फिर, अपना सुख-दुःख आप किसी से कहते भी हैं ! ऐसा आदमी इस दुनिया में खोजने से शायद ही कहीं मिले ; मेरे खयाल से तो मिलेगा

नहीं। बफ़ाती हाथ मल रहा था। कहता था—"दिलीप भैया से डरता हूँ, नहीं तो लालाजी की तबियत तो मैं एक दिन में झक कर दूँ।"

"बफ़ाती की संगत बहुत खराब हो गई हैं ग़नी! सदा मैं इस चिंता में रहता हूँ कि कहीं वह जोखिम का कोई काम न कर बैठे! चाचाजी आखिर मेरे पिता के समान हैं। उनके लिए उसको ऐसा नहीं सोचना चाहिए।"

"आप तो बिलकुल महात्माजी की तरह बात करने लगते हैं भैया! जो आपके लिए काँटा बोता है, उसके लिए आप फूल बोते हैं।"

"तुम लोग भी तो ऐसा ही करते हो ग़नी! जिस दामाद ने तुम्हारी लड़की को मार डाला, उसको तुमने साफ़ छोड़ दिया। उसको सज़ा दिलवाने के लिए तुम्हारी आत्मा ने गवाही नहीं दी।"

"वह बात और थी। उसमें अपनी इज़्ज़त का सवाल था। मज़हब तहज़ीब और तमद्दुन का सवाल था। इसमें सवाल इन्सानियत का है, जो उससे भी बड़ा है।"

दिलीप सोचता रहा—'ये मान और इज़्ज़त, संस्कृति और सभ्यता, की लीपा-पोती में निरन्तर लिप्त रहनेवाले यह क्यों नहीं सोचते कि मनुष्यता के विकास एवं संरक्षण का प्रश्न ही विश्व के धर्म, सभ्यता और संस्कृति का मूलाधार है?'

'पर उस दिन ग़नी ने मुसकराते हुए उससे और भी एक बात कह दी। बोला—"मैंने सुना है दादा के यहाँ आपकी शादी तै हो रही है!"

"देखो ग़नी, तुमको और कोई बात न करनी हो, तो मैं अब चलूँगा।" दिलीप तब इतना कहकर चल दिया। यहाँ तक कि उसने ग़नी को उत्तर सुनने का भी अवसर नहीं दिया। पर चलते-चलते उसके मन में आया यही—मैं गुड्डे-गुड़ियों का-सा खेल पसन्द नहीं करता। मैं लक्षणा···· लक्षणा मैं····मैं अभी कुछ तै नहीं कर सकता।'

फिर थोड़ी देर में वह सोचने लगा—'पर मैं यह सब कहता किससे हूँ? क्या म अपने-आपसे लड़ रहा हूँ? क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि

विवाह का कोई और प्रस्ताव आय, तो मैं बिगड़ उठूं !'

तब स्वयं उसे अपनी मनःस्थिति पर हँसी आ गई—'दूसरों को तो क्या, हम अपने को भी वहुधा नहीं पहचान पाते !'

: १५ :

कल पहले खूब जोर की हवा चली थी स्वप्न जगाने; फिर काली घटाएं आई थीं दर्द उभारने और एकाएक पानी बरसने लगा था जीवन में रस बरसाने। दिलीप सोचने लगा—'मैं कर्त्तव्य के अमिट बन्धनों में कसा हुआ प्राणी और सुख-सुविधाओं के पलनों में झूलनेवाली तुम लक्षणा· · · ? · · ·

'तुमने कहा था—"ऐसा कष्ट जीवन में कब-कब मिलता है ?" तुम्हारे अन्तस् की वाणी इस कथन में फूट पड़ी थी। जान पड़ा था, वह कष्ट तुम्हें प्यारा लगा था। फिर तुमने अनन्त आशाओं को एक ही वाक्य में समेट-कर कह दिया था—"आप तो भगवान् की कृपा पर पूर्ण विश्वास रखनेवालों में हैं।"···तो क्या मैं यह समझ लूं कि तुमको भगवान् पर आस्था नहीं है ? क्या तुम्हारा कल्पना-लोक हमारे बीच का नहीं है ?· · · · ·नहीं-नहीं, तुमने प्रकारान्तर से कहा था कि तुम्हारा विश्वास ही भगवान् की इच्छा होगी। सचमुच मेरा जीवन-साथी भगवान् का कोई प्यारा ही हो सकता है—उसे ईश्वर की इस अनोखी रंगशाला का कोई वीर खिलाड़ी ही होना चाहिए ।'

फिर उसको प्रतिभा देवी की याद हो आई—अब उनके केश श्वेत हो चले हैं, उनका शरीर दुर्बल हो गया है। लेकिन उनके मुख की वह उज्ज्वल कान्ति अब भी प्रभावित करती है। उन्होंने कहा था—कुछ आश्चर्य के साथ—"मगर दिलीप, तुम सेवा के इस कठोर पथ पर आ कैसे गए? कोमल हाथों, हृदयों, व्यवहारों और गद्दों पर सुख की नींद

लेनेवाले दिलीप, तुम इस काँटों-भरे रास्ते पर अपना जीवन बिताओगे कैसे !....'' उनका आश्चर्य भी मुझे आज कितना प्यारा लग रहा है ! कितनी दूरदर्शिता उसमें झाँकती है ! मैंने संक्षेप में इतना ही कहा था—''दीदी, तुम तो मेरी माँ के समान हो और कोई भी माँ अपने बच्चे का सब-कुछ जानती है। मेरा तुमसे अब छिपा क्या है ? चाचा का मेरे प्रति जैसा व्यवहार है, उसको देखते हुए मेरे लिए कोई और रास्ता भी तो नहीं है। फिर मैं तो इस रास्ते पर आने, चलने और चलते जाने में भगवान् की ही लीला का एक अनोखा हाथ देखता हूँ।''

'दीदी इस पर मुस्कराने लगी थीं। उन्होंने कहा था—''अच्छा दिलीप, मेरे लायक कोई काम हो तो बतलाना !''

'और तब मैंने बाढ़-पीड़ित लोगों की वास्तविक स्थिति और रक्षा-दल की सीमित सामर्थ्य का थोड़ा सा परिचय देते हुए कहा था—''मुझे एक माँ की आवश्यकता है जो मौसमपुर-हॉस्पिटल में पहुँचकर उन बच्चों, कन्याओं और महिलाओं का जीवन बचा ले, जो मृत्यु के जाल में फँसकर तड़प रहे हैं। कैसा भी युग हो, मानवी सहानुभूति की हमें सदा आवश्यकता रहेगी। निर्मम प्रकृति के दारुण आघात जब शत-शत प्राणियों का संहार करने के लिए तुल जायँगे, तब कर्त्तव्य की पुकार यह सोचकर रुक न सकेगी कि यह काम तो सरकार का है, हमारा नहीं। हमें सामने के सब कार्यों को छोड़कर पहले पीड़ित मानवता की ओर देखना और उसी ओर भागना पड़ेगा। इसलिए मैं माँ का सहारा लेने और उसका अवलम्ब पाने आया हूँ; उसके मूल्य में कोई धनराशि माँगने नहीं। हमारा एक-एक क्षण बहुत मूल्यवान है। यहाँ शहर में पचासों डॉक्टर हैं। यहाँ का काम रुक न रहेगा। अतः आप अपने इस बच्चे का कहा मानकर यदि इस समय मौसमपुर-हॉस्पिटल में जाकर वहाँ का कार्य सँभाल लें, तो मैं अपने को धन्य समझूँगा। ऐसा न समझें कि कोई बच्चा माँ को आदेश कर रहा है। मेरे अन्तस् की भावना और विचार-धारा, मेरे जीवन-भर का समस्त लोभ-मोह और अहंकार, मेरी धमनियों में जाग्रत रहनेवाली कर्त्तव्य की

सारी गरमाहट, मेरी दीदी और माँ की ही देन है। मैं स्वयं कुछ नहीं कह रहा हूँ। प्रकारान्तर से मैं दीदी की ही बात बोल रहा हूँ।"

इस पर दीदी प्रसन्नता के मारे फूल उठी थीं। बड़े लाड़ से उन्होंने कहा था—"बहुत बातें करना सीख लिया है तुमने दिलीप! अच्छा, यह तो बताओ, घर से क्या खाकर चले थे?"

'मैं जानता था, इस प्रश्न का क्या मतलब है। मैं यह भी जानता था कि कुछ भी हो, दीदी बिना कुछ खिलाये मुझे जाने न देंगी। लेकिन मैं कर ही क्या सकता था? मुझे कहना ही पड़ा कि घर में पहले थोड़ा दूध लिया ओवलटीन के साथ और फिर तीन घंटे बाद मखाने की खीर खाई। फिर अभी सुरेन्द्र के यहाँ समोसे के साथ चाय लेकर आ रहा हूँ!

' "तब तो सेब और अंगूर थोड़े चल सकते हैं।" इस कथन के साथ दो प्लेटें मेरे सामने आ गई थीं। फिर उन्होंने दीपा को बुलाकर कहा था— "सभी जरूरी दवाइयाँ एक ट्रंक में रख लो। ड्राइवर से कहो, गाड़ी में पैट्रोल अगर कम हो, तो अभी भरवा ले। हमको दिन-ही-दिन में मौसमपुर पहुँच जाना है।" फिर उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा था—"जूतों में पालिश क्यों नहीं करवाई? अरी दीपा, माली को तो भेज झट से। पालिश करवा लाय।"

' "नहीं नहीं। मैं ऐसा ही ठीक हूँ।" मैंने जब संकोच के साथ यह उत्तर दिया, तो मुझे स्वतः ऐसा प्रतीत हुआ कि सचमुच ही मुझे अब एक ऐसे साथी की ज़रूरत है जो मेरी देख-रेख करता रहे।

'माली आकर मेरे जूतों के फीते खोलने लगा। तब दीदी बोली थीं—"आदमी को अपना गौरव कभी नहीं खोना चाहिए। जो लोग समझते हैं कि सफ़ाई और सुन्दरता बड़प्पन का एक कृत्रिम उपकरण है, वे यह भूल जाते हैं कि रूप के बिना मन्दिर के अन्दर मूर्ति की प्रतिष्ठा भी कभी सफल नहीं होती। भावना का कल्पना के साथ बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। मैं इससे इन्कार नहीं करती; परन्तु रूप के साथ उस सम्बन्ध का घनत्व और भी निकटतम है। जिन मर्तिकारों ने दिन, मास और

वर्ष-के-वर्ष लगाकर सुन्दर-से-सुन्दर मूर्तियों का निर्माण किया, ज़रा सोचो उन्होंने हमारी संस्कृति की आयु कितनी अधिक बढ़ा दी ! अन्यथा आज एलोरा और अजन्ता का नाम कौन जानता होता ।"

'माली जब जूते पर पालिश करवाकर लौटा, तब मुझे लक्ष्य करके उन्होंने कहा था—"अब तुम जाओ और जो भी काम तुम्हें निपटाने हों, उन्हें जल्दी-से-जल्दी निपटाकर चले आओ । मैं जब तक वहाँ पहुँचूंगी, तब तक तुम्हारी गाड़ी का भी टाइम हो जायगा । इस हिसाब से आशा है दस बजे तक तुम वहाँ ज़रूर पहुँच जाओगे ।"

'इसके बाद केवल तीन मिनट के लिए लक्षणा फिर मिल गई थी । उसकी आँखों में आँसू भरे हुए थे और साँसों के उतार-चढ़ाव से ऐसा प्रतीत होता था, मानो सुरेन्द्र के घरवालों के सिवा अपनी माँ की भी दृष्टि बचाकर, बहुत जल्दी में, वह भागती हुई आई है । बराण्डे में उस समय कोई न था; फिर भी वह बाथ-रूमवाले किवाड़ की ओट में छिप गई थी । मिलते ही उसने कहा था—"मुझे तुमसे सिर्फ़ एक बात कहनी है ।"

'मेरे मुँह से निकल गया था—"कहो, लेकिन जल्दी कहो !"

'मैं मानता हूँ, मेरे शब्दों में रुक्षता थी । लेकिन कार्य का भार ही इतना अधिक था कि उस समय भाषा में कोमलता लाना और फिर उसे स्थिर रख सकना मेरे लिए सर्वथा दुष्कर था ।

'उस किवाड़ के भीतर से उत्तर आया—"कोई नहीं जानता, क्या होनहार है ! लेकिन मैं····मैं जीवन की अन्तिम साँस तक तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी ।" उत्तर में जो स्पष्टता थी, वह अब पुनः आँसुओं में परिणत हो गई थी ।

'तुरन्त उचित उत्तर देने में मैं बड़ा कमज़ोर हूँ । इसीलिए कभी-कभी मौन ही बना रहता हूँ । पर उस समय न जाने कौन मेरे अन्तस् से बोल उठा—"बस, बस, इतना ही आश्वासन मुझे बहुत दिन जीवित रखेगा । मेरी उम्र बढ़ जायगी लक्षणा ! लेकिन यह क्या बात है ? चन्द्रहास को

में कभी रोते नहीं देखना चाहता !"

'झट उसने आँसू पोंछ डाले और किवाड़ के भीतर से बाहर निकलकर वह मेरे साथ चल दी। क्षण-भर तक कोई कुछ नहीं बोला। अन्त में जब हम फाटक पर आ गए, तब वह हँसती हुई बोली थी—"मैं भी साथ चलूं?" फिर गम्भीर होकर कहने लगी—"जी में आता है, छाया की भाँति मैं तुम्हारे साथ रहूँ। जब तक तुम लौटकर नहीं आओगे,तब तक••।" और इतना कहते-कहते उसकी पलकें फिर गीली हो उठीं, कण्ठ भर आया और आँसू झर-झर झरने लगे !

'अरे ! केवल स्मरण-मात्र से मैं स्वयं भी••••!' आँखों को रूमाल का परिचय देता हुआ दिलीप सोचने लगा—'पर यह पागलपन भी कितना प्यारा लग रहा है !'

दिलीप ट्रेन में बैठा था। बीच-बीच में कई स्टेशनों को छोड़ती हुई वह उड़ी चली जा रही थी कि इतने में उसकी गति मन्द होती जान पड़ी और दो ही मिनट बाद वह एक स्टेशन पर खड़ी हो गई। एकाएक झटके के साथ दरवाज़ा खुला और एक व्यक्ति अन्दर आ गया। वह नई सभ्यता में पूरी तरह रँगा हुआ था। वेश-भूषा से वह तबियतदार मालूम पड़ता था। सिगरेट उसके मुंह से धुआँ उगल रही थी। उसके बालों की कटिंग बहुत आकर्षक थी। दिलीप ने उसकी ओर देखा, लेकिन कुछ कहा नहीं। तब उसी ने उससे कुछ प्रश्न किये। दिलीप ने सच-सच बतला दिया; लेकिन अपनी प्रकृति के अनुसार उससे यह नहीं पूछा कि वे हज़रत कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं और अब जा कहाँ रहे हैं? वह धुआँ छोड़ते हुए डब्बे के अन्दर आया था और इस बातचीत के बाद उसने कहा था—"आप ऐसा काम अपनाये हुए हैं कि मौक़े पर ख़तरे से बचाना मेरा फ़र्ज़ हो जाता है।"

इस पर दिलीप उसे देखता रह गया। उसकी बात पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। तभी उसके मुंह से निकल गया—"क्या मतलब? क्या यहाँ कोई ख़तरा भी है?"

वह और पास खिसक आया और बोला—"दो आदमी टी-स्टाल के कोने में खड़े हुए कुछ कानाफूसी कर रहे थे। जहाँ तक खयाल है, इशारा आप ही की ओर था। जान पड़ता है वे आपका पीछा कर रहे हैं। हो सकता है कि आपके पास कुछ रक़म हो और जहाँ कहीं से आपने उसे निकाला हो, वे लोग वहीं से आपके पीछे लग गए हों।"

फिर थोड़ा रुककर एक बुज़ुर्ग की तरह वह बोला—"ज़माना इतना नाज़ुक आ गया है कि भले आदमी के लिए क़दम-क़दम पर ख़तरे हैं और ज़िन्दगी उफनाती नदी में भँवर की नाव बन गई है।"

इतना कहकर वह चुप हो गया। उसका ध्यान अब दिलीप की ओर था और वह कदाचित् यह देखना चाहता था कि उस पर इस बात का क्या प्रभाव पड़ता है। उधर दिलीप सचमुच चिन्ता में पड़ गया। उसने फिर उसकी ओर घूमकर एक बार ध्यान से देखा। तभी उसने जेब से सिगरेट का पैकेट निकाला और दिलीप की ओर बढ़ाते हुए कह दिया—"लीजिये।" एक अनिच्छा के साथ दिलीप ने कह दिया—"धन्यवाद ! परन्तु मैं सिगरेट-विगरेट-जैसी चीज़ों से बिलकुल दिलचस्पी नहीं रखता।" एक बार यह भी उसके मन में आया—'अगर उसका बस चलता, तो वह केवल संदेह पर उसे अभी, इसी समय, गिरफ़्तार करवा देता।' परन्तु तब तक उसने दिलीप के कान के पास मुँह ले जाकर कह दिया—"उनमें से एक कह रहा था—"माल साफ़ करने के पहले हमको अपना हाथ साफ़ करना पड़ेगा। आपको पता नहीं, ये लोग सब-कुछ कर सकते हैं !"

एकाएक दिलीप के बदन से पसीना छूट पड़ा। यह आतंक और भय का प्रभाव है, सोचता और जेब से रूमाल निकालकर मुंह पोंछता हुआ वह बोला—"आप उनसे कह दें, समय आने पर चार-छै ऐसे भेड़ियों, रीछों और सिंह बननेवालों का स्वागत मैं एक साथ कर सकता हूँ !"

एक ओर तो दिलीप ने उस को ऐसा भयानक आतंकपूर्ण उत्तर दिया, और दूसरी ओर वह मन-ही-मन सोचने लगा—'मुझे अपनी जान की रत्ती-भर भी परवाह नहीं है। लेकिन मुझे पक्का विश्वास है कि मेरे प्राण इस तरह

नहीं जा सकते। कुछ भी हो, मैं जानवर की मौत कभी नहीं मरूँगा।'

इतने में दिलीप के तमतमाए हुए चेहरे को देखकर उस व्यक्ति ने कह दिया—"तब आप बेकार घबराते हैं।"

गाड़ी रेंगने लगी थी कि वह व्यक्ति उठा और दरवाज़े के पास आकर बोला—"मगर उनकी आँखें बचाकर आप जर्नी ब्रेक तो कर ही सकते हैं। फिर ये साले इधर-उधर ग़ोता खाते रहेंगे।"

और इतना कहकर वह उतर पड़ा। उतरते समय छड़ पकड़े हुए वह फिर कुछ सोचकर बोला—"खैर, मेरा जो फ़र्ज़ था, मैंने उसे अदा कर दिया। अब आप जानें और आपका काम।"

दिलीप कुछ तै न कर सका कि उसे क्या करना चाहिए। अब ट्रेन की गति कुछ तीव्र होने ही लगी थी कि इतने में अकस्मात् वह फिर धीमी होने लगी और आधे मिनट ही में वह फिर खड़ी हो गई।

दिलीप के पास वास्तव में रक्षा का ऐसा कोई साधन न था, जैसा एक चुनौती के रूप में, अवसर के अनुसार, उसने प्रकट कर दिया था। पर जब गाड़ी संयोग से रुक ही गई, तो दिलीप का विचार बदल गया। अन्य उपाय न देख तुरन्त उसके मुँह से निकल गया—"जब आप मुझ पर इतनी कृपा कर रहे हैं, तब मुझे आपकी बात मान लेनी चाहिए।

"ऐज़ यू प्लीज़" उत्तर में झट से उस व्यक्ति ने कह दिया।

इसी समय दिलीप ने पूछा—"मगर आप कहाँ जायँगे ?" कदाचित् इस प्रश्न से वह इतना जान लेना चाहता था कि ऐसा तो नहीं है कि यह स्वयं उसे वहाँ उतारने आया हो।

उस व्यक्ति ने सिगरेट की मुँह लगी टुकड़ी को फेंकते हुए कह दिया—"मुझे तो चौथे स्टेशन पर उतर जाना है।···लेकिन आपके पास क्या ज़्यादा लगेज है ? मुझे तो······"और इतना कहकर वह अन्दर आता हुआ बोला—"बस यही अटैची-केस और बेडिंग दिखाता है।"

"नहीं, एक सूटकेस और भी है। यह रहा बर्थ के नीचे।" उत्तर के साथ दिलीप ने संकेत से बता दिया।

तब उस व्यक्ति ने झट दिलीप के कंधे पर हाथ रखकर संकेत से पूछा—"साथ में और कोई नहीं है ?"

दिलीप ने बतला दिया—"है तो वह·····बगल वाले सर्वेंट-क्लास में।" साथ ही उसने पुकारा—"काली, ए काली ! अरे सामान उतारो झट से। हमको यहीं उतर जाना है।"

और इतना कहकर दिलीप स्वयं भी नीचे उतर आया।

इतने में वह व्यक्ति बोला—"आप तो ख़ुद भी दो आदमी हैं। घबराने की कोई ज़रूरत नहीं है।"

दिलीप के जीवन में अपने ढंग का यह पहला ही अवसर था। इसलिए वह क्षण-भर के लिए विचार में पड़ गया। इसके बाद उसने अत्यन्त मर्मस्पर्शी वाणी में कह दिया—"काश आप जान सकते कि मैं अपने लिए नहीं घबरा रहा हूँ ! इसके सिवा आपने जिस संकट की सूचना दी है, उससे हमको सावधान तो रहना ही चाहिए।"

काली आ गया। वह सामान उतार-उतारकर देने लगा। तभी उस व्यक्ति ने कह दिया—"बेशक, वक़्त बड़ा नाज़ुक है।"

जब दिलीप सामान लेकर प्लेटफ़ार्म पर जाने लगा, तो वह व्यक्ति फिर ट्रेन में चढ़ गया। अन्धकार घना हो गया था। डब्बे में ज़रूर बत्तियाँ जल रही थीं, लेकिन नीचे खड़े हुए आदमी के लिए दूसरे को पहचान सकना सरल नहीं था।

काली के साथ जब दिलीप स्टेशन के निकट पहुँचा, तब उसका हृदय धड़क रहा था। कभी उसके मन में आता, ट्रेन से उतरकर मैंने ग़लती तो नहीं की ? अच्छा, दूसरे दरजे के डब्बे को छोड़कर अगर मैं तीसरे दर्जे के डब्बे में बैठ जाता, तो ?

इसी समय उसे मालूम हुआ कि दुबारा जब गाड़ी खड़ी हुई थी, तब हमी दो व्यक्ति नहीं उतरे, वरन् और भी कई व्यक्ति उतरे हैं। तब वह और भी अधिक संदेह में पड़ गया।

इतने में काली बोल उठा—"मगर आपको तो दूर कहीं दूसरी

जगह जाना था । यहाँ कैसे उतर पड़े छोटे सरकार ?"

दिलीप ने उसके कान के पास मुँह ले जाकर कह दिया—"खतरा है। सारी बात मैं तुझे फिर बता दूँगा ।"

काली घबरा गया। भर्राई हुई आवाज़ में उसने पूछा—"खतरा! कैसा खतरा ?"

अब दिलीप को बतलाना पड़ा—"वैसे तो मृत्यु सामने नाच रही है; लेकिन कुछ होगा नहीं काली ! घबराने की कोई बात नहीं है। हमें हर घड़ी धैर्य से काम लेना चाहिए। बस तुम मेरे साथ-ही-साथ रहो ।"

इस समय दिलीप को बफ़ाती की याद हो आई। 'मेस्टनरोड में जहाँ मेडिकल स्टोर्स हैं,वहीं एक स्थान पर खड़ा हुआ वह पान खा रहा था। उसके मन में आया, ऐसे समय उसका साहस देखने में आता। ये लोग समाज के लिए जो इतने भयावह हो गए हैं, उसके भी कुछ कारण हैं। वे अपने निजी जीवन में बहुत अधिक कुचले गए हैं। ऐसे लोगों में जो भीरु और कायर होते हैं, वे रात-दिन एड़ियाँ रगड़ते, रोते या घुल-घुलकर मर जाते हैं! दूसरे वे हैं, जो जेलों के अन्दर भी मौज उड़ाते हैं। साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा इनमें प्रतिहिंसा की भावना निस्सन्देह अधिक होती है और नैतिकता के चतुर्दिक् ह्रास ने भी इन्हें कम प्रोत्साहन नहीं दिया। पर क्या इनका सुधार संभव नहीं ?'

आगे-आगे दिलीप चला जा रहा था, पीछे-पीछे काली। दिलीप के हाथ में अटेची-केस काली के सिर पर सूटकेस और बेडिंग। कालीचरन ने प्रश्न किया—"यहाँ कोई पुलिस-थाना भी नहीं है ?"

"हो भी सकता है ।" दिलीप ने उत्तर दिया—"लेकिन बिना पता लगाये मैं क्या कर सकता हूँ ! देख तो रहे हो; सामने बियाबान जंगल है। बस्ती कहीं दिखाई नहीं पड़ती। चारों ओर सन्नाटा छाया है। आदमी तो क्या, जानवरों की आवाज़ भी कम सुनाई पड़ती है। हाँ, सिर्फ़ झिल्ली झनकार रही है और झाड़ियों के अन्दर से कभी-कभी जुगनू की चमक बोल उठती है ।"

जब दिलीप आगे बढ़ गया तो उसने देखा, स्टेशन-मास्टर बुकिंग-आफ़िस की ओर आगे-आगे बढ़े जा रहे हैं। पीछे से एक व्यक्ति और चल रहा है। दिलीप के मन में आया,'अगर अब हम यहाँ से भाग भी जायँ, तो क्या मौसमपुर पहुँच सकते हैं! मालूम नहीं, पक्की सड़क कितनी दूर हो और सवारी मिले, न मिले। किसी तरह आज मौसमपुर पहुँचा नहीं जा सकता? बड़ा मुश्किल है। जीवन में आगे बढ़ने के लिए पग-पग पर कितनी बाधाएँ हैं?—फिर भी क्षण-क्षण पर हमें सही क़दम रखना है। लेकिन न चाहते और हर तरह से बचते हुए भी हमारा क़दम ग़लत पड़ ही जाता है। ···इस आदमी की बातों के चक्कर में आकर मैंने बड़ी ग़लती की। अगले स्टेशन पर क्या मुझे पुलिस की सहायता न मिलती? मिल भी सकती थी; लेकिन मिल ही जाती, इसका भी कोई भरोसा नहीं। आदमी सर्वत्र एक-सा है। सबमें एक-सी दुर्बलताएँ हैं। और पैसा आज की दुनिया में सारी दुर्बलताओं पर पर्दा डाल देता है।'

दिलीप स्टेशन-मास्टर के पास जा पहुँचा। उद्देश्य यह था कि उसको परिस्थिति से अवगत कर दूँगा तो संकट टल जायगा और फिर हम सबेरे की गाड़ी से चले जायँगे।

सहसा स्टेशन-मास्टर की दृष्टि उस पर जा पड़ी और दिलीप बोला—"मुझे आपका थोड़ा वक्त चाहिए।" एकाएक खद्दर के सूट में देखकर स्टेशन-मास्टर बोले—"हाँ, हाँ, आइए बैठिए!" उन्होंने एक कुर्सी की ओर संकेत करते हुए कहा—"लेकिन बस एक मिनट!" और इतना कहकर टेबिल पर रखे हुए चश्मे को चढ़ाकर वे फिर रजिस्टर की खानापूरी करने लगे। कालीचरन ने सारा सामान दिलीप के पास दरवाज़े से लगी दीवाल से मिलाकर रख दिया।

इसी बीच दिलीप ने देखा—नीले रंग का कोट और नीले ही रंग का साफ़ा बाँधे हाथ में लाल रोशनीवाला एक हैंडसिगनल-लैम्प लिये एक व्यक्ति कालीचरन के पास खड़ा हो गया है। दोनों ने आपस में बातचीत शुरू कर दी है। और वह आदमी कालीचरन का हाथ पकड़कर थोड़ा

हटकर उसे एक ओर लिये जा रहा है। फिर एक स्थान पर रुककर दोनों बीड़ी सुलगा रहे हैं और खाँस रहे हैं।

स्टेशन-मास्टर अपने कार्य में लगे हुए थे। पहले उन्होंने टेलीग्राफ़ द्वारा अगले स्टेशन को सूचना दी कि गाड़ी छोड़ दी गई। फिर वे दिलीप की ओर उन्मुख होकर बोले—"देखिए, आपसे बात करने और फिर काम में लग जान से आखिर भूल हो ही गई। गाड़ी छोड़ देने के बाद फ़ौरन ही अगले स्टेशन को सूचना देना ज़रूरी होता है। खैर, बस एक मिनट में मैं फ़ुरसत पा लूँगा।"

दिलीप सोचने लगा—'वन मिनट इज़ ईक्वल टु ऐटलीस्ट टेन मिनिट्स फ़ार दिस जेंटिलमैन।' और वह मन्द-मन्द मुस्कराने लगा। परन्तु स्थिति की गम्भीरता के कारण वह फिर स्वप्नों में पड़ गया—'दीदी सात बजे तक पहुँच चुकी होंगी। मैं भी दो-एक घंटे में पहुँच ही जाता, मगर…' उसने देखा—एक रेलवे-कर्मचारी हरी-लाल झंडियाँ लिये अन्दर आकर स्टेशन-मास्टर से कहने लगा—"बड़े बाबू, झंडियाँ ये रखी हैं।"

लेकिन बड़े बाबू ने उसकी ओर देखा तक नहीं, तब उस आदमी ने झंडियाँ टेबिल पर रख दीं और कह दिया—"अब मैं जाता हूँ बड़े बाबू! गाड़ी सुबह आयगी। उससे आधा घंटा पहले मैं आ जाऊँगा।"

स्टेशन-मास्टर ने सिर उठाकर चश्मे को नाक से मत्थे तक उठाकर कह दिया—"कल की तरह गड़बड़ न करना!"

और इसी क्षण बुकिंग-आफ़िस में बैठी एक चिड़िया बोल उठी—"टिव……टिव!"

स्टेशन-मास्टर नाक-भौं सिकोड़ते हुए बोले—"बड़ी मनहूस चिड़िया है। निकालो इसे यहाँ से।"

तब उस आदमी ने झंडियों को दीवाल पर पटकते हुए उसे उड़ा दिया, और फिर अपने ऊपर आरोपित बात के उत्तर में कह दिया—"नहीं, बाबूजी, अब रोज़-रोज़ थोड़े ही सो जाऊँगा, कल पुरवा हवा चलने लगी थी। इसी से एक झपकी लग गई। आदमी ही हूँ, आखिर मैं भी। और फिर

मेरे आगे-पीछे कोई है भी नहीं ।" इतना कहकर वह जाने ही वाला था कि स्टेशन-मास्टर ने एक बार उसकी ओर देखा और कुछ सोचते हुए अनुमति के संकेत में सिर हिला दिया ।

अब स्टेशन-मास्टर टिकटों का बक्स देखने में लगे थे । शायद वे उनका नम्बर चेक कर रहे थे । और दिलीप अपनी हाथ-घड़ी देखता हुआ सोच रहा था--'काम में लगे हुए क्या सरकारी और क्या प्राइवेट संस्थाओंवाले नौकरी-पेशा ये लोग केवल अपने समय को ही अधिक मूल्यवान समझते हैं ।'

अब स्टेशन-मास्टर इधर के काग़ज़ उधर और उधर फैले काग़ज़ों को इधर समेटते हुए अन्त में एक फ़ुरसत की साँस लेकर, धम्म से अपनी कुर्सी पर बैठ गए और बोले--"हाँ साहब, कहिए क्या बात है ?"

अपनी चिन्ता और शंका की बात प्रारम्भ करते हुए एक बार दिलीप के मन में आया--'कितनी कायरतापूर्ण बात है ! क्या मैं वीरतापूर्वक परिस्थिति का सामना नहीं कर सकता था?' परन्तु तब स्वयं उसी का विवेक उस पर बिगड़ उठा और बोला--'पत्थर कर सकते थे ! वन्य पशु की भाँति हिंसक बन जानेवाले लोगों का सामना तुम केवल बात से करना चाहते हो ! अपनी रक्षा के लिए तुम्हारे पास कौन सा अस्त्र है ?'

तब सहसा भीतर-ही-भीतर सशंकित और बाहर से सावधान रहने की चेष्टा में रत दिलीप स्टेशन के बाहर झाँकता हुआ कुछ कहने को तत्पर हुआ, तो स्टेशन-मास्टर ने कह दिया--"घबराइए नहीं, यहाँ आपकी बात सुननेवाला ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो आपको किसी तरह का नुकसान पहुँचा सके ।"

दिलीप ने उत्तर दिया--"विश्वास तो ऐसा ही है मुझे आपसे, मगर मैं अपने नौकर को देख रहा हूँ ।"

"क्या वह बाहर गया है ?"

"अभी तो यहीं था ।"

"बुला लीजिये न, उसे भी अन्दर ।"

"अन्दर बुलाने की ज़रूरत तो नहीं है अभी; लेकिन है बड़ी अजीब-सी बात। डब्बे में आकर एक सज्जन ने मुझे बुरी तरह डरा दिया। पता नहीं, कैसे उन्हें मालूम हो गया कि मेरे पास रक़म है। और तभी वे मुझे सावधान करने आ पहुँचे। उनका कहना था कि बदमाशों का कोई एक गिरोह मेरा पीछा कर रहा है! लेकिन अब तक मैं कुछ समझ नहीं सका; खास तौर पर यह बात कि उन महाशय को मुझसे क्या दिलचस्पी थी जबकि उनसे मेरा कोई परिचय नहीं था।"

"कुछ मुश्किल नहीं। मामूली बात है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है।" स्टेशनमास्टर पेन्सिल की नोक से कान खुजलाते हुए बोले—"बिना परिचय के ही एक पार्टी दूसरे की शक्ल-सूरत और नाम से जानकारी हासिल कर लेती है।··· मुझे भी कम अजीब बात नहीं मालूम पड़ती। अभी-अभी एक मुसाफ़िर मेरे पास आया था—आपके आने से पहले। उसने भी मुझे ऐसी ही खबर दी थी। लेकिन मैं तो सोचता हूँ, उस डरपोक को यों ही कुछ सन्देह-सा हो गया है। क्योंकि आज तो इस गाड़ी से ऐसे कोई आदमी उतरे भी नहीं। इसलिए घबराने की कोई बात नहीं जान पड़ती। और अगर कुछ हो भी, तो जो कुछ भी मैं कर सकता हूँ, इन्सान होने के नाते ज़रूर करूँगा। यह तो मेरा फ़र्ज़ है।"

तब साधु प्रकृति का दिलीप बोल उठा—"अच्छा तो यह होता मास्टर साहब कि आप मेरा एक अटैची और सूटकेस अपने यहाँ रख लेते। आखिर आपके पास कैश यों भी रहता ही है। बहुत सबेरे जो गाड़ी जायगी, उसी से मैं चला जाऊँगा।" इस बात पर दिलीप ने देखा—सहसा स्टेशन-मास्टर विचार में पड़ गए। एक क्षण के पश्चात् दिलीप की ओर देखते और पेन्सिल की नोक से ब्लाटिंग पैड पर कुछ लिखते हुए वे बोले—"हाँ, हो तो सकता है, लेकिन आप बेकार घबराते हैं। एक तो यहाँ ऐसे कोई लोग उतरे नहीं। दूसरे···मगर अपना सामान अपने पास ही रखिए न? बाक़ी मैं इन्तज़ाम तो कर ही रहा हूँ।" और इतना कहकर उन्होंने आवाज़ दी—"रामदास!"

कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला। तब उन्होंने और ज़ोर से पुकारा—"अरे रामदसवा!"

"जी साहब!" और भागता हुआ रामदास उनके सामने आकर खड़ा हो गया।

दिलीप ने चेहरा देखते ही समझ लिया कि यही वह आदमी है, जिसके साथ बैठकर कालीचरन बीड़ी पी रहा था। तब तक कालीचरन भी दरवाज़े पर आकर रामदास के पीछे खड़ा हो गया।

स्टेशन-मास्टर ने कहा—"देखो रामदास, यह बाबू साहब वेटिंग-रूम में सोयेंगे। ताला-कुंजी इनको दे दो।"

रामदास बोला—"बहुत अच्छा साहब!" और उसने कुंजी दिलीप को दे दी। साथ ही यह भी कह दिया—"ताला उसमें लगा है।"

अब स्टेशन-मास्टर दिलीप की ओर मुड़कर बोले—"लीजिए, अब आप लोग कई मुसाफ़िर हो गए। दो तो बाज़ार गए हैं—कुछ खाने-पीने के लिए; मेरा खयाल है, अब आते ही होंगे। वे बेचारे भी घबराए हुए हैं। दो वे और नौकर सहित दो आप। यानी चार हो गए!" और रामदास से उन्होंने कह दिया—"देखो जी, रात में तुम भी यहीं रहना!"

रामदास ने सिर झुकाते हुए जवाब दिया—"बहुत अच्छा साहब!"

अब स्टेशन-मास्टर कहने लगे—"लीजिए, अब आप लोग पाँच हो गए। आगे ज़रूरत पड़ने पर आप मुझे भी बुला सकते हैं। खबर पाते ही मैं फ़ौरन आ जाऊँगा। मेरा क्वार्टर बिलकुल पास है···वह।" और इतना कहकर पीछे की खिड़की से, संकेत द्वारा, उन्होंने अपना क्वार्टर दिखलाते हुए कहा—"वह जो सामने नीम का पेड़ दिखलाई पड़ता है न, मेरे क्वार्टर के ठीक दरवाज़े पर है।"

यद्यपि स्टेशन-मास्टर ने इस प्रकार दिलीप को रक्षा के लिए सहारे का पूरा आश्वासन दे दिया था, किन्तु उसकी शंका घटने के बजाय और बढ़ रही थी। अभी तक वह यही नहीं तय कर पाया था कि जो लोग

स्टेशन-मास्टर के कथनानुसार डरे हुए मुसाफ़िर हैं, वे सचमुच मुसाफ़िर हैं या उसी गिरोह के एक अंग।

इतने में स्टेशन-मास्टर उठकर खड़े हो गए और एक बीड़ी सुलगाते हुए बोले—"काम करते-करते बहुत थक गया हूँ। भूख भी लगी है। इसलिए इजाज़त चाहता हूँ।" इतना कहकर वे चल दिए। फिर चार क़दम आगे बढ़ने के बाद रुके और दिलीप की ओर देखकर कहने लगे—"घबराने की कोई बात नहीं है। फिर भी रात में मैं एक चक्कर लगा जाऊँगा।"

इतना कहकर वे एक बार फिर आगे बढ़े, लेकिन फिर रुक गए, लौट पड़े और बोल उठे—"अरे रामदास, देखना वह चिड़िया पंखे पर तो नहीं बैठी है। शैतान की नानी सब फ़ाइलें ख़राब कर देती है!"

रामदास बोला—"नहीं बाबू जी! मैंने देख लिया है।" तब स्टेशन-मास्टर ने कह दिया—"अच्छा, तुम मेरे साथ आओ" और रामदास उनके पीछे-पीछे चल दिया।

: १६ :

लक्षणा अपनी माँ तथा बाबा के साथ घर आ गई। रास्ते में किसी ने कोई विशेष बात नहीं की। लेकिन लक्षणा ने यह स्पष्ट देख लिया कि माँ के मुख पर उदासीनता छाई हुई है। रह-रहकर वे एक निःश्वास ले लेती हैं और कुछ कहती-कहती रुक जाती हैं। दादा ताँगेवाले आदमी गनपत से इधर-उधर की बातें करते रहे—"घोड़ी कुछ दुबली हो गई रे गनपत!"

"अब तो बहुत-कुछ बहाल है दादा! जेठ में तो ऐसा जान पड़ता था कि अब जोतना कठिन हो जायगा।" कहते तो कह गया गनपत, लेकिन सोचने वह भी लगा कि घोड़ी की पसलियाँ अब तक मांसल नहीं बन पाईं।

दादा बोले—"वही तो मैं भी सोच रहा था। ····· अच्छा गनपत,

इस घोड़ी से तुम दिन-भर में कितने कोस की यात्रा तै कर सकते हो ?"

गनपत ने चाबुक उठाया और घोड़ी की पीठ पर ज़रा-सा छुआ भर दिया। और फिर बोला—"दादा चलने को तो यह पचीस मील भी चली जायगी। मगर बीस मील से ज्यादा ले नहीं जाना चाहिए। क्योंकि एक तो बुढ़ापा, दूसरे अभी पूरी देह पाने में थोड़ी कसर भी है।" इसके अलावा कुछ जानवर आदमी से भी ज़्यादा कोमल दिल के होते हैं। थान छोड़ देने पर उनसे पेट-भर चारा-दाना खाया नहीं जाता। यह घोड़ी भी ऐसी ही है।"

दोनों में से कोई नहीं समझ पाया कि दादा ऐसा क्यों पूछ रहे हैं। बल्कि लक्षणा तो यही समझती रही कि दादा लहरी आदमी ठहरे। जैसी तबियत आ गई, वैसी बात करने लगे।

इतने में दाढ़ी की कीलों पर हाथ फेरते-फेरते दादा बोले—"अच्छा गनपत, तो फिर कल तैयार रहना। आज इसे खूब खिला-पिला देना। समझे कि नहीं ? और हाँ, मालिश में भी कमी न रखना किसी तरह की।" और तभी तम्बाकू की लुगदी, जो उन्होंने निचले होठ से दबा रखी थी, फुरक दी।

बिस्सू की माँ के मुख पर प्रसन्नता की रेखाएँ झलक उठीं और लक्षणा आश्चर्य में पड़ गई। पूछ वह कुछ सकती न थी। सोचा—'होगा। अपने से क्या ?' पर इतने में घोड़ी फुरकने लगी और गोघृत वर्ण की एक नन्हीं-मुन्नी-सी तितली लक्षणा के बायें हाथ पर जा बैठी, तो उसके अधर दलों पर हास झलक उठा। गनपत के मन में आया, वह इतना तो पूछ ही ले कि कहाँ जाना है; क्योंकि वर्षा के दिन ठहरे; इस बात का भी तो विचार कर लेना है कि रास्ता कैसा है ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि सड़क में पानी भरा हो, अथवा वह इतनी ख़राब हो गई हो कि ताँगा सही-सलामत पहुँच भी न पाय—और रास्ते में ही उसकी कमर टूट जाय। पर वह दादा की आदत से परिचित था। कहाँ जाना है, यह बात किसी बाहरी व्यक्ति को न तो वे चलने से पूर्व बतलाना पसन्द करते, न उस

समय, जब वे घर से निकलकर जाने लगते। यदि कोई पूछ ही बैठता, तो कोई दूसरा शहर बतला देते। अर्थात् पूर्व को जाना होता, तो पश्चिम की बात कहते और पश्चिम को जाना होता तो उत्तर की। पर कभी-कभी तो कार्यक्रम ही बिलकुल बदल देते थे।

पर इस विषय में वे घरवालों से कभी कोई दुराव न रखते। क्योंकि उनको बतलाए बिना कहीं जाना वे स्वयं अनुचित समझते थे।

थोड़ी देर में जब दादा घर पहुँचे, तो अन्दर प्रवेश करते ही बोले—"अभी मैं कुछ कह नहीं सकता भाभी कि क्या होगा। अब तक का अनुभव तो यही कहता है कि जब तक लड़की का ब्याह न हो जाय, तब तक परिवारवालों का मन कोरे कागज़ की तरह रहना चाहिए। किसी का नाम लेकर उसकी रेखाओं को पेंसिल से भी खींच देना कभी-कभी विधि के विधान से लड़ना और भाग्य-निर्माण की अपेक्षा दुर्भाग्य-निर्माण कर बैठना हो जाता है। तात्पर्य यह कि ब्याह होने से पूर्व कन्या के मानस को सर्वथा कोरा रखना ही उसके लिए अधिक कल्याण-कारक होता है।"

दादा जब कभी बाहर से आते, तो अन्दर जाकर अपनी जेठी बड़ी इन वृद्धा भाभी के पैर अवश्य छूते। पर वे आज एकादशी के व्रत में थीं और नहा-धोकर बैठी हुई भगवान् शंकर का नाम ले रही थीं। इसलिए दादा ने उनके आगे की भूमि छूकर मत्थे से लगा ली।

सिर की धोती को थोड़ा और आगे खिसकाती हुई दादी बोलीं—"क्यों, गिरधारी से मामला पटा नहीं कुछ?"

"हाँ, नहीं पटा भाभी! यह भी नहीं कह सकता कि आगे पटेगा या नहीं।" दादा बोले और सिर खुजलाने लगे। और जब कभी वे सिर खुजलाते, तब कोई नई बात मन में उत्पन्न करके उसी तरह छिपा लेते थे जैसे हवा लग जाने के डर से गृह-देवियाँ कभी-कभी दीपक को आँचल में छिपा लिया करती हैं।

इतने में बिस्सू सामने आ गया। तब दादा ने कहा—"जरा वंशी

पंडित को तो बुला लो बिस्सू ! कहना पत्रा लेते आयें ।"

आचमनी से गंगा-जल की एक बूंद मुंह में डालकर दादी ने पूछा—"फिर ?"

"फिर क्या, मैंने तो निश्चय कर लिया है" कोट का बटन खोलते हुए दादा बोले—"मुझे तब तक नींद न आयगी, जब तक कि गिरधारी की नींद हराम न हो जायगी ।"

लक्षणा की माँ कुछ आगे खिसककर दादी के पास जा लगीं और धीरे से बोलीं—"जान पड़ता है, कल कहीं जा रहे हैं दादा, तभी पंडित को बुलाया है ।"

तब कोट को कंधे पर डालते हुए दादा बोले—"कल मैं ज़रा रमपुरा जाऊँगा ।"

दादी हँसने लगीं । बोलीं—"हाँ बस, यही रास्ता ठीक है सरूप ! मुरारी के ससुरालवालों को मिलाये बिना काम न बनेगा ।"

घर भर में एक लहर दौड़ गई । महराजिन रास्ते के खाने के लिए पूरियाँ तलने लगीं । शेफाली साग बनाने बैठी तो सास बोली—"नमक का खयाल रखना बहू, थोड़ा भी नमक अधिक हो जाने पर दादा का पेट नहीं भरता ।"

शेफाली की चंचलता प्रसिद्ध है । पर देह-दृष्टि और कर्म की गति से उसका कभी परिचय नहीं मिलता । मिलता है केवल उस समय, जब कोई ऐसी बात सामने आ जाती है कि वह बिना बोले रह नहीं सकती । बिस्सू की माँ तो नमक की मात्रा का ध्यान रखने की बात कहकर आलू के लिए जीरा लेने को उसका डब्बा लेने चली गईं, पर शेफाली पास बैठी इतिहास की पुस्तक पर ध्यान जमाये लक्षणा की ओर देखकर धीरे से बोल उठी—"नमक का ध्यान तो रानी बिटिया को खूब रहता है !"

"भाभी से अधिक ?" उत्तर के साथ मन्दहास का पुट देकर लक्षणा बोली ।

"परिचय तो मिल जाता, मगर उस दिन मेरी तबियत ही नरम

थी। फिर भी नमकीन काजू सबेरे-सबेरे जो चाय के साथ कोई दे गया, तो नैया हृदय की डोलने लगी थी क्यों?"

महराजिन अधिक दूर नहीं थी। उत्तर देने में जो स्वतन्त्रता अपेक्षित थी उसका सहारा मिल नहीं सकता था। कदाचित् इसलिए लक्षणा वहाँ से भाग गई।

"भादों मास के अन्तिम दिनों में वर्षा की रिम-झिम धीरे-धीरे लुप्त होने लगती है। श्याम घटाएँ-मात्र कभी-कभी दीख पड़ती हैं। पर उनके भीतर से चन्द्र-छटा जो कभी उभर उठती है, तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे भरी पुष्करिणी में कहीं एक श्वेत कमल अभी-अभी खिला हो।" पहला कौर तोड़ती हास दबाती हुई लक्षणा बोली—"पर भाभी के मुख की शोभा के सामने—ऊँहुँ!—वह भी फीका पड़ जाता है!"

शेफाली पहले समझ नहीं पाई थी कि प्रवचन का यह प्रारम्भ किस प्रसंग से हो रहा है। पर जब उसे मालूम हुआ कि यह तो मेरी आरती उतारी जा रही है, तब झट बात का प्रकार बदलकर उसने कह दिया—"केवल नमक का ध्यान न रखने के कारण! इसीलिए माँ की भाँति मुझे भी बार-बार यही कहना पड़ता है कि चाहे कविता पढ़ो, चाहे इतिहास, चाहे राजनीति पढ़ो, चाहे शरीर-विज्ञान; मगर नमक का ध्यान रखो! अधिक हो गया, तो पेट नहीं भरेगा और कम पड़ गया तो सारा रंग ही फीका नज़र आयगा। यों उत्तर न आय, तो उठकर भाग जाने से बढ़कर दूसरा उपाय नहीं।"

इस पर लक्षणा ने कुछ ऐसा भाव व्यक्त कर दिया, जैसे अन्दर से आया हुआ कोई शब्द वह बहुत ध्यान से सुन रही थी। अतः ज्यों ही शेफाली की बात पूरी हुई, त्यों ही उसने कह दिया—"ठीक पड़ा है माँ, बिलकुल ठीक! भाभी सदा इसका ध्यान रखती हैं" और मुसकराने लगी।

शेफाली ने ऐसा भाव व्यक्त किया, जैसे उसने कुछ सुना ही न हो। वह अपने अन्दर उभरते हुए हास को भी पी गई और गम्भीरता के साथ बोली—

"आज दादा के स्वर में कुछ गरमाहट जान पड़ती है।" शेफाली दाँत से हरी मिरच को कुतरती हुई कहने लगी—"हमारे समाज में जो ब्याह, बिना किसी विशेष प्रयत्न, उधेड़-बुन, तर्क-वितर्क और वितण्डावाद के हो जाते हैं, उनमें मेरे जैसे प्राणियों को कोई रस नहीं मिलता।"

लक्षणा ने इसके उत्तर में कुछ नहीं कहा। तब शेफाली लक्षणा की आँख बचाकर अपनी थाली की दो पूरियाँ उसकी थाली में रखती हुई बोली —"जो लोग भोजन के समय भी मन की बात को कभी वाणी पर नहीं उतारते, वेद का वचन है कि वे अगले जन्म में गऊ अर्थात् पशु की योनि को प्राप्त होते हैं।"

"और जो लोग अनावश्यक बातों में पड़कर—" लक्षणा पानी के गिलास को सामने थाली के पास रखती हुई बोली—"भोजन के साथ न्याय नहीं कर पाते—।" बात पूरी भी न हो पाई थी कि शेफाली ने कह दिया—

"और बीच में ही लोटे-पर-लोटा पानी चढ़ा लेते हैं, उन्हें इसी जीवन में जलोदर रोग अवश्य हो जाता है, ऐसा ऋषि-कल्प श्रीस्वामी एक सहस्र और आठ धन्वन्तरि जी महाराज यहाँ स्वयं आकर कह गए हैं!"

बात कुछ ऐसी कहते बन पड़ी कि लक्षणा को सचमुच हँसी आ गई। और हँसते-ही-हँसते उसने कह दिया—"और आते-आते श्रीमान् धन्वन्तरि जी महाराज मेरी थाली में चुपचाप दो पूरियाँ भी परोस गए!"

"हँसने की बात नहीं लक्षणा रानी, दादा की भाषा में आज वास्तव में महासमुद्र का-सा कोप जान पड़ता है।" शेफाली ने धीर-गम्भीर भाव से कह दिया।

इतने में सास ने खाट पर से करवटें बदलते हुए कह दिया—"ग्यारह बज गए दुलहिन और सबेरे पाँच ही बजे दादा को चला जाना है। चार बजे उठे बिना उनके लिए चाय बनाना मुश्किल हो जायगा।"

"तुम चिन्ता न करो रत्ती-भर भी अम्मा!"—शेफाली ने ईख के मुरब्बे को दाँत से काटते हुए कहा—"हम लोग उन ऋषियों की संतान हैं जो दो बजे सोकर भी चार बजे प्रेम के साथ जग जाते हैं!"

तब हँसती हुई सास बोली—

"सो तो मैं जानती हूँ दुलहिन। लेकिन लड़कपन की अधिक जगाई बुढ़ापे में सताती बहुत है। जब कभी तुम दोनों चार-पाँच बजे उठकर खटपट करने लगती हो, तब जो कहो कि मुझे नींद घेरे रहती है, सो बात नहीं, पर मुझसे उठा फिर भी नहीं जाता।"

इस पर शेफाली कुछ कहने जा रही थी कि लक्षणा ने संकेत से उसे रोक दिया। तब आवाज़ सुनकर बिस्सू की माँ बोली—"कुछ नहीं, कोई डर की बात नहीं, दादा सो रहे हैं। और जब वे सोते हैं••••।"

बात को बीच में ही ग्रहण कर शेफाली बोल उठी—"तब यह बतलाते रहते हैं कि चुप रहो, गड़बड़ मत करो, मैं सो रहा हूँ और तुम सब जागते रहना!" यह बात भी कुछ ऐसी बन पड़ी कि शेफाली और लक्षणा ही नहीं, वरन् बिस्सू की माँ को भी हँसी आ गई।

दादा दो दिन बाद जब लौट आए, तो अपने साथ दिलीप के मामा सुरेश को भी ले आए। गनपत ताँगा खोलकर घोड़ी को फाटक के आँगन में इधर-उधर टहलाने लगा। सुरेश के साथ आने के कारण घर में बड़ी चहल-पहल जान पड़ने लगी। बिस्सू इधर-से-उधर दौड़ रहा था। एकाएक उसका ध्यान रेडियो पर दौड़ गया। उसके तुरन्त आकर उसे खोल दिया। संगीत की मन्द-मन्द ध्वनियाँ फाटक-भर में गूंजने लगीं। इतने में दादा ने पलंग ग्रहण करते हुए सुरेश से पूछा—"नहाओगे तो नहीं सुरेश?"

कमीज़ के बटन खोलता हुआ सुरेश बोला—"नहाना तो चाहता हूँ, मगर गरम पानी से। लेकिन सोचता हूँ आज ही बहन के यहाँ क्यों न चला जाऊँ। रात में मौक़ा निकालकर बात भी कर लूंगा।"

दादा सिर खुजलाते हुए बोले—"बात तो तुम ठीक सोच रहे हो सुरेश, मगर मुझे कुछ ऐसा जान पड़ा कि रास्ते में एक दुकान पर सोनी खड़ी हुई साबुन-जैसा कुछ खरीद रही थी। तुम ताँगे में आगे बैठे थे; सो तुमको तो सम्भव है उसने न देख पाया हो, लेकिन मुझे देखकर सिर की साड़ी को माथे तक खींच लाकर स्त्रियोचित प्रतिदान में इतना तो उसने ज़ाहिर कर

ही दिया कि वह मुझको पहचानती है। इसलिए हो सकता है कि अब तक गिरधारी को न सही, पर शारदा की माँ को ज़रूर इतना मालूम हो गया हो कि मैं कहीं बाहर गया हुआ था, सो अभी लौटा हूँ। और मैं सोचता हूँ कि अगर उनको यह बात न मालूम हो कि तुम मेरे साथ आये हो, तो अधिक अच्छा हो!"

"लेकिन जब उसने मुझको नहीं देख पाया, तब यह सोच लेना कि मैं आपके साथ आया हूँ, कुछ असंगत-सा जान पड़ता है।" अपनी समझ से सुरेश ने बड़ी बुद्धिमानी की बात कही थी।

गमछे को पैर पर पटकते हुए दादा बोल उठे—"बिलकुल असंगत नहीं जान पड़ता सुरेश! गिरधारी को जब एक ओर यह मालूम होगा कि मैं कहीं बाहर से लौटा हूँ और लौटा हूँ ताँगे से। और शहर में चलनेवाले ताँगों की शक्ल-सूरत सुदूर देहात से आए हुए धूल-भरे ताँगों से बिलकुल अलग होती है। उसके बाद यह मालूम होगा कि तुम भी आये हो, जब कि तुम्हारा घर ऐसी जगह है, जहाँ रेल से जाने का कोई साधन नहीं, घर के ताँगे या लारी से ही यात्रा हो सकती है, तब यह सोच लेना क्या मुश्किल है कि हो न हो, मैं ही तुमको ले आया हूँ!"

"हाँ, इस तरह तो आप ही की बात ठीक जान पड़ती है।" सुरेश के मुँह से निकल गया।

दादा अब पलँग पर लेट रहे और बाईं करवट लेकर बोले—"इसके सिवा और भी एक बात है सुरेश।"

"वह क्या?" सुरेश ने उत्सुकता के साथ पूछा।

दादा सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"गिरधारी के घर, कहीं भी, तुम बहन से जी खोलकर बात कर सकोगे, इसमें सन्देह है। खुद तुम्हारी बहन ही तुमसे बात करती हुई डरेगी।"

"तब क्या हो?" सुरेश ने कुछ घबराहट के स्वर में पूछा।

दादा बोले—"तब किसी बहाने तुम उनको लिवा लाओ सुरेश! मुझे तो सबसे सीधा रास्ता यही मालूम पड़ता है।"

आश्चर्य के साथ सुरेश ने पूछा—"यहाँ ?"

"क्यों, यहाँ लाने में कोई हर्ज है ? दादा उठकर बैठ गए और बोले—"और वे यहाँ क्या पहले कभी आई नहीं हैं, जो अब आने में संकोच करेंगी। ऊपरवाला कमरा बिलकुल उनके लिए सुरक्षित रहेगा। नौकर उनकी आज्ञा बजाने को हर घड़ी तैयार खड़े रहेंगे। जब तक चाहें, निश्चितता से रहें और इसे अपना ही घर समझें।

गनपत घोड़ी को टहला रहा था। दादा बोले—"घोड़ी के आगे चनों की बाल्टी रख दो गनपत और जाओ ज़रा परसादी को तो ले आओ। इस समय वह मिश्रजी के यहाँ अक्सर आता है।

गनपत बोला—"बहुत अच्छा दादा !"

इतने में दादा बोले—"इस वक्त खाली न हो, तो कहना, थोड़ी देर में आ जाय, मगर आ ज़रूर जाय।"

"अच्छा दादा !" कहकर गनपत चला गया।

इसी क्षण महराजिन चाय की सामग्री ले आईं और बिस्सू के साथ लक्षणा ने आते ही हाथ जोड़कर कह दिया—"नमस्ते !"

सुरेश ने प्रसन्नता के साथ कह दिया—"खुश रहो लक्षणा बेटी !··· पता नहीं मुझी को धोखा हो रहा है, या कुछ बात ही ऐसी है कि लक्षणा लम्बाई में शायद मुझको भी मात देने की तैयारी कर रही है ! क्यों दादा?"

दादा मूछों में हँसते हुए बोले—" हाँ हो सुरेश, लम्बाई में लक्षणा घर-भर में सबको धँसा गई।"

"खैर, आपको कोई क्या मात देगा ! मगर···" कहती हुई खिलखिलाकर हँस पड़ी लक्षणा और बिस्सूबोला—"सचमुच इधर तीन वर्ष के अन्दर·····।"

कुरसी पर बैठते-बैठते लक्षणा ने रूमाल मुंह से लगा लिया। वह चाय ढाल ही रही थी कि दादा बोले—"इन तीन वर्षों के अन्दर इसने दो परीक्षाएँ पास कर लीं सुरेश ! एक तो साहित्य-रत्न और दूसरी इंटर। अगले वष बी० ए० में बैठेगी।"

सुरेश इसी समय बोल उठा—"शारदा भी तो अब इंटर में होगी।"

एक निःश्वास को दबाते हुए दादा बोले—"हाँ सुरेश। जब गिरधारी की इन लड़कियों की बात सोचता हूँ, तो सब भूल जाता हूँ। बुद्धि काम नहीं देती और आँखों के सामने अँधेरा-सा छा जाता है।"

इधर ये बातें चल ही रही थीं कि उधर फाटक के पास एक गाड़ी आ खड़ी हुई। उससे जो व्यक्ति उतरा, वह जब अन्दर आया, तो सब-के-सब भौंचक्के से हो उठे। पहले बिस्सू ने उनके पैर छुए, फिर सुरेश झट से उठकर उनके चरण छूने के लिए आगे बढ़ गया। लक्षणा ने उठकर हाथ जोड़े और कह दिया—"नमस्ते चाचाजी!" और दादा बोले—"आओ गिरधारी, इधर निकल आओ!"

: १७ :

लाला गिरधारी पहले जरूर दादा के यहाँ आते थे, पर इधर वर्षों से नहीं आये थे। उनसे मिलने की कोई बहुत बड़ी अभिलाषा उनको रहती हो, ऐसी भी कोई बात न थी। फिर भी आज वे दादा के यहाँ क्यों आये, इसका कोई-न-कोई आधार होना चाहिए। उसी आधार की बात कहनी है।

बात यह है कि गिरधारी लाला को किसी-न-किसी तरह शारदा का ब्याह इस साल करना है। और चौधरी शंकरदयाल के लड़के को उन्होंने पसन्द भी कर लिया है। पर सवाल उठता है कि दस हज़ार रुपये तो होने चाहिएँ। अगर यह रक़म घर से निकल गई, तो डर है कि कहीं लाला गिरधारी के प्राण-पखेरू ही उनके पुराने हो रहे पिंजड़े से न निकल जायँ! माना कि दादा से दो टूक बात हो गई है। पर इससे क्या? जो आदमी मौक़े पर गधे को बाप कहना नहीं जानता, वह इस दुनियाँ में रहने क़ाबिल नहीं और जब दादा की दिलीप से एकान्त में भेंट हो चुकी है, तब किसी-न-किसी तरह दिलीप की रुचि को दादा ने परख

ही लिया होगा। तो मतलब यह कि दिलीप के ब्याह की मद में दादा से अगर इस समय पाँच हज़ार रुपये खींचे जा सकें, तो क्या कहना! रह गई बात दिलीप को राज़ी करने की, सो इसमें लगता क्या है? अभी उसका कालेज खुले दो ही महीने तो हुए हैं! अब की बार वह ज्यों ही घर आया कि उसका, चौबीस घंटे के अन्दर लखनऊ चले जाने का कटा परवाना!

तो ज्यों ही गिरधारी लाला पलँग पर बैठे, त्यों ही उन्होंने सुरेश की ओर देखते हुए कह दिया—"इस वक्त तुमसे खूब भेंट हो गई सुरेश! मैं तो तुमको तार देने की सोच रहा था।"

"मैं ख़ुद ही आपसे मिलने को व्याकुल था जीजा! इसी बीच डिप्टी साहब जो यहाँ आने लगे, तो उन्होंने ज़बरदस्ती मुझे अपनी कार पर बिठा लिया और कहा—'चलना ही पड़ेगा। छोड़ूँगा नहीं किसी तरह।' आप तो जानते हैं उनकी तबियत को। और फिर उन्हें यहीं पड़ोस में आना था उन्हीं मिश्र जी के यहाँ। तब मैंने सोचा कि इस बीच बहन के यहाँ भी होता आऊँ। सो ताँगे की तलाश में जो निकला, तो अचानक दादा से भेंट हो गई। बोले—'पहले चाय पी लो। फिर चले जाना बहन के यहाँ।' मगर तार देकर बुलाने की ऐसी क्या ज़रूरत आ पड़ी?"

"बात यह है सुरेश भैये कि मैं मट्ठे को भी फूंक-फूंककर पीता हूँ। दिलीप को चाहे जितना डाँटू-डपटूं, बुरा-भला कहूँ; मगर है तो वह अपना लड़का ही। अरे लड़का न कहो, भतीजा कह लो। उसमें कोई ख़ास फ़र्क़ तो है नहीं। कि झूठ कहता हूँ?"

दादा के होठों पर मुस्कराहट खेल रही थी। मगर वे चुप थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि इतनी जल्दी गिरधारी के कथन में इतना अन्तर पड़ कैसे गया!

चाय की चुस्की लेते हुए सुरेश ने कह दिया—"झूठ बोलनेवाले और होते हैं।"

इस पर गिरधारी मुसकरा उठे। बोले—"और तो नहीं होते सुरेश! होते ऐसे ही हैं, जैसा मैं हूँ। मगर तुम जानते हो कि हमेशा और हर आदमी

से झूठ बोला भी नहीं जाता।"

"यह बात तुमने ठीक कही गिरधारी !" तुरन्त दादा के मुँह से निकल गया।

"सिर्फ़ यही बात नहीं, हमेशा और हर बात--अपने हिसाब से--मैं ठीक ही कहता हूँ दादा ! यह बात दूसरी है कि दुनिया की नज़र में वह सही न हो। मगर विचार करने की बात है कि दुनिया की नज़र भी क्या हमेशा सही होती है ? दादा, आप सुन रहे हैं न ?"

"ख़ूब ध्यान से सुन रहा हूँ।" दादा बोले। तब तक बिस्सू ने खमीरे का हुक़्क़ा गिरधारी लाला के सामने लाकर रख दिया।

अब गिरधारी लाला की बाँछें खिल गईं। बोले--"वाह दादा ! क्यों न हो, समधियाना तो आखिर होना ही है। आज न सही--चार महीने बाद सही।" और इतना कहकर वे हुक़्क़े की निगाली की तरफ़ हाथ बढ़ाने ही वाले थे कि दादा बोले--"मगर उस प्लेट की मिठाई को तो साफ़ कर देते गिरधारी !"

"बस दादा, बहुत हो चुका।" उत्तर के साथ निगाली मुँह से लगाकर वे हुक़्क़ा गुड़गुड़ाने लगे। इसी समय मकान की मुँडेर पर बैठी हुई एक चिड़िया उड़ गई।

एक मिनट तक किसी ने कुछ नहीं कहा। दादा तो पहले गिरधारी की बातें सुन लेना चाहते थे और सुरेश यह जानने को विशेष उत्सुक था कि उन्होंने फिर दिलीप की इस साल की, डॉक्टरी की, शेष पढ़ाई के विषय में क्या किया ?

तब हुक़्क़े का आनन्द लेते-लेते बहुत इतमीनान के साथ गिरधारी लाला बोले--"हाँ, तो मैं अभी यह कह रहा था कि दिलीप की डॉक्टरी की पढ़ाई मैंने असल में बन्द नहीं की। वह फिर से चालू हो रही है। बस, उसके बाहर से लौट आने भर की देर है। और इतने दिनों तक जो बन्द रही, उसका कारण और कोई नहीं, दिलीप खुद है। मैं उस कारण को आप लोगों से कहना नहीं चाहता था, पर अब उसको छिपाने से भी कोई लाभ नहीं है।

बात यह है कि अब मेरा यह विश्वास धीरे-धीरे पक्का हो गया है कि दिलीप अपने डॉक्टरी के पेशे में भी सफल नहीं होगा। आदमी से रुपया किस तरह खींचा जाता है, दिलीप को इस विद्या का दमड़ी भर भी ज्ञान नहीं है।" और इतना कहते-कहते उन्होंने एकदम से दादा की ओर घूमकर कह दिया—"अगर मैं झूठ कहता होऊँ, तो दादा आप बड़े-बूढ़े हैं, मेरे कान पकड़ सकते हैं!" और हुक़्क़ा फिर गुड़-गुड़ बोलने लगा।

अब दादा उठकर बैठ गए। अभी तक वे गिरधारी की बातों को मज़ाक समझ रहे थे, किन्तु अब वे सोचने लगे—"इस आदमी से सदा मेरा मतभेद ही बना रहा। किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि इसने कभी कोई लचर बात कही हो। आज भी मैं साफ़ देख रहा हूँ कि दिलीप के विरोध में बोलते हुए भी बात उसकी सोलह आना सही जान पड़ती है।"

"मगर इतना सब जानते और समझते हुए भी मैंने जो उसको फ़िर से मेडिकल-कॉलेज में भरती करा देने का इरादा पक्का कर लिया, उसका एक-मात्र कारण हैं आप लोग। दादा ने तो उस दिन सब कुछ कह डाला था।...कि कुछ बाक़ी रखा था दादा?"

अब दादा हँस पड़े। बोले—"अक्सर मैं तुम्हारे सम्बन्ध में सोचा करता हूँ गिरधारी! इसलिए आज मैं इतना ही कह सकता हूँ कि दुनिया में जैसे और करोड़ों सीधे-सादे, भोले और साधारण आदमी हैं, वैसे तुम नहीं हो। तुमको समझना बड़ा कठिन है।"

इतने में परसादी आ गया। बोला—"नमस्ते दादा!" फिर गिरधारी और सुरेश की ओर देखकर बोला—"अरे, यहाँ तो सब सरकार लोग ही इकट्ठे हैं। नमस्ते लालाजी, नमस्ते भैयाजी!"

दादा बोले—"सुखी रहो।" अन्य लोगों ने भी अपने-अपने सिर हिला दिए। तब दादा बोले—"सबसे पहले गिरधारी लाला के पैर दाबो परसादी।"

और दादा के कथनानुसार परसादी गिरधारी लाला के पलँग के पैंताने जा बैठा। इतने में बिस्सू जो पान की तश्तरी ले आया, तो दादा ने पूछा—"खाना गिरधारी के लिए भी बनेगा। समझे!"

गिरधारी लाला बोल उठे––"नहीं दादा, मैं तुमसे दो बातें करके फ़ौरन चला जाऊँगा।"

घोड़ी दाना खाती-खाती फुरकने लगी और तम्बाकू मुँह में धरते हुए दादा बोले––"अब आज कहाँ जाओगे गिरधारी! बरसों में तो आये हो। रात-भर में नहीं कुछ बिगड़ा जाता है।"

"बिगड़ने और बनने के विषय में अपना मत ही पक्का होता है। क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य के अपने सुख, शांति और संतोष के साथ रहता है। बहुतेरे आदमी जीवन में ऊपर से कभी दुखी नहीं प्रतीत होते; पर ऐसा नहीं है कि वे कभी दुखी होते ही न हों। इसलिए बनना और बिगड़ना जितना और जैसा अपने लिए हम समझ सकते हैं, दूसरा कोई क्या समझेगा!" बात करते-करते जैसे गले में कोई चीज़ अटक गई हो, इसलिए बिना मुँह खोले भीतर-ही-भीतर गला साफ़ करते हुए गिरधारी बोले––"फिर रात को कहीं ठहरना मेरे लिए यों भी बड़ा मुश्किल है। क्योंकि बाहर कहीं मुझे नींद ही नहीं आती।"

तब दादा पलँग से उठ खड़े हुए। फिर जीने की ओर मुड़कर बोले–– "न हो हम लोग ऊपर निकल चलें गिरधारी! यहाँ तो····।" इतने में बिस्सू सामने जो दीख पड़ा, तो कमर पर हाथ रखकर कहने लगे––"ऊपर से जीने का भीतरी दरवाज़ा तो खोल देना बिस्सू!"

अभी उन्होंने पहली सीढ़ी पर पैर रखा ही था कि वे परसादी की ओर देखकर बोले––"सुरेश को अपनी छत्तीसों विद्याओं का चमत्कार तब तक दिखलाओ परसादी! मैं अभी आया।"

ऊपर दो पलँग पड़े हुए थे। उनके ऊपर बिस्तर तहाया हुआ रखा था। बत्ती और पंखा खोलते हुए दादा बोले––"उस दिन तुमने जो मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया उसका प्रभाव मुझ पर तो उतना नहीं, लेकिन सारे घर पर इतना बुरा पड़ा है कि सबके हाथ-पैर ही ढीले पड़ गए हैं।"

"उस दिन के लिए मुझे भी अफ़सोस है दादा!" गिरधारी को यह बात कहने में ज़रा भी संकोच नहीं हुआ। तब दादा सोचने लगे—मैं नहीं

जानता था कि यह आदमी इतना मीठा भी है। और उनके मुँह से निकल गया—"तो अब क्या कहते हो ?"

"कहने की कोई बात नहीं है।" कहते हुए जेब से एक लिफ़ाफ़ा निकालकर गिरधारी लाला ने दादा के सामने रख दिया। बोले—"पढ़ लीजिये !"

"पढ़ने के लिए चश्मा मँगाना होगा। तुम्हीं बता दो, ये कौन हैं और क्या कहते हैं ?"

"ये आरा के योगेन्द्रनाथ सिनहा हैं। घर के रईस। पेशा वकालत। मैं पन्द्रह माँग रहा था, ये बारह दे रहे हैं। मैंने अभी कोई जवाब नहीं दिया। लेकिन सौदा चौदह पर तै हो जायगा।"

"आप तै कर लीजिये उनसे। देने को जो मेरी श्रद्धा होगी, वह अवश्य दूँगा, पर दहेज देना मुझे स्वीकार नहीं है।"

"सोच लो दादा ! अभी सब बना-ही-बना हुआ है ? बिगड़ा कुछ भी नहीं है। लक्षणा को मैं बेटी की तरह मानता हूँ।"

"बेटी की तरह मानते होते, तो पैसे की बात न उठाते। मैं समझता था, तुम जब खुद आये हो, तो कुछ ऐसी बात करोगे, जिसमें मेरा निर्वाह हो जायगा। लेकिन मैं देखता यह हूँ कि तुम मेरे साथ भी व्यवसाय कर रहे हो !"

"बेटी की बात मैं इसलिए कह रहा था कि अब ज़माना बदल गया है। हमारे बच्चे अब उस तरह के नहीं रह गए, जैसे बचपन में हम लोग थे। अब तो शादी होने से पहले वे आपस में मिलने-जुलने और चिट्ठी-पत्री तक का अवसर पा जाते हैं। और ऐसी दशा में जो लोग उनके विरुद्ध निर्णय करते हैं, वे ब्याह की बात करते समय तो अकड़ जाते, पर उसके बाद जीवन-भर पछताते, झींखते और रोते हैं !"

इस बार दादा गिरधारी की बात सुनकर घबरा गए। बोले—"तुम शायद दिलीप की बात कहना चाहते हो। मगर वह ऐसा लड़का नहीं है। मैं उसे जानता हूँ।"

"नहीं, मैं लक्षणा की बात कह रहा हूँ। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि दिलीप के साथ उसकी बातचीत हो चुकी है।"

"आखिर आस्तीन के साँप की तरह तुमने काट ही खाया गिरधारी !" आह-भरे कथन में दादा सचमुच सर्प-दंश का-सा अनुभव करके बोले--"बच्चों के परम पावन सान्निध्य में कलुष देखते हुए तुम्हें लाज न आई ! पवित्र गंगा-जल को नाली का गँदला पानी समझते हुए तुमने यह भी न सोचा कि मरण के क्षण, तुलसी-दल के साथ, इसी के बूँद तुम्हें मुक्ति-पथ की ओर ले जायँगे। मैं नहीं जानता था कि तुम इस सीमा तक गिर सकते हो ! अन्यथा मैं इस विषय में तुमसे बात भी न करता। खैर, जो हुआ सो हुआ। बस, अब बात यहीं से समाप्त होती है। अभी मैं कुछ नहीं कह सकता; लेकिन अगर सचमुच लक्षणा ने दिलीप की मूर्ति अपने हृदय-मंदिर में बिठा ली है, तो एक दिन उस मंदिर की प्रतिष्ठा होकर रहेगी। और अगर दैवयोग से ऐसा संभव न हुआ, तो वह आजीवन कुमारी रहकर अपना यह सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग कर देगी। लेकिन तुम्हारी कृपा की भीख वह कभी न माँगेगी।"

कथन समाप्त करते-करते दादा का कण्ठ भर आया और उनकी आँखों से आँसू टपकने लगे।

तब कुटिल हास के प्रकार में मुसकराते हुए गिरधारी लाला बोले--"बस, इतनी सी बात में उखड़ गए दादा ! अरे ये शादी-ब्याह के मामले ठहरे। इनमें इस तरह की बातें तो चलती ही रहती हैं। इन पर इतनी जल्दी एकदम से भड़क उठना और ताव खाकर कुछ-का-कुछ कर बैठना भी कोई बुद्धिमानी है ! सोचने और समझने की बात है कि सिनहा साहब का रिश्ता अगर मुझे स्वीकार होता, तो मैं आपसे मिलने ही क्यों आता ?"

आँसू पोंछते हुए दादा बोले--

"तुम जिस मतलब से आये हो, उसको मैं जानता हूँ। पर इस समय उसकी चर्चा करने से कोई लाभ नहीं। और अब मैं इस विषय में तुमसे कोई बात कभी करूँगा भी नहीं।"

अब गिरधारी लाला उठ खड़े हुए। उनका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ था। फिर भी उनके चेहरे पर शिकन न थी। दादा ने कटु वचन कहने में कोई बात उठा न रखी थी। फिर भी उन्होंने अब तक अपनी भाषा का संयम

स्थिर ही बना रखा था। पर इतने अपमान की उन्हें आशा न थी। यह भी उन्होंने न सोचा था कि दादा लेन-देन के प्रश्न को साफ़ ही डकार जायँगे। अतः चलते हुए वे बोल उठे—"चलो, अब आपको मुझसे यह तो शिकायत न रहेगी कि मैंने आपके प्रस्ताव पर विचार नहीं किया।" कहकर वे थोड़ा रुके और थोड़ा घूमकर दादा के सामने मुँह करके बोले—"लेकिन एक बात अब मैं भी कहे जाता हूँ दादा कि अब यह सम्बन्ध मेरे जीते जी न होगा।"

दादा ने विष के घूँट की भाँति उनका यह कथन कानों में ग्रहण कर लिया। उत्तर न देकर वे स्थिर जड़वत् चारपाई पर लेट रहे। सुरेश गिरधारी के साथ हो गया था। बिस्सू पीछे-पीछे जा रहा था। पर लाला गिरधारी अभी फाटक के बाहर भी न पहुँच पाए थे कि महराजिन दादा के पास दौड़ती हुई आ पहुँची और बोलीं—"दादा! दादा! रानी बिटिया सीढ़ी से गिर पड़ीं, सो उनका सिर फट गया है! कपड़े खून से तर हो गए हैं और होश अभी नहीं आया है!"

और गिरधारी गाड़ी पर बैठे हुए सोच रहे थे—'परिचित जनों और आत्मीय स्वजनों से जो उपेक्षा, तिरस्कार और अवहेलना मिलती है, शायद वही अधिक गहरी होती है।'

इस अनुभूति में कोई नवीनता और विचित्रता न होती, यदि यह वह व्यक्ति न सोचता, जो केवल अपने स्वार्थों का ध्यान रखकर, नित्य, पग-पग पर, दूसरों का अपमान करने की कला में कीर्ति-लाभ कर चुका था।

: १८ :

अन्धकार को पीकर रजनी मत्त मतंगिनी बन चुकी थी। तारे पैसे की लोलुपता का नया खेल देखने के लिए, कभी आपस में कानाफूसी करते, कभी मुस्कराते हुए कुछ गा उठते और कभी उन्मत्त हो-होकर टिम-टिम करके नाचने लगते! पुरवैया हवा सन-सन डोलती हुई ओस में सोनेवालों

का मन टटोल रही थी। इधर-उधर वन्य प्रकृति के झुरमुट और झाड़ियों के अन्दर से जब कभी जुगनू चमक उठता, तो ऐसा प्रतीत होता, मानो आज नीरवता भी हँस लेना चाहती है! मूकता भी चंचलता का साथ देना चाहती है!

दिलीप को भीरुता से चिढ़ थी। एक क्षण को भी भय-कातर होना उसकी प्रकृति के विरुद्ध था। किन्तु आज वह नियति के जाल में बुरी तरह फँस गया था। उसका उद्देश्य पवित्र था। उसका यह सोचना बिलकुल यथार्थ था कि मौसमपुर में चेक्स तो काम देंगे नहीं। वहाँ तो नक़द रुपए पहुँचने चाहिएँ। किन्तु फिर अर्थ-मंत्री, एकाउंटैंट तथा कैशियर लोग किसलिए हुआ करते हैं? प्रश्न तो यह है कि मैंने यह जोखिम अपने ऊपर ली ही क्यों? मैं आज निश्चिन्तता से वहाँ पहुँच जाता और सारे चेक्स उन लोगों को दे देता। जैसे भी होता, वे लोग उन्हें कैश कराते रहते। उनके काम को मैंने स्वयं कर लेने की इच्छा ही क्यों की? उत्तर घूम-फिरकर पुनः वही निकल पड़ता—'केवल पीड़ित मानवता के प्रति अपने तात्कालिक कर्त्तव्य की बात सोचकर।'

फलतः पुनः एक आह भीतर से निकल पड़ी। कोई मार्ग सामने नहीं दिखलाई पड़ रहा था। पता नहीं, कब क्या हो जाय! 'प्रतीक्षालय का यह कमरा भीतर से बन्द अवश्य कर लिया है, लेकिन अगर लोग चाहेंगे और खोलने पर तुल ही जायँगे तो क्या वे इन किवाड़ों को खोल न लेंगे! और मुझसे ही जब कोई खोलने को कहेगा, तो क्या मैं उसे खोल न दूँगा!'

कुछ क्षुधा सी जान पड़ती थी। लेकिन उसको तो नाना प्रकार की भयानक कल्पनाओं और आशंकाओं ने ग्रस लिया था। उसे कुछ प्यास भी जान पड़ती थी। तालु सूख रहा था। लेकिन तभी ध्यान आ गया कि पैसे की सुनहली प्यास ने जब रक्त की प्यास का रूप धारण कर लिया है, तब साधारण पानी की प्यास का मूल्य ही क्या रह जाता है!

एक पत्ता खटकने का भी शब्द होता, एक कुत्ते की ग़ुर्राहट का स्वर भी कान में जा पड़ता, कोई इँट-खुर्रा कहीं फिसल पड़ता, तो झट यही

जान पड़ता कि वे लोग आ गए ! वही लोग, जो पैसे के नाम पर आदमी की उतनी ही क़ीमत आँकना जानते हैं, जितनी एक कद्दू की होती है ! कस के एक छुरी मार दी। खप्-सा नन्हा एक शब्द हुआ और बस, टुकड़े कर-कर के साग बना डाला झट से !

'अच्छा, अगर ऐसा कुछ हो ही गया, तो ?

'सवाल बुरा नहीं है। कम-से-कम सोचने में एक नये प्रकार की भावना का स्वाद तो मिल ही जाता है !

'हाँ साहब, तो समाचारों की दुनिया को एक खासा अच्छा विषय मिल जायगा। कोई-कोई पत्र तो इस समाचार को मेरा ब्लाक देकर छापेंगे। माँ तो कटी डाल की भाँति गिर पड़ेंगी ! उनको एक ऐसी मूर्छा आ जायगी कि फिर उनका उठना असम्भव हो जायगा ! हो सकता है कि प्राण निकलने में दो-एक दिन लग जायँ। मगर वे बचेंगी नहीं। चाचाजी बाहर से बड़ा मातम मनायँगे, मगर भीतर से उनकी आत्मा परम प्रसन्न हो उठेगी ! सोचेंगे कि चलो रास्ते का एक कटंक तो कटा !

'पता नहीं यह भूमि अभी ऐसे और कितने बलिदान लेगी ! .....मच्छर काट रहे हैं। अच्छा तो है, जब पैसा आदमी तक को काटने पर तत्पर है, तब मच्छर भला क्यों चूकने लगा ! प्रकृति इतनी मायाविनी और निर्मम होती है, मैंने कभी सोचा न था। यों सोचने को मैंने अभी बहुत सी बातें नहीं सोची हैं, जिन्हें अब तक मुझे सोच लेना चाहिए था। लेकिन यह भी एक अजीब सी बात है कि प्रकृति एक ओर तो इतनी सुन्दर है कि कभी उसे बुढ़ापा आता ही नहीं। दूसरी ओर वह इतनी निर्मम है कि एकदम पिशाचिनी !

'सुन्दर वस्तुओं का यह दूसरा पहलू कितना हिंसक है !

'हाँ, तो बड़ी चाची को भी थोड़ा दुःख होगा। थोड़ा इसलिए कि कोई भी दुःख उनके लिए थोड़ा है ! ....सुरेन्द्र को भी कम दुःख नहीं होगा। प्रत्यक्ष वह चाहे न रोये, पर महीनों वह मुझे भूल न पायगा ! उठते-बैठते, खाते, चाय पीते, ताश-कैरम-शतरंज खेलते, सोते-जागते, मैं—मेरी बातें—उसे सताती रहेंगी।

'वास्तविक मूल्य मनुष्य का तभी आँका जाता है, जब वह मर जाता है।...अच्छा, तो मृत्यु इस मानी में बड़ी न्याय-परायण होती है !

'और भी इस दुनियाँ में दो-एक प्राणी हैं, जिन्हें कम दुःख नहीं होगा। प्रतिभा दीदी तो ए. सी. करेंट के आघात की भाँति हतप्रभ हो उठेंगी ! बोलेंगी कुछ नहीं, चुपचाप सहन कर लेंगी। पर दिन, सप्ताह, मास और वर्ष वे मुझे याद करेंगी—करती रहेंगी।

'और लक्षणा ?

एक आँसू ढुलक पड़ा इसी क्षण!... ना, इस सम्बन्ध में मैं नहीं सोचूँगा! ...काट लो मच्छरो, तुम भी क्या कहोगे, किसी को काटा था !'

यकायक फिर एक ज्वार सा आ गया। 'यह पत्ता क्यों खटका ? क्या वे आ गए ? तो प्रकृति को क्या जीवन की अपेक्षा मेरी मृत्यु में कुछ अधिक स्वाद मिलेगा ? अच्छा, जब मेरी गरदन पर उनकी छुरी चलेगी और मेरा गला धड़ से अलग हो जायगा, तब प्रकृति यहाँ नृत्य करेगी ! कहेगी—हा ! हा ! हा! हा! मैं न्याय-अन्याय हिंसा-अहिंसा कुछ नहीं देखती, आप मेरा क्या कर लेंगे ?...कहेगी कि मनुष्य की माया-ममता भी मैं कुछ नहीं देखती, भले ही आप मुझे गाली दिया कीजिये।...कहेगी कि देश और समाज के हानि-लाभ की मैं क़तई परवाह नहीं करती। आप प्रस्तावों पर बहस करते रहिये ! मैं तो विश्व के क्रन्दन में सभ्यता का स्तर-मात्र देखती हूँ; व्यवस्था की नाड़ी में उसकी धड़कन के स्वर-मात्र सुनती हूँ। इतिहास के दो-चार दस पिछले पृष्ठ-मात्र उलटती हूँ ! जब मानवात्मा आँसू पीकर जीती है, तब मेरा संगीत पनपता है और नागरिकता वन्य बनने लगती है, तब सभ्यता के साथ मैं सावन का हिंडोला झूलती हूँ !

'नहीं जी, यह सब-कुछ नहीं होगा।' दिलीप बेंच पर लेटा-लेटा करवँट बदलता हुआ सोचने लगा—'एक तो मैं सोऊँगा नहीं। दूसरे खतरा देखकर मैं कुछ-न-कुछ अवश्य करूँगा। इस कुरसी को उठाकर ऐसे ज़ोर से सिर पर पटक दूँगा कि एक साथ दो-एक तो ढेर हो ही जायँगे ! सिर फट जाने के बाद वार करना उनके लिए कठिन हो जायगा !...और वे अगर

इधर से आये, तो मैं झट उधर से निकल भागूँगा। लेकिन भागना! —ऊँहुँ, लड़ाई के मैदान से भागना मेरे लिए असम्भव है। तब मैं अभिमन्यु की तरह मरूँगा। मारनेवाले भी तो जानें कि एक वीर पुरुष को मारना सरल नहीं होता!'

तब दिलीप उठा। वेटिंग-रूम को उसने सतर्कता-पूर्वक देखा। लालटेन जो वहाँ जल रही थी, उसके प्रकाश को उसने मन्द कर दिया। पर दिलीप जहाँ रहे, ठहरे और बैठे, वहाँ प्रकाश मन्द क्यों हो? हाँ क्यों हो मन्द? और तब उसने उस लालटेन की बत्ती को पूर्वापेक्षा भी तीव्र कर दिया!

'और इस कालीचरन के बच्चे को क्या हो गया? कहाँ रह गया वह उल्लू का पट्ठा? शायद उस आदमी से बात कर रहा होगा, जो उसका परिचित निकल आया है। लेकिन मुझको यहाँ अकेला छोड़कर—मेरे प्राण संकट में डालकर!

'और वे मुसाफ़िर जो बाहर बस्ती में पेट-पूजा को निकल गए थे, वे? वे भी अभी तक नहीं लौटे! ···कोई कुत्ता जान पड़ता है रो रहा है पास कहीं बस्ती में। रोनेवाले सब इसी तरह रोया करते हैं! कोई उनका रोना सुनता हो, चाहे न सुनता हो। दुनिया में जितने भी रोनेवाले हैं, सबका स्वर एक ही तरह का होता है।...लेकिन एक रुदन को मैं प्यार करता हूँ। उस बच्चे का रुदन, जिसने अभी-अभी इस धरा-धाम पर आँखें खोली हैं। उस माँ का रुदन भी, जो अपने बच्चे की आशा पूरी कर नहीं पाती! उस धरती का नैश मूक रुदन भी मुझे प्यारा लगता है, जिसे शहीदों ने अपने रक्त सींचा है। मुझे इतिहास के उन पृष्ठों के रुदन पर भी कम तरस नहीं आता, जिन्हें राजनीतिज्ञ कभी उलट-पुलट कर देखते तक नहीं!'

इसी क्षण किसी ने दरवाज़ा खटखटाया—कुट-कुट! कुट-कुट! कुट-कुट!

"कौन?" दिलीप ने तीव्र स्वर में पूछा।

"मैं हूँ छोटे सरकार!" उत्तर कालीचरन का था, लेकिन धीरे से।

"क्यों, क्या बात है ?" दिलीप ने पुनः पूछा।

"पहले दरवाज़ा तो खोलिये ! आप तो···· !" कालीचरन के स्वर में कुछ घबराहट सी थी। ऐसा जान पड़ा, मानो सचमुच परिस्थिति गम्भीर है और कालीचरन जो आया है, तो किसी ख़ास मतलब से ही आया है।

दिलीप ने दरवाज़ा खोल दिया। फिर उसने लालटेन हाथ में लेकर बाहर चारों ओर ध्यान से देखा,एक घोर काली अँधेरी रात, उसका जड़ सन्नाटा और झिल्ली की झनकार। कुत्तों के भौंकने का स्वर, सिगनलों की लाल रोशनी। आदमी के नाम पर कहीं कोई नहीं। केवल एक व्यक्ति उसके पीछे चुपचाप खड़ा है। यह वही व्यक्ति है जो संयोगेन कालीचरन से बात कर रहा था।

सहसा दिलीप के मुँह से निकल पड़ा—"कुछ और पता चला ?"

तब कालीचरन ने दिलीप के कान के पास मुँह ले जाकर कह दिया, "अब चुपचाप यहाँ से निकल चलिये सरकार ! ख़ैरियत नहीं है। बदमाश लोग भी यहीं उतर पड़े हैं। शायद वही लोग, जो बस्ती गए हुए थे—कुछ खाने-पीने।"

दिलीप का हृदय धड़कने लगा। इस समय उसने यह नहीं पूछा कि यह सब तुमको मालूम कैसे हुआ। क्योंकि इसके लिए उसके पास एक तर्क था कि प्रत्येक समय प्रत्येक बात का भेद बतलाया नहीं जा सकता। और कर्म की घड़ियों में तो ऐसा सम्भव भी नहीं होता।

सामान सब कालीचरन और उस आदमी ने उठा लिया। आगे-आगे कालीचरन और वह व्यक्ति चला, पीछे-पीछे दिलीप। तभी कालीचरन धीरे से कहने लगा—"यह मेरे ख़ास ममेरे भाई हैं सरकार ! इनका नाम रामदास है।"

इतने में रामदास बोला—"अब आपको भगवान् ने बचा लिया मालिक ! बिलकुल बच गए आप। बाल भी आपका बाँका नहीं हो सकता।···मगर यह तो बतलाइये कि रुपया कहाँ है ?"

दिलीप का माथा ठनका।—'यह रुपया क्यों माँग रहा है ?' एक बार

उसके मन में आया, 'कहीं ऐसा तो नहीं है कि कालीचरन का यह भाई भी ....!' परन्तु तब तक कालीचरन बोल उठा—"इन्हीं के हवाले कर दें मालिक ! जोखिम की चिन्ता न करें।" और रामदास बोला—"हम लोगों की जान भले ही चली जाय, मगर रुपया आपका कहीं नहीं जायगा।"

तब दिलीप ने नोटों से भरा अटैची-केस रामदास को दे दिया। लेकिन दस क़दम भी वह आगे न बढ़ा था कि उसने पूछा—"पर तुम लोग मुझे लिये कहाँ जा रहे हो ?" उसके स्वर में कोई घबराहट न थी; किन्तु उसका प्रश्न फिर भी एक सतर्कता व्यक्त कर रहा था।

रामदास वहीं खड़ा हो गया। बोला—"लालटेन की बत्ती को विदा कर दो काली भैया !" और कालीचरन ने झट बत्ती बुझा दी।

अब रामदास ने कह दिया—"हाँ, अब ठीक हुआ। लीजिए, यह मेरी अँगुली पकड़ लीजिए और चुपचाप बिना विशेष खट-पट किए मेरे साथ चले आइए। दहशत की बात तो निकल गई। मगर फिर भी दुश्मन को किसी बात का पता क्यों चले !"

कालीचरन बोला—"ज़रा जल्दी पैर उठाओ दादा ! मुझे तो कुछ ऐसा जान पड़ता है, मानो कोई आ रहा है !"

"कोई आ रहा है ! कहाँ ?" आश्चर्य और घबराहट भरे स्वर में रामदास स्वयं बोला उठा—"हाँ हो। कोई आ तो रहा है टार्च हिलाता हुआ। अच्छा सरकार, अब आप इस तरफ़ आ जायँ, पलेटफारम के नीचे नीचे। मगर देख के, बच के आयँ। तार में पैर न उलझने पाय।....और आगे यह पत्थर है। इसको भी बचा के। बस, अब आगे रास्ता साफ़ है।"

दिलीप सोचने लगा—'कैसी विचित्र गति है जीवन की ! आज हम इस रामदास की सहायता पर निर्भर हैं ! उसके पीछे-पीछे हमे चलना पड़ रहा है !'

थोड़ी देर में रामदास एक स्थान पर खड़ा हो गया और एक सीढ़ी दिखलाकर बोला—"बस, इस सीढ़ी से आप ऊपर छत पर चढ़ जाइए। वहाँ आपके लिए बिछौना बिछा दिया गया है। मगर हाँ, ऊपर पहुँचते ही

यह सीढ़ी भी वहीं खींच लीजिए। और बस, आराम कीजिए। सवेरे जब मैं लाइन-क्लियर दूँ, तब नीचे आ जाइएगा।"

पहले तो यह व्यवस्था सुनकर दिलीप भौंचक्का-सा रह गया। पर फिर यह सोचकर कि सीढ़ी ऊपर खींच लेने पर सचमुच कोई यह कल्पना भी न कर सकेगा कि माल-टाल का असली मालिक तो यहाँ छिपा है !

तब दिलीप उस गहन अन्धकार में सीढ़ी के प्रत्येक डंडे को टटोल कर, फिर उसे मज़बूती के साथ थामकर, ऊपर चढ़ गया। जब तक वह ऊपर चढ़ता रहा, तब तक रामदास सीढ़ी के निचले पाँवों को सँभाले रहा। क्योंकि वहाँ की भूमि चिकनी थी और उसके फिसल जाने की भी सम्भावना कम नहीं थी। ऊपर पहुँचकर जब दिलीप सीढ़ी चढ़ाने लगा, तो रामदास उसको नीचे से उठाकर ऊपर की ओर ले जाने में बराबर सहायता पहुँचाता रहा।

ऊपर पहुँच जाने और व्यवस्था के अनुसार सीढ़ी को भी ऊपर ही खींच लेने पर दिलीप को अपने अन्दर कुछ बल का अनुभव हुआ। उसे इस बात पर भी विश्वास हो गया कि अब मैं वास्तव में निरापद हूँ। इस समय रामदास के ये शब्द उसके कानों में गूँज रहे थे कि हमारी जान भले ही चली जाय, मगर आपका रुपया कहीं नहीं जायगा।

इस अवसर पर एक बार दिलीप लेटे-लेटे अपने-आपसे यह प्रश्न करने लगा कि मेरी सहायता करने में इस रामदास को भला किस बात का लोभ हो सकता है ? क्या केवल इस बात का कि कालीचरन मेरा नौकर और उसका भाई है ? कभी काम पड़ जाय, तो नौकर के भाई के साथ मालिक लोग अवश्य उदारता का व्यवहार करेंगे। बस, इतना ही न ? मगर आज की दुनिया का सभ्य नागरिक तो ऐसे अवसरों पर पहले सौदे की बात सोचने लगा है ! कहता है—आपका इतना रुपया मैं बचा दूँगा, इसलिए आधा नहीं, तो एक तिहाई तो मुझे मिलना चाहिए ! फिर यह सौदा वह प्रत्येक व्यक्ति से करता है। अपरिचित से तो करता ही है, मित्रों, आत्मीय स्वजनों तथा रिश्तेदारों से भी करता है ! जिनसे

नहीं कर पाता, उनका शत्रु हो जाता और प्रकारान्तर से उन्हें हानि पहुँचाता है ! कहनेवाले कहते हैं—यह भूख है, यह अभाव है। पर वे झूठ बोलते हैं, वे अपने को धोखा देते हैं ! यह मक्कारी है, नशा है, बदमाशी है !

कालीचरन और रामदास दोनों चले गए। वृक्षों की पत्तियों और टहनियों का मर्मर रव कानों में गूँजने लगा। ऐसे समय एक बार फिर दिलीप को कुछ आत्मीय लोगों की सुधियों ने घेर लिया। ···चाचा जग रहे होंगे ! सम्भव है, उन गाँठों की तारीखें नोट कर रहे हों, जिनको छुड़ा लेने की अवधि बीत रही है। सम्भव है, हिसाब लगा रहे हों कि कितना रुपया नक़द घर में है, ऐसा कि जिसको छूने की भी ज़रूरत नहीं और कितना बैंक में है, जो फ़िक्स-डिपॉज़िट है। सम्भव है, शारदा के ब्याह की चिन्ता में करवट बदल रहे हों।··· सुरेन्द्र के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। सो भी सकता है और ऐसा भी हो सकता है कि अपनी नवभार्या से खट्टी-मीठी बातें कर रहा हो ! क्योंकि सीधी और साधारण बात तो वह कभी कर ही नहीं सकता।··· अब काफ़ी ओस पड़ने लगी है। बिस्तर भीगा-सा जान पड़ता है।··· सिर भारी हो रहा है। आँखों में कड़ुवाहट उत्पन्न हो गई है। पलकों पर कुछ बोझ-सा लदा है।····अच्छा, यह लक्षणा दीदी के यहाँ खूब मिली ! आज तक मैंने किसी लड़की के मुख की ओर इतने ध्यान से नहीं देखा। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि किसी लड़की ने मेरी ओर ध्यान न दिया हो। पता नहीं दोष किसका है। मैंने कभी इस विषय पर कुछ सोचा भी नहीं।··· यह सुरेन्द्र भी अजीब आदमी है। किसी को खाना खिलाना होगा, तो पहले उन चीज़ों के नाम गिनायगा, जो उस दिन उसके यहाँ वनी होंगी, फिर उनके स्वाद के प्रति उसके मन में लालच उत्पन्न करेगा। कहेगा—आलू और बैंगन के भुरते की कुश्ती का स्वाद—बस थोड़ा सा; खाना मत, जायक़ा भर ले लेना। आपने जवाब देने में देर लगाई नहीं कि झट अन्दर जा पहुँचेंगे और अपनी पत्नी से कहेंगे—तुम्हारे बनाये हुए खाने

का विशेष प्रशंसक और उस पर इतना सोच-विचार ! शिव शिव ! आतिथ्य-धर्म तो गया रसातल को ! —और बस बीस ही मिनट के अन्दर थाल लगकर सामने आ जायगा। ····लक्षणा की ट्रेनिंग उसके यहाँ अच्छी हो जायगी····पर सुरेन्द्र ने उस दिन मुझसे यह प्रश्न क्यों किया था कि हृदय-दान की क्रिया में जो व्यक्ति पहले आगे बढ़ता है, तुम्हारी दृष्टि में वह अधिक सभ्य होता है, अथवा वह व्यक्ति, जिसे निमंत्रण मिलता है। अर्थात् सभ्यता की अभिवृद्धि में सहायक प्रेम करनेवाला होता है, या प्रेम पाने वाला ?

इतने में किसी ऐसे व्यक्ति के चलने की आहट हुई, जिसके जूतों में नाल गड़ी थी। धीरे-धीरे वे पद-चाप वेटिंग-रूम की ओर बढ़ते चले गए। उसे जान पड़ा, हो-न-हो यह उसी दल का व्यक्ति है जो मेरे पीछे पड़ा है। जिस छत पर दिलीप लेटा था, वह वेटिंग-रूम के सामने की ओर, पूर्व दिशा में, कुछ हटकर पड़ती थी। अतएव उसने थोड़ा उचककर जो देखा, तो उसे जान पड़ा, कोई एक व्यक्ति वेटिंग-रूम के अन्दर गया है। किन्तु यह बात उसकी समझ में नहीं आई कि एक ही व्यक्ति को उन लोगों ने वेटिंग-रूम के अन्दर क्यों भेजा !

इसी समय फिर किसी भूखे कुत्ते के रोने का स्वर बस्ती की ओर से आने लगा। और साथ ही एक पक्षी सर्र-सी आवाज़ के साथ ऊपर से उड़ता हुआ निकल गया। क्षण-क्षण पर नाना प्रकार की अमांगलिक आशंकाएँ उसके मन में उठने लगतीं, कानों के परदों पर आते हुए स्वर उसकी चेतना को उत्तेजित कर देते। किन्तु फिर बड़ी देर तक कहीं से कोई भी ऐसा स्वर नहीं सुनाई पड़ा, जिस पर वह विशेष विचार करता। फिर एक भयानक सन्नाटा !

कोई एक घंटे बाद।

फिर कुछ आदमियों की पदचाप सुनाई दे रही है।··· दूर से यह किसी ने टार्च की रोशनी फेंक दी, जो लप्प-सी होकर समाप्त हो गई ! हो सकता है कि किसी ने ग़लती से उसे जला दिया हो।

अथवा टार्च के अति सुकुमार हृदय से किसी की अँगुली का पोरा टच-सिस्टम से कुछ कह बैठा हो ! किन्तु टार्च के जलने में चाहे देर भी लगी हो, पर उसके बुझने में डेढ़ सेकंड भी नहीं लगा। साथ ही नाल जड़े हुए जूतों की खटपट सम्मिलित रूप से कम होती गई और अन्त में बिलकुल विलुप्त हो गई। फिर एक स्थिर मूकता से वह पूरी तरह घिर गया। रजनी, गगन, तारे,गाँव, बस्ती, सड़क, गली, घर-द्वार वृक्ष-झाड़ियाँ, स्टेशन, रेल की लाइन सब मूक और उनके बीच उस सुनसान रात में अकेला एक छत पर करवटें बदलता हुआ दिलीप। किन्तु अब धीरे-धीरे उसकी भारी हो रही पलकें भी झपक उठी हैं। लो, कहीं से सीटी की एक तेज़ आवाज़ आई और बात-की-बात में दर्जनों व्यक्तियों से वेटिंग-रूम घिर गया। फिर कुछ कठोर स्वर सुनाई पड़े—"अब्दुल्ला ! कसकर बाँध लो सालों को ! हीरासिंह ! पहले तलाशी लो इनकी। देखो, कोई औज़ार तो कहीं नहीं छिपा रखा है !"·····

कोई पूछने लगा—"सभी लोग पकड़ गये या कोई भाग भी गया ?"

"यहाँ कल्पना काम नहीं देती," धड़कते हुए दिल से दिलीप सोचने लगा—'यह तो निश्चित है कि कुछ होकर रहा। पर हुआ क्या, यह अभी प्रकट नहीं हुआ। वह घटना भी क्या, जिसके विषय में पहले से कुछ सोचा जा सके ! और इसी समय नीचे से आवाज़ आई—"आ जाओ छोटे सरकार, लाइन-क्लियर है।" दिलीप इस स्वर से परिचित हो चुका था। यह रामदास था।

दिलीप ने सीढ़ी उठाकर नीचे गिरा दी, रामदास ने झट उसे सँभाल लिया। कालीचरन वहीं खड़ा था। उसने भी सीढ़ी के पाये को थाम लिया। दिलीप सावधानी के साथ नीचे उतर आया तो उसने देखा, दोनों कुछ सहमे से हैं, फिर भी कोई कुछ कह नहीं रहा है।

उसके मुँह से निकल गया—"क्या हुआ ?"

रामदास बहुत घबरा गया था। कालीचरन ने रुद्ध कण्ठ से उत्तर दिया—"आज भगवान् ने ही आपको बचाया है—नहीं तो·····!"

और इसके बाद वह रो पड़ा और बोला—"मेरे मुँह पर ऐसी कालिख लग जाती कि मैं मुँह दिखाने लायक न रहता।" वह सिसकता हुआ रुक-रुककर बात कर रहा था, उसके स्वर में भी थरथराहट थी।

"तो फिर हुआ क्या?" दिलीप समाचार जानने के लिए अधीर था।

इस बार रामदास ने उत्तर दिया—"स्टेशन-मास्टर का लड़का शाम से ही घर से बाहर था। रात को वह सिनेमा देखकर जो देर से लौटा, तो पिता के डर से घर न जाकर, वेटिंग-रूम में लेट गया, जहाँ पहले आप लेटे थे।"

तब रोता हुआ काली बोला—"उन लोगों को यही पता था कि वहाँ आप हैं और आपके पास रक़म है।"

अब दिलीप के मुँह से निकल गया—"तो क्या उन लोगों ने उसे···?"

एक आह भरकर रामदास बोला—"हाँ सरकार, उन्होंने अठारह-बीस वर्ष के उस बच्चे को मार डाला, जिसकी जेब में कुल दो रुपये सात आने पैसे निकले!

घोर अँधेरी रात के कारण दिलीप के सामने यों भी अन्धकार था। पर अब तो एक दारुण आघात के साथ वह हृदय पर हाथ रखकर वहीं बैठ गया।

दो मिनट बाद कालीचरन बोला—"अब चलें छोटे सरकार! रात-भर जगे हैं। थोड़ा आराम भी कर लें।"

दिलीप ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने दोनों हाथ उठा दिए। वह कालीचरन का सहारा लेकर खड़ा हुआ और दोनों के साथ चल दिया। वह चलता तो जा रहा था, लेकिन उसका मन जैसे स्तब्ध पड़ गया था। रात उसे भूख लगी थी, लेकिन अब कहीं उसका पता न था। उसे प्यास भी लगी थी, लेकिन अब वह भी मर चुकी थी। उसके मन में एक शून्य-सा फैल रहा था।

इस घटना का प्रभाव उसके ऊपर दो प्रकार से पड़ा था। एक तो अमिट छाप उसके मन पर इस बात की पड़ गई थी कि मनुष्य को क्षण-क्षण

पर अति सावधान रहने की आवश्यकता है। प्रकृति जड़ है। उसकी आँखें पत्थर की हैं। उसके हृदय नहीं है। वह समष्टि है, इसलिए उसका कोई आकार भी नहीं है। वह जननी है; क्योंकि उसकी गोद में हम पलते हैं। वह पिशाचिनी है, क्योंकि उसकी कर्महीनता और निश्चेष्टता हिंसक है।

दूसरी बात इसके विपरीत थी। उसे इस बात पर पक्का विश्वास हो गया था कि सब कुछ करने पर भी मनुष्य कुछ नहीं है। वह उस सत्ता का एक खिलौना-भर है, जो अदृष्ट, अगोचर, अद्‌भुत और सर्व-व्यापक है। किसी तरह उसे यह बात भूलती ही न थी कि उसी एक सत्ता ने आज उसके प्राण बचाये हैं। रास्ते में रामदास कहने लगा—"दारोगा आपकी याद कर रहे थे छोटे सरकार! पहले उनसे मिल लें।"

निष्क्रिय और निश्चेष्ट-सा दिलीप फिर भी कुछ न बोला। वह केवल साथ-साथ चलता गया।

अब वेटिंग-रूम सामने था और दारोग़ाजी कुरसी डाले बाहर बैठे थे। दो लालटेनें वहाँ रखी थीं और कई आदमी इधर-उधर खड़े धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। दिलीप ने देखा, उम्र ऐसी अधिक नहीं है, यही सत्रह-अठारह वर्ष की होगी। लेकिन देह से वह बिलकुल मेरे-जैसा है। पर उसकी मृत्यु कितनी निर्मम और कितनी भयानक हुई है! सिर और धड़ अलग-अलग पड़ा है! रक्त की धाराएँ बह-बहकर गाढ़ी हो गई हैं, उन पर कालिमा छा गई है। बेंच के नीचे एक जूते की जोड़ी रखी हुई है।

"और फ़र्श पर यह कौन लेटा है?"

ओ: ये तो स्टेशन-मास्टर साहब हैं, मूर्छित, संज्ञा-हीन!

दारोग़ाजी निकट आ गए और तपाक से हाथ आगे बढ़ाकर बोले—"आपके सिर पर भगवान का हाथ है। मैं आपको मुबारकबाद देता हूँ! सचमच आप मौत के मुँह से बाल-बाल बचे। क़ज़ा इस मासूम की होनी थी, आप तो महज़ एक बहाना थे।"

दिलीप दारोग़ाजी की तरफ़ ध्यान से देख रहा था। लेकिन उत्तर में

उसने अब तक कुछ नहीं कहा, तो दारोग़ा बोले—"आप बोलते कुछ नहीं हैं जनाब !"

दिलीप के होंठ हिले और दारोग़ाजी ने कहा—"अरे आपको कुर्सी लाओ कोई।"

कुर्सी आ गई। दोनों बैठ गए। अब दिलीप ने कह दिया—"मैं क्या जवाब दूं आपको ? काश आप जान सकते कि मेरे दिल पर क्या बीत रही है !"

"आई सी ! जान पड़ता है, आप बहुत नरम यानी कि मुलायम तबियत के आदमी हैं। इस तरह का खौफ़नाक सीन आपने भला क्यों देखा होगा ! मुझे भी इस महकमे में मुलाज़मत करते हुए पचीस साल हो गए। पर अपने ढंग का यह पहला केस मैं देख रहा हूँ।···अच्छा तो अब क़ायदे की कार्रवाई भी कर ली जाय।" कहते हुए वे उठे और बुकिंग-आफ़िस के सामने जा खड़े हुए।

उस समय प्रभात ने मुस्कराना आरम्भ ही किया था। बालारुण की किरणें धरती को चूम रही थीं। समाचार दूर-दूर तक फैल चुका था। दर्शकों की भीड़ बढ़ती जाती थी। धीरे-धीरे बुकिंग-आफ़िस का सारा फ़रनीचर बाहर आ गया था। लोग आपस में तरह-तरह की बातें करते दीख पड़ते थे। घटना की कथा सुन लेने के बाद प्रत्येक आदमी एक-दो बार दिलीप की ओर अवश्य देख लेता था। इसी समय रामदास आया और लालटेनें उठा ले गया।

दारोग़ाजी के सामने जो टेबिल रखी थी, उस पर एक रजिस्टर था, एक कापी और क़लमदान। व्यक्तित्व रोबीला और दबंग। उनकी ऐंठी हुई सघन मूँछें दोनों ओर छल्लों का आकार बनाती थीं। मस्तक चौड़ा था, किन्तु वह सफ़ाचट चाँद से रिश्ता जोड़ चुका था। कानों के नीचे का भाग छोटे-छोटे क़रीने से कटे-छटे केशों से आवृत था। आँखें भाव-परिवर्तन में निपुण थीं। पेट अपेक्षाकृत बड़ा था। बेल्ट खोलकर टेबिल पर रख लेने में ही उन्हें सुविधा प्रतीत होती थी। टेबिल के एक कोने

पर वर्दी का प्रधान अंग साफ़ा रखा था, लेकिन उसके नीचे एक छोटा बेंत था, जिसकी मूठ चाँदी की-सी मालूम होती थी ।

"अरे हीरासिंह, दो सिगरेट् तो लाना ।"

हीरासिंह जाति का जाट था, लेकिन सिगरेट से उसको घृणा थी । जब से दारोग़ाजी को यह बात मालूम हो गई थी, तब से वे अब्दुल्ला से सिगरेट न माँगकर प्रायः हीरासिंह से ही माँगते थे ।

हीरासिंह ने दो सिगरेट् एक बैग से निकालकर दारोग़ाजी के सामने रख दीं । उनमें से एक उन्होंने अपने होठों से लगा ली, दूसरी दिलीप के सामने कर दी ।

दिलीप बोला—"क्षमा कीजिये, मैं स्मोक नहीं करता ।" और उठ कर खड़ा हो गया । उसका ध्यान मौसमपुर-हास्पिटल की ओर लगा था । रह-रहकर वह बेचैन हो उठता था ।

"ख़ैर, कोई बात नहीं । आप तशरीफ़ रखिए । मैं बस अब तहक़ीक़ात शुरू करता हूँ ।" इतना कहकर उन्होंने उन तीनों बदमाशों की ओर इशारा करते हुए कह दिया—"ये आपके मेहमान मौजूद हैं !"

अब मुलज़िमों को देखकर दिलीप सहसा चौंक पड़ा । उनमें से एक ने अपने मुँह को रूमाल से ढक रखा था, परन्तु शरीर और वेश-भूषा से उस पर जिस व्यक्ति के होने का सन्देह उत्पन्न होता था, उसकी कल्पना से भी हृदय के कई तार झनझना उठते और कुछ तो एकदम से टूटने लगते थे ।

तब बिना रुके उसने कह दिया—"यह आदमी मुँह क्यों ढके हुए हैं ?"

दारोग़ाजी ने त्यौरी बदलकर कठोरता से कह दिया—"अब्दुल्ला, इसके दो चाँटे तो रसीद करो । शकल चुड़ैल की, मिज़ाज परियों के ! हत्या करने में लिहाज़ नहीं आता, मुँह दिखाने में शरम लगती है ! चाँटों के बाद उस आदमी के लाल हो रहे मुँह को जब दिलीप ने देखा, तो उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ । वह बफ़ाती था !

: १९ :

दिलीप जब दारोग़ाजी से छुट्टी पाकर पुनः मौसमपुर जाने की चेष्टा करने लगा, तब लारी से जाने के सिवा उसके सामने और कोई मार्ग न था। ट्रेन पाँच बजे सबेरे छूट जाती थी और अब दिन के दस बजे थे। दूसरी ट्रेन रात को फिर उसी समय आती थी, जिस समय रक़म की रक्षा के भार से दबा हुआ, वह उस भले आदमी के चक्कर में पड़कर तिकुनवाँ स्टेशन पर उतर पड़ा था। सारे दिन वह यहाँ क्यों बेकार पड़ा रहे, यही सोचकर वह दो मील दूर पक्की सड़क की ओर चल दिया।

उसका अंग-अंग शिथिल हो रहा था। उसका सिर फटा जा रहा था। उसे भूख भी लगी थी। उसका कण्ठ सूख रहा था। पक्की सड़क पर जहाँ बैलगाड़ियाँ रात को बसेरा लेती थीं, दिन के थके-हारे पथिक जल-पान करके थोड़ी देर ठहरकर विश्राम की साँस के घूँट पीते थे, वहाँ पहुँचकर दिलीप ने पाव भर पेड़े ख़रीदे। आधपाव से कुछ अधिक ही उसने कालीचरन को दे दिए, शेष अनिच्छापूर्वक स्वयं गले के नीचे उतारे, गिलास भर पानी पिया और लारी की प्रतीक्षा में वह उसी मिठाई की दूकान पर पड़ी एक टुटही बेंच पर बैठ गया। कालीचरन भी कुए की जगत पर गमछा सिरहाने रखकर लुढ़क रहा।

दस मिनट भी न बीते होंगे कि कालीचरन को नींद आ गई। वह सोने लगा। लेकिन दिलीप की आँखों में तब भी नींद नहीं थी। स्मृतियाँ इतिहास का कलेवर बना रही थीं। रास्ते भर वह बफ़ाती की याद करता रहा। उसे उसकी वे रुआसी-सी आँखें न भूलती थीं, जो उस क्षण उसने देखी थीं, जब उसके मुँह पर चाँटे पड़े थे। फिर जब वह दारोग़ाजी से छुट्टी पाकर चलने लगा था, तब लघुशंका के बहाने हथकड़ियों में बँधा हुआ, कांस्टेबिल के साथ आकर उसने मेरे पैरों पर मत्था टेककर कहा था—"दुनिया चाहे जो कुछ कहे, पर दिलीप भैया, तुम कभी इस बात पर यक़ीन न करना कि मैं तुम्हारे-जैसे देवता के क़त्ल करने का

इरादा कर सकता हूँ ! मुझे कुछ भी पता न था। मुझे कुछ बतलाया ही न गया था।···अब तो यह कालिख मेरे मुँह पर पुत ही गई है, मगर मुझे क़तई इल्म न था कि ये लोग····उफ़ ! आ-आपका क़त्ल कराने के लिए मुझे साथ लिये जा रहे हैं !"

उसने रोते-रोते ये चन्द शब्द बड़ी मुश्किल से हिचकियाँ भर-भरकर कह पाए थे। लेकिन उस स्टेशन-मास्टर ने भी तो यही किया था। जब इन लोगों ने उससे कहा होगा—"पाँच-छैः हज़ार की रक़म है। आधे रुपये आप ले लीजिएगा। सो भी सिर्फ़ इस बात के लिए कि मुझसे क्या मतलब ? मैं कुछ नहीं जानता !"

एक ने पूछा था—"रेलवे की नौकरी में कितना प्राविडेंट फ़ंड जमा किया है ?"

प्रश्न सुनकर स्टेशन-मास्टर के मुँह पर एक मुसकराहट आ गई होगी ! उस मुसकराहट में नौकरी के प्रति एक तुच्छता का भाव रहा होगा। ज़िन्दगी-भर की कमाई एक तरफ़ और दो-चार घंटों के अन्दर, पुलिस की क़ायदे की कार्रवाई के वक्त, दो-चार शब्द कह देना और चुपचाप इतनी रक़म पी जाना एक तरफ़। अजी जब दुनिया में न्याय-अन्याय का कोई विचार नहीं करता, तो मैं क्यों करूँ !"

उसने भी तो घर के अन्दर दीवालों से सिर टकराते हुए यही कहा होगा—'मैं यह थोड़े ही जानता था कि होनहार वहाँ उस नौजवान के बजाय मेरे लाल को जाकर लिटा देगी !'

'सचमुच होनहार की इस पैशाचिक सूझ में मौलिकता है। और मुझे वहाँ से उठाकर ले जाने में तो उस माँ की-सी ममता, जिसकी गोद में खेलकर मैं दिलीप बना हूँ ! तो उस स्टेशन-मास्टर ने भी यही समझा था कि दूसरे का नौजवान बेटा और चीज़ है—और मेरा बेटा और चीज़ !'

बेंच पर चुपचाप बैठा ठंढी साँसें लेता हुआ दिलीप सोच रहा था—दुनिया के सारे प्रश्न इसी स्थल पर इकट्ठे हो जाते हैं। तभी बफ़ाती

की बात का तिरस्कार करते हुए उसे स्पष्ट कहना पड़ा—'बको मत बफ़ाती ! सवाल यह नहीं है कि तुमने मेरी गरदन पर छुरी चलाने का इरादा किया था ! मुख्य सवाल तो यह है कि तुमने किसी की भी गरदन को दिलीप की गरदन क्यों नहीं समझा ? जहाँ जान और माल का प्रश्न है, वहाँ यह अपने-पराये का भेद ही इस सारी दुर्गति का मूलाधार है।

और मुझे स्टेशन-मास्टर से भी यही कहना पड़ा—'जिस आदमी की रक्षा के लिए आपने बार-बार वादे किये, उसी का क़त्ल कर डालने की इजाज़त आपने इन बदमाशों को दे दी ! आपके सिवा किसको पता था कि मैं वेटिंग-रूम में लेटा हूँ ! आप कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रामदास को पता था। पर वही तो मुझे वहाँ से उठा लाया था !'

दुनिया के वे सभी लोग इन लोगों की तरह मक्कार, विश्वास-घातक और हत्यारे हैं, जो सिर्फ़ अपना निजी लाभ देखकर दूसरों के स्वार्थों, हितों और प्राणों की हानि के प्रश्न पर आँखें फेर लेते हैं !

—ये लो, लारी आ गई।—"कालीचरन, कालीचरन, अरे उठ रे।" और हड़बड़ाकर कालीचरन उठ बैठा। दोनों को लारी में जगह मिल गई। दिलीप को इण्टर की सीट मिली, कालीचरन को मामूली। सामान और तो सब ऊपर रख दिया गया, केवल अटैची-केस दिलीप ने अपने पास रखा।

एंजिन की टंकी में पानी भरा जा रहा था। और लारी के अन्दर भी तिकुनवाँ-स्टेशन के हत्याकांड की चर्चा हो रही थी।

—सुनते हैं, जिस सेठ के लड़के के पास रक़म थी, वह तो बच गया; क्योंकि वेटिंग-रूम से निकलकर वह कहीं दूसरी जगह लेट रहा था। फिर रात को देर से आने के कारण उसी जगह स्टेशन-बाबू के लड़के आकर लेट रहे। और बस, इसी धोखे में उस विचारे की जान गई। अभी उस बच्चे की उमर ही क्या थी ! यही अठारह-उन्नीस। इसी साल जेठ में तो उसका ब्याह हुआ था !

इस आघात से दिलीप और अधिक तिलमिला गया !

लारी चली जा रही थी। कभी-कभी सामने भैंसा-गाड़ियाँ आती हुई दीख पड़ती थीं। गाड़ीवानों की मति-गति का उनसे अच्छा परिचय मिलता था। ड्राइवर दूर से चाहे जितना हार्न देता रहे, पर वे अपनी मन्थर गति में बाईं ओर मुड़ना जानते न थे। दिलीप तब मसकराता हुआ सोचने लगता—'ठीक तो है। तुमको बड़ी जल्दी पड़ी है, तो तुम्हीं न कतराकर निकल जाओ। हम तो अपनी मन्द गतिवाले महिषादल ठहरे! राह से बे-राह होना हमारा काम नहीं।···बफाती के पास रुपया होगा थोड़ा-बहुत। केस लड़ेगा, तो सम्भव है, फाँसी से बच जाय! लेकिन सज़ा उसे हो जायगी—कम-से-कम दस बरस की। सज़ा उसे मिलनी चाहिए। लेकिन फाँसी? मैं नहीं चाहता कि वह फाँसी पाय। आदमी सूझ-बूझ और जीवट का है। सुधर जाने पर संसार को लाभ पहुँचा सकता है। लाभ तो वह यों भी पहुँचा रहा था!···· देहात की ये सड़कें अभी सुधर नहीं पाईं। कितने गड्ढे इनमें अबतक नज़र आते हैं!···पक्षियों का यह कल-कूजन बड़ा सुहावना लगता है। और मार्ग में छाई दोनों ओर वृक्षों की ये प्रलम्ब बाहें और पत्तियों की डोलती छाया का प्रतिबिम्ब! काश हमारी ज़िन्दगी के सारे रास्ते ऐसे सुहावने बन सकते!·· बफ़ाती, मुझे तुम्हारे लिए बड़ा दुःख है; लेकिन मैं अब कुछ कर नहीं सकता। इसी स्थान पर मैं कायर हूँ, पत्थर हूँ, जड़ हूँ। मैं··· मैं कुछ नहीं हूँ! मैं केवल कर्त्तव्य हूँ। यद्यपि मैं हिंसा का विरोधी हूँ; फिर भी बफ़ाती, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ! काश तुम मेरी हालत समझ पाते!'

उसकी आँखों से आँसू गिर रहे थे। फिर उन्हें पोंछकर जब स्थिर हुआ तब··उस दिन ताँगे में लक्षणा जब बैठ गई, तो दादा ने कहा था—"जगह कर दे लक्षणा!" और मैं उस मुसकानभरी धृष्ट लक्षणा के इस कथन पर—"यहाँ जगह कहाँ है बाबा!···"

ये स्मृतियाँ मनुष्य को कितना ठगती हैं!····गनी तुमने सोचा होगा, दिलीप तुमसे इस विषय में हँस-हँसकर बात करेगा। बहुत बड़ा साहस है तुम्हारा!···नींद-सी आती जान पड़ती है। थोड़ी जगह और होती।

होती कैसे, पास कोई लक्षणा तो है नहीं। हृदय में जगह रखती हुई, ताँगे में जगह देने को मुसकराहट के साथ इन्कार और फिर निमंत्रण—"आ जाओ युवा संन्यासी!"

लारी चली जा रही थी।

आदमी हर जगह सुविधा देखता है। शरीर का धर्म है सुविधा खोजना। इच्छाएँ कर्म का रूप ग्रहण करने में चूकती नहीं। तन के कानों के पास मन का मुँह लगा रहता है। मन बिजली का बटन है और तन वह शक्ति। बटन में भी तो शक्ति है; पर इतनी ही कि स्पर्श की उसे साध है। मन को सदा स्पर्श की साध रहती है।···धीरे-धीरे नींद के झकोरे आ रहे हैं।·····देखिए भाई साहब, मुझे मौसमपुर जाना है। इसलिए सुखदासपुर उतरना होगा। पहुँचने में अभी देर लगेगी। हो सकता है कि मुझे नींद आ जाय। सारी रात मुझे जगते बीती है।···हाँ, बस-बस, धन्यवाद।····इस अटैची को मैं गोद में न रखकर यहाँ बग़ल में क्यों न रख लूँ? यहाँ तो ऐसा कोई खतरा है नहीं।····प्रकृति हमारे पक्ष में है, भगवान् ने हमें बाल-बाल बचा लिया है, उसकी कृपा का हाथ हमारे सिर पर है!

लारी रुक गई। एक आदमी जो इसी सीट पर बैठा था, उठ गया। दिलीप को थोड़ी जगह और मिल गई। 'चलो, अब अपना डौल गठ जायगा। कितना स्वार्थी होता है यह तन! एक आदमी विदा लेता है, तो पासवाला प्रसन्न होता है—चलो, थोड़ी जगह तो मिली। जब कि अभी हम उससे हँस-हँसकर बातें करते थे; इस भाव से कि यात्रा में वह हमारा साथी है। लेकिन किया क्या जाय, सारी प्रकृति ही ऐसी है। झकोरे फिर आते हैं; आते जाते हैं! नदी का शान्त प्रवाह है, चुपचाप बिना हिले-जुले बैठे रहो। पतवार पानी की धार को चीर रहा है। नाव बहती हुई आगे बढ़ती जाती है।'

लारी चली जा रही थी।

कालीचरन स्वप्न देख रहा था: 'उसका झोंपड़ा जल उठा है। घर के

लोग भाग रहे हैं ! उसे भी तो भागना है; पर जब तक वह उठता है, इसी बीच उसका दरवाज़ा लपटों में मिल जाता है। और तब कालीचरन चिल्लाने लगता है—

"मुझे बचाओ—बचाओ मुझे !"

कालीचरन की इस आवाज़ पर लारी में बैठे लोग हँस पड़ते हैं। लारी खड़ी है। फिर कोई ऐसा आदमी उतर रहा है जो दिलीप के पास ही बैठा था। उसका असबाब उतारा जा रहा है। बड़ा आदमी है वह। ट्रंक है, बेडिंग है, सूटकेस है और अटैची-केस तो बिलकुल वैसा ही है, जैसा दिलीप का। कालीचरन उठकर उधर जाता और देखता है, सरकार का अटैचीकेस कहाँ है ? दिखलाई नहीं पड़ता।···अच्छा, यहाँ रख लिया था ! खूब हैं छोटे सरकार। कोई लेकर चम्पत हो जाता तो ? सोते हैं—सोने दूँ इनको। रात भर के जगे हैं। नींद खुलते ही मैं बता दूँगा कि अटैचीकेस मेरे पास है जिससे वे एकदम से घबरा न जायँ।

कालीचरन फिर अपनी जगह पर आ जाता है।

यात्रा-पथ के ये केन्द्र-स्थल—आते हैं, चले जाते हैं। आदमी जैसे इस जगत् में, मिलता है, बिछुड़ जाता है। लेकिन कारवाँ है कि चला जा रहा है—चला जा रहा है।···और भी दो-एक जगह लारी रुकी और आगे बढ़ी। अन्त में सुखदासपुर भी आ गया।

"छोटे सरकार, छोटे सरकार ?"

"चुप रहो। सोने दो।"

"सोने कैसे दूँ ! सुखदासपुर आ गया, जहाँ हमें उतरना है।"

दिलीप एकाएक उठा। आँखें मलते हुए जेब से रूमाल निकाला, मुँह पोंछा। लारी से उतरा। कालीचरन ने सब सामान लाद लिया। दोनों चल दिए। दिलीप सोचने लगा—'मौसमपुर इस गाँव से सिर्फ़ एक मील दूर है। रास्ते में नदी भर पड़ती है। और हम इस समय नदी की ओर जा रहे हैं। यह वही नदी है, जिसकी धार पर, नाव के बीच, लक्षणा के ठंढे छींटों ने उसके अन्दर एक आग सुलगा दी थी ! उस आग ने दीपक जलाये,

उसने मन को और प्राण को प्रकाश की वे किरणें दीं, जो मुसकराना जानती हैं। नदी में अब भी नाव चल रही थी। नाविक भी वही था। दिलीप को सब बातें याद हो आईं। ये स्मृतियाँ भी माँ की तरह प्यार करना जानती हैं। थके हुए मन को थपकियाँ दे-देकर सुलाना और लोरियाँ बनकर लुभाना कोई इनसे सीख ले।'

"——ठहरो कालीचरन, हमें यहाँ निबटना है। बेडिंग खोलो, गमछा निकालो; और लोटा भी।"

निबटकर दिलीप ने चाहा, क्यों न दाँत भी साफ़ कर लें। तब ध्यान आया कि टूथ-पेस्ट और ब्रश तो अटैची-केस में है। और जब वह अटैची-केस खोलने लगा, तो उसका हृदय हिल गया। नोटों के स्थान पर एक रेशमी साड़ी, दो ब्लाउज़, दो कंचुकी, लिपस्टिक, नेल-पालिश, हेयर-पिन्स, हेयर-आयल, सेंट की शीशी, सोपकेस और बच्चों के खिलौने——रबर, सिलोलाइड और प्लास्टिक के बने—हाथी, तोता, ऊँट, स्वतः सीढ़ी उतरनेवाला नट, चाबी से चलने वाली मोटर, यह कुत्ता और यह बन्दर! साथ में कोई ऐसा काग़ज़ नहीं, जिसमें कहीं कोई पता हो उन बाबू साहब का।

दोपहर बीत चुकी थी। पर कड़ाके की धूप अब भी थी। लेकिन दिलीप के सामने घोर अन्धकार था!

: २० :

सुरेश लाला गिरधारी के साथ गया था। बिस्तर और सूटकेस आदि वह जान-बूझकर साथ नहीं ले गया था। कह जो चुका था कि डिप्टी-साहब ने ज़बरदस्ती गाड़ी में बैठा लिया। सुरेश से यह बात भी अब छिपी न रही थी कि दादा के साथ इनका कोई समझौता होना दूर रहा, उलटे मामला बिगड़ गया है। सो भी साधारण ढंग से नहीं—सदा के लिए,

स्थायी रूप से। यहाँ तक कि दोनों-के-दोनों जीते-जी इस विषय में कभी आपस में बात भी न करेंगे। यह भी हो सकता है कि कभी एक-दूसरे से मिलें भी नहीं। यों वह लाला गिरधारी की रीति-नीति से गहरा मतभेद रखता था। वह उन्हें पहले से जानता था, जब दिलीप के पिता मुंसिफ़ साहब जीवित थे। साधारण शिष्टाचार के अतिरिक्त उसे उनसे बात करने का भी कम उत्साह रहता था। पर दिलीप के विवाह के सम्बन्ध में वह दादा की इस बात से सहमत न था कि दहेज में कुछ दिया ही न जाय। वह सोचता था कि दादा कहाँ तक न देंगे! अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान तो रखेंगे ही। पर उसे तै कर लेने में क्या बुराई थी? यह ग़लत चीज़ है कि रस्म के मामले में हम गोल-माल करें। सिर्फ़ इसलिए कि हमारे आपसी सम्बन्ध बड़े घनिष्ट और निकटतम हैं। यह तो आत्मीयता से अनुचित लाभ उठाना है।

दूसरी ओर सुरेश के मन में एक चोर भी था। वह यह जानता था कि अगर बटवारा न हुआ, तो ब्याह में मिलनेवाली सारी रक़म लाला गिरधारी साफ घोंट जायँगे! इसलिए यही उत्तम है कि अभी ब्याह पक्का ही न हो! वह दादा की इस योजना से सहमत था कि पहले बटवारा हो जाना चाहिए।

गाड़ी लाला गिरधारी के घर की थी। बल्कि मुंसिफ़ साहब इसी गाड़ी पर कचहरी जाया करते थे। घोड़ी नई थी और अभी तीन साल पहले तो आई ही थी। कोचवान भी पुराना था, गजाधर। और वह सुरेश को पहचानता था। इस गाड़ी पर सुरेश पहले भी अनेक बार बैठ चुका था। पर तभी, जब मुंसिफ़ साहब जीवित थे। क्या बात थी उनकी! ऐसा सम्भव न था कि अबतक, इस रास्ते भर में, दिलचस्पी की दो-चार बातें न होतीं, हँसी के क़हक़हे न लगते!

गिरधारी की स्थिति दूसरी थी। वे ज़्यादा बातचीत उसी से करते थे जिसको कम-से-कम उम्र में अपनी बराबरी का समझते थे। और सुरेश इस नाते उनसे काफ़ी छोटा होता था। दिलीप के पाँच मामा थे और

दो मौसी थीं। सुरेश उनमें भी सबसे छोटा था। यों लाला गिरधारी रूखे आदमी न थे। पर इस समय वे आत्म-ग्लानि से जल रहे थे। रह-रहकर वे यही सोचने लगते कि दादा को इस मामले में नीचा देखना पड़े, तब तो अपनी शान है, वरना अब शान काहे की! जीवन के साधारण व्यवहारों में वे काफ़ी कृपण थे; किन्तु बात बिगड़ने पर या स्वार्थ-साधन में दाँव-बाज़ी के समय पैसा लुटाने में उन्हें मज़ा आता था। जुही से अनवरगंज ऐसा कुछ अधिक दूर नहीं है। गाड़ी चली और पन्द्रह-बीस मिनट में अनवरगंज आ गया। रास्ते में गिरधारी ने केवल इतना पूछा कि "आये हो, तो दो-चार दिन रहोगे न सुरेश?"

सुरेश बोला—"नहीं जीजाजी, डिप्टी साहब कल यहाँ से, मेरा खयाल है, सबेरे ही चल देंगे। इसलिए इस बार ज़्यादा ठहरना कैसे हो सकता है! फिर मैं अपने साथ कोई सामान भी नहीं लाया।"

"सामान की तो कोई ऐसी खास ज़रूरत भी नहीं है। तुम्हारा घर ठहरा। हाँ, जाने की सुविधा ज़रूर है। लेकिन ऐसी कोई क़ैद तो रही न होगी कि साथ लौटना भी पड़ेगा।"

इस कथन में गिरधारी लाला प्रकारान्तर से यह प्रकट कर रहे थे कि अगर वह दो-चार दिन ठहर जाय, तो दादा को फँसाने का कोई उपाय निकल सकता है। उन्होंने जेब से पनडब्बा निकाला और उसमें से दो पान निकालकर सुरेश के आगे कर दिए। साथ में टार्च था। उसके स्विच को भी औन कर दिया, क्योंकि गाड़ी में थोड़ा अँधेरा तो था ही। और अंधेरे में दो के बदले तीन पान भी आ सकते थे!

उधर सुरेश सोच रहा था कि जब बहन को ले ही जाना है, तो दो-एक दिन रहना तो पड़ेगा ही। इसलिए पान लेते क्षण उसने कह दिया—"हाँ, क़ैद तो ऐसी कोई थी नहीं।"

"तब ठीक है। रहो दो-चार दिन प्रेम से और शहर की चहल-पहल का आनन्द लो।" इस बार गिरधारी के कथन में पहले की अपेक्षा उत्साह कुछ अधिक प्रकट हो रहा था।

इतने में अपना मुहल्ला आ गया और एक मिनट में गाड़ी मकान के दरवाज़े पर जा खड़ी हुई।

घटनाएँ, जिनमें एक जादू की पुड़िया घुली रहती है, फैलती बड़े वेग से हैं। तिकुनवाँ स्टेशन-मास्टर के लड़के के क़त्ल के साथ-साथ दिलीप के बाल-बाल बच जाने का समाचार भी अब तक शहर में पूरी तरह फैल चुका था। उसमें इस बात का भी स्पष्ट संकेत था कि दिलीप के पास एक ख़ासी अच्छी रक़म थी और उसी के लोभ के कारण यह क़त्ल हुआ था!

यों साधारण रूप से शारदा कोई दैनिक पत्र नियमित रूप से न पढ़ती थी, लेकिन जब कोई सनसनीदार घटना हो जाती और उसकी सखियाँ उसकी चर्चा करतीं, तो उसी क्षण वह समाचार-पत्र उसके सामने होता और ध्यान लगाकर वह अक्षरशः उसे पढ़ भी डालती। उस दिन अपने कालेज में ही उसने यह समाचार पूरा पढ़ लिया था और उस पत्र की एक प्रति भी वह अपने साथ ले आई थी।

घर के अन्दर पहुँचते-पहुँचते उसने किताबें बाद में अपने कमरे के अन्दर टेबिल पर रखीं, पहले इस घटना का सारा विवरण अपनी माँ, दोनों चाचियों तथा बहनों को सुना दिया। यद्यपि पहले उसने मौखिक रूप से इतना ही कहा—"बड़ा ग़ज़ब हो गया होता। हाय राम, मेरी तो साँस फूलने लगी!" —"तिकुनवाँ स्टेशन पर डाकुओं ने दिलीप भैया के धोखे स्टेशन-मास्टर के लड़के रामजस को जान से मार डाला! भाई साहब को भगवान् ने बाल-बाल बचा लिया!"

इस घटना ने उस घर के अन्दर हलचल मचा दी। दिलीप की माँ सुनकर रोने लगी। बड़ी चाची भी उनके पास आ बैठीं। सारा जीवन उनका पूजा-पाठ में बीता था। आकाश की ओर मुँह करके दोनों हाथ जोड़ती हुई वे बोलीं—"प्रभु, तुम्हीं हमारे रक्षक हो। घड़ी-घड़ी, पल-पल, हमारे प्राणों की गति में एक तुम्हारी ही इच्छा-शक्ति बोला करती है। भैया दिलीप के प्राण बचाकर तुमने अपनी जिस विलक्षण लीला का परिचय दिया है, उसके लिए शत-शत कंठों से हम सब जीवन-भर तुम्हारी परम

अनुकम्पा के गीत गाते रहेंगे ! इसी तरह रक्षा करो परम पिता, ये सब बच्चे तुम्हारे ही चेतन खिलौने हैं !" एक-एक शब्द उनका अन्तस् से फूट रहा था। शब्द-शब्द का स्वर उनका प्राणों से स्पन्दित हो रहा था। वाणी काँप रही थी, नयन गीले पड़ रहे थे और गद्-गद कंठ स्वर मन्द-मन्दतम होकर अन्तरिक्ष में लीन होता जाता था।

शारदा की माँ भी पास आ बैठी थीं। एक नि:श्वास लेकर बोलीं—"हाय राम ! तुमने हमारी बड़ी लाज रखी। नहीं तो हम कहीं की न रहतीं। इतने प्राणियों के बीच भैया के सिवा और है कौन, जिसका हम सब मुंह देखती हैं !

दिलीप की माँ को रह-रहकर मुंसिफ़ साहब की याद आ रही थी। 'वे अगर जीवित होते, तो दिलीप क्यों इस तरह मारा-मारा फिरता !' पर सबसे बड़ी मुसीबत यह थी कि वे इस तरह की कोई बात मुंह खोलकर कह नहीं सकती थीं। उनकी सारी मर्म-व्यथा उनके आँसू कह दिया करते थे। पर उन आँसुओं का स्वर भी एकान्तवासी योगी की भाँति सदा छिपा रहता था।

एक मैले हो रहे तौलिये से हाथ पोंछती हुई सोनी बोली—"हाय कब तक आयेंगे भैया ! अब जबतक उन्हें देख न लूंगी, दिल को तसल्ली न होगी, आँखें उन्हें जहाँ-तहाँ यहाँ-वहाँ खोजती ही रहेंगी।"

ऊपर के एक कमरे में कबूतर ने अड्डा जमा लिया था। इसी समय बोल उठा—गुटर गूँ।

शारदा और विमला नाश्ता कर रही थीं। विमला समोसे का जो ग्रास मुंह में भरे हुए थी, उसे कंठस्थ करती हुई बोली—"उनका क्या ठीक ? कहो दो दिन में आयें, कहो दस दिन का गोता लगा जायँ !"

"लेकिन जब हम लोग उनको अपने बीच देखने को व्याकुल हैं, तब तो उन्हें आना ही चाहिए।" शारदा चाय का दूसरा कप ढालती हुई बोलीं।

महराजिन ने कढ़ाई में मूली का साग छौंक दिया था। झट उसे

ढककर वे भी आ पहुँचीं। बोलीं—"सत्यनारायण की कथा कहा डालो बहन, भैया ने नया जनम पाया है।"

तब धीमे स्वर में दिलीप की माँ के मुंह से निकल गया—"कथा की तो मैं भी सोच रही थी। भैया आ जाय, तो प्रबन्ध किया जाय।" और बड़ी चाची की ओर देखकर बोलीं—"क्यों जीजी ?"

बड़ी चाची ने अपनी जाकेट की जेब से पाँच का एक नोट निकाला और सोनी को देती हुई वे बोलीं—"बाज़ार से अच्छे ताज़े लड्डू तो ले आ सोनी। आज मंगल का दिन है। कथा जब होगी, तब होगी, पर हनुमान जी का प्रसाद तो आज ही बट जाना चाहिए।"

सोनी थोड़ी देर में लड्ड ले आई। बड़ी चाची ने अपने पूजा के कमरे में महावीरजी की तसवीर के सामने घुटने टेककर पहले संकटमोचन के कुछ छन्द पड़े। फिर उनका भोग लगाया। तदनन्तर वह थाल उसने सोनी को देते हुए कहा—"बाँट तो दे, दो-दो लड्डू सबको, भैया की मंगलकामना के साथ। उसके बाद मैं बताऊँगी कि मुहल्ले में कहाँ-कहाँ बाँटना है।"

जिस समय दो लड्डू दिलीप की माँ ने पाये,उस समय वे फिर रो पड़ीं। बोलीं—"मेरी कोख से पैदा ज़रूर हुआ है दिलीप, लेकिन पुत्र वह तुम्हारा ही है जीजी !"

बड़ी चाची दिलीप के विचारों और उसके सेवा-कार्यों से परिचित थीं। अतः उनके मुंह से निकल गया—"वह मेरी-जैसी हज़ारों दुखिया नारियों का पुत्र है मझिली ! भगवान् करे, कभी उसका बाल भी बाँका न हो।"

: २१ :

राज-नीति हो चाहे समाज-नीति, अर्थ-नीति हो चाहे वाणिज्य-नीति, आचार-नीति हो चाहे धर्म-नीति, संसार में रास्ता चलते बात और बहस करनेवालों की कमी नहीं है। कमी है केवल लगकर कुछ कर दिखलानेवालों की। वे घड़ियाँ कितनी पवित्र थीं, वे क्षण कितने सौभाग्यशाली थे, जब

दिलीप ने प्रतिभा देवी से मौसमपुर के हॉस्पिटल में बाढ़-पीड़ितों के रक्षणार्थ जाने का निवेदन किया था ! लेखक या इतिहासकार तो केवल उनका स्मरण ही दिला सकता है।

उस हॉस्पिटल में नगर के कई गण्य-मान्य लोग उपस्थित थे। नगर कांग्रेस-कमेटी के मंत्री महोदय थे। हिन्दू महासभा के सभापति और मंत्री दोनों उपस्थित थे। संघ के मंत्री, संयुक्त प्रधानमंत्री, उपमंत्री, सहकारी मंत्री उपस्थित थे। सोशलिस्ट पार्टी और किसान मज़दूर-प्रजा-पार्टी के सभापति से लेकर साधारण सदस्य तक वहाँ उपस्थित थे। फिर भी बाढ़-पीड़ित लोगों में फैले विनाश की गति में कोई विशेष सुधार हो नहीं रहा था। किन्तु प्रतिभा देवी ने वहाँ पहुँचते ही काया पलट दी।

पहले तो नगर के जन-सम्पर्क के ख्यातनामा व्यक्तियों ने मिलकर प्रतिभा देवी का स्वागत किया। रक्षा-दल के मंत्री, जो मूलतः नगर-कांग्रेस-कमेटी के मंत्री थे, श्रीमान विनयकुमार ने अपने ढीले चश्मे के ब्रिज को नाक पर स्थिर करते हुए कहा—"जब सेवा, सहायता और सहयोग का दान संकट के समय बिना विशेष अनुनय-विनय के मिलता है, तभी देश और उसकी सभ्यता के उच्च स्वरूप का यथार्थ परिचय भी हमें मिलता है। ऐसे अवसरों पर जो व्यक्तित्व आगे आते हैं वे ही जनता के सच्चे प्रतिनिधि होते हैं। आज ऐसे प्रतिनिधि को हम अपने बीच पाकर अपने-आपको धन्य मानते हैं !" सुनकर उपस्थित लोग करतल-ध्वनि करने लगे।

फिर कभी हिन्दू महासभा, कभी संघ के अनेक बार रह चुके मंत्री से लेकर सभापति तक—और बाढ़ रक्षा-दल के इस कालीन मुख्य व्यवस्थापक श्रीमान् एक हजार आठ गोपालस्वरूप चतुर्वेदी मुंह में एक साथ कई पान भरे रहने के कारण अतिशय गीले स्वर में, मुंह कुछ ऊपर उठाकर, गल-गल करते हुए कहने लगे—"यह बहुत अच्छा हुआ कि दीदी आ गईं। सेवा के कार्यों में जब श्रम अधिक पड़ता है, तब अपने राम को भूख-रोग हो जाता है। और खाना जब ठीक ढंग का नहीं मिलता, तब बन्दे का पेट नहीं भरता। दो-चार दिन जो इस रक्षा-दल में मेरे और गल जाते, तो मृत्यु-संख्या में एक

की वृद्धि बिलकुल निश्चित हो जाती। सो हमें सबसे बड़ी प्रसन्नता तो इसी बात की है कि चलो,यह चिन्ता तो दूर हुई!" सुनकर लोग एक साथ हँस पड़े।

अब व्यवस्था में बड़ा सुभीता हो गया। स्त्रियों और बच्चों के स्वास्थ्य-रक्षण का भार प्रतिभा देवी को सौंप दिया गया। शेष लोगों की चिकित्सा का कार्य-भार हॉस्पिटल के तत्कालीन इंचार्ज डा० विनीतभूषण मुखर्जी के अधीन कर दिया गया। रह गया दिलीपकुमार। सो वह तो मुख्य सूत्रधार के रूप में सर्वत्र अपेक्षित मान लिया गया।

लेकिन घुमा-फिराकर बार-बार एक ही प्रश्न सबके मुख पर आ जाता—'दिलीप जी नहीं आये!' रात तो किसी प्रकार बीत गई, यद्यपि रात को भी प्रतिभा ने क़रीब-क़रीब सभी अधिकारियों से कह दिया था कि रुपये का कुछ प्रबन्ध हो गया है। कई व्यक्तियों से यथेष्ट सहायता मिल गई है। इसीलिए कदाचित् आज उन्हें रुक जाना पड़ा है। पर कल तो वह आ ही जायगा।

आदमी चले, चाहे न चले; पर समय तो चलता ही रहता है। इसलिए वह कल भी आ गया। चाय-पान के समय फिर कई लोगों ने दिलीप का स्मरण किया। ललित जी ने सिगरेट सुलगाते हुए कहा—"सवेरे की गाड़ी से आने का भी समय हो गया। मगर आये नहीं दिलीप जी! वैसे, अवसर पर अटक जानेवाले प्राणी तो वे हैं नहीं।"

किशोरी बाबू ने चाय का प्याला समाप्त करते हुए कहा—"आज अगर वे रुपया लेकर नहीं आते, तो सायंकाल हमारे बहुतेरे काम रुक जायँगे।"

"कोई काम नहीं रुकेगा जी! दीदी जो आ गई हैं।"

"पर दीदी क्या अपने साथ रुपया भी ले आई हैं?"

"वे अन्नपूर्णा हैं; उनके भंडार में अभाव तो कभी रह ही नहीं सकता।

इतने में एक सेवक किशोरी बाबू के पास आ पहुँचा। बोला—"दीदी ने आपको याद किया है।"

वे उठकर दीदी के पास चल दिए।

"चाय समाप्त हो गई क्या ?"

"नहीं तो।"

"तो एक कप और बनाओ प्यारे ! सेवक जाति के आदमी को खाने-पीने में कभी चूकना नहीं चाहिए। चोखेलाल, यार मक्खन की एक टिकिया और झटक लाओ; क्योंकि इन टोस्टों को भी खतम करना है।" और वह पेट पर हाथ फेरने लगा।

इसी क्षण एक ओर से रोने की आवाज़ आ गई। फिर उस स्वर के साथ और भी दो स्वर जा मिले।

किसी ने पूछा—"कोई मर गया क्या ?"

कमरे के द्वार में जो आदमी खड़ा था, बोल उठा—"वह बुढ़िया, जो इधर दो दिन से बेहोश पड़ी थी, चल बसी। उसी का लड़का-बहू एक रस्म अदायगी के तौर पर....!"

"ऐसा मत कहो। माँ के प्यार की संसार में तुलना नहीं होती। वह जब सदा के लिए विदा ले लेती है, तब उसके बेटे-बहू को दुःख होता ही है।"

"मगर वह तो सत्तर पार कर चुकी थी।"

वे बोले—"तो क्या हुआ ?"

किशोरी बाबू पुनः आ जमे और कुरसी का मान बढ़ाते हुए सेवक से कहने लगे—"एक कप ज़रा स्ट्रांग बना के ले आना।" सेवक चला गया, तो टेबिल पर कोहनी टेककर दायें हाथ पर ठुड्ढी रखते हुए बोले—"वाह ! क्या व्यक्तित्व है दीदी का। कहने लगीं—दवाइयाँ और इंजेक्शंस तो मैं अपने साथ ले आई हूँ; क्योंकि दिलीप को कई चेक्स कैश कराने थे। इसलिए वह रात की गाड़ी से आनेवाला था। पर जान पड़ता है, वह फँस गया कहीं।"

इस पर ललित जी ने कह दिया—

"या ऐसा भी तो हो सकता है कि तबियत ज्यादा खराब हो गई हो। क्योंकि जब वे यहाँ से गये थे, तब भी उन्हें टेम्परेचर था।"

दीदी के मुख पर मुस्कराहट झलक उठी। बोलीं—"मामूली टेम्परेचर की वह परवाह नहीं करता। और मामूली कारण उसको आने से रोक भी

नहीं सकते । जो भी हो, आपका कोई काम नहीं रुकेगा ।" इतना आश्वासन कम है ?

इतने में एक आदमी ने आकर बतलाया—"तिकुनवाँ-स्टेशन पर क़त्ल हो गया है, जिसमें खुद स्टेशन-मास्टर का लड़का मारा गया है। गाँव में एक आदमी ने अभी आकर बतलाया है ।"

"यह स्टेशन इसी लाइन पर है और रास्ते में पड़ता है ।"

"मगर दिलीपजी वहाँ क्यों उतरने लगे !"

"कोई कुछ नहीं कह सकता । जिस कार्य, व्यवहार या विपत्ति के सम्बन्ध में हम पहले से कुछ नहीं जानते और जिसकी कल्पना तक हम नहीं कर पाते, वह जब अपने-आप हो जाती है तब हम उसको घटना कहते हैं । और अब हमें कुछ ऐसा सन्देह हो रहा है कि हो-न-हो, दिलीप जी किसी घटना के चक्कर में जा पड़े हैं ।"

इस प्रकार आज दिन-भर बाढ़-रक्षा-दल में दिलीप की ही चर्चा होती रही । सार्वजनिक सम्पर्क की ज़िम्मेदारियों के जो कार्य समय पर नहीं हो पाते, उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों की पहले चर्चा होती है; फिर उनमें ज्यों-ज्यों देर होती जाती हैं, त्यों-त्यों सम्बन्धित आशंकाएँ बढ़ती और विकृत होती जाती हैं ।

दिलीप के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ । तीसरे दिन तिकुनवाँ-स्टेशन पर होने वाले हत्याकाण्ड का विवरण समाचार-पत्रों में भी आ गया । उसमें दिलीपकुमार के बाल-बाल बच जाने की स्पष्ट चर्चा थी । बाढ़-पीड़ित-रक्षा-दल में इसकी बड़ी चर्चा रही । सर्वत्र उनकी जीवन-रक्षा पर हर्ष मनाया गया । पर दीदी उस हर्ष के वातावरण में भी चिन्तित दीख पड़ीं । उन्होंने कह भी दिया—"दिलीप बच गया, उसे भगवान् ने बचा लिया । इससे बढ़कर हर्ष की और क्या बात हो सकती है ! पर मुख्य विषय तो इस समय हमारे सामने यह है कि बच जाने पर भी वह अभी तक यहाँ आया क्यों नहीं !"

तब नाना प्रकार की शंकाएं और कल्पनाएं होने लगीं । किसी ने कहा—

"एक तो नवयुवक, दूसरे अविवाहित और तीसरे रक़म हाथ में। अब चिन्ता किस बात की, यह हमारी समझ में नहीं आता!"

तत्काल इसका उत्तर उसे मिल गया—"हाँ भाई, कह लो। अवसर है कहने का। लेकिन जिसे उस तपे स्वर्ण का परिचय प्राप्त है, वह स्वप्न में भी ऐसी कल्पना उनके विषय में कर नहीं सकता।"

कल्पनाएँ सदा मुखर, वाचाल और चंचल होती ही हैं। विशेष रूप से तब, जब घटनाएँ उनकी विमाता बन जाती हैं!

: २२ :

सुरेश अपनी बहन को ले जाने के विचार से आया था, पर उसने यह बात गिरधारी से इसीलिए जान-बूझकर प्रकट नहीं की कि अकस्मात् दादा के यहाँ का वातावरण आवश्यकता से कहीं अधिक गम्भीर हो गया था। फिर लाला गिरधारी और वह, दोनों जब उस घर के अन्दर पहुँचे, तो यह सुनकर हैरान रह गए कि दिलीप का जीवन इतने संकट में पड़ गया था! भगवान् ने उसे बचा लिया, यही उसकी ममतामयी लीला है। लेकिन ऐसे समय उसे यहाँ लौट आना चाहिए था। आखिर उसको भी तो सोचना चाहिए कि हम लोग उसको अपने निकट देखने के लिए कितने विकल, व्यग्र और आतुर होंगे!

लाला गिरधारी ने जब शारदा से यह संवाद सुना, तो वे अवाक् रह गए। दोनों ही बातें उनके लिए आश्चर्यजनक थीं। पहली तो यह कि उसे बाढ़-पीड़ितों के लिए पाँच हज़ार से भी अधिक बड़ी रक़म कुछ ही घंटों के अन्दर मिल गई! अर्थात् इस नगर की धनी-मानी जनता के हृदयों में वह इस सीमा तक अपना स्थान बना चुका है। दूसरी यह कि उसकी पीठ पर भगवान् की रक्षा का हाथ है। शेरवानी उतारते हुए उन्होंने शारदा से पूछा—"यह तुझे कैसे मालूम हुआ कि दिलीप के पास पाँच हज़ार से ऊपर रक़म थी?"

अंगूर के दाने टूँगती हुई शारदा बोली—"राष्ट्रवाणी में छपा है। पढ़ लीजिए न ?"

और इसके बाद वह पत्र उसने अन्दर से लाकर लालाजी को दे दिया।

लाला गिरधारी ने अलमारी में रखा चश्मा निकाला और साठ कैंडिल पावर वाला बल्व जलाकर दैनिक 'राष्ट्रवाणी' में प्रकाशित इस घटना को अक्षरश: पढ़ लिया। शारदा तो अन्दर चली गई; पर गिरधारी विचारलीन हो गए।

कालीचरन जब से दिलीप के साथ चला गया है, तब से सोनी का काम और अधिक बढ़ गया है। लालाजी को आए अभी अधिक देर नहीं हो पाई थी कि खमीरे का हुक्का उसने झट तैयार किया और वह स्वयं उसे बैठक में रखने चली आई। पर लौटने से पूर्व उसने इतना और कह दिया—"मामाजी आपको खाने के लिए बुला रहे हैं।"

लाला गिरधारी उत्तर में कुछ नहीं बोले और उन्होंने हुक़्क़े की तरफ़ भी ध्यान नहीं दिया। सोनी उत्तर की प्रतीक्षा में खड़ी रही। आज तक ऐसा कभी नहीं हुआ था कि ताज़ा हुक्का पास आ जाने पर उन्होंने निगाली की ओर झट हाथ न बढ़ा दिया हो और ऐसा भी कभी अवसर नहीं आया कि बात का उत्तर देने में उन्होंने कभी देर की हो। परन्तु अधिक देर खड़ा रहना स्वत: सोनी को जब अच्छा नहीं लगा, तो उसने पुन: पूछा—"तो थाली लगाऊँ चाचाजी ?" इतने में सरला एक तश्तरी में प्रसाद के लड्डू ले आई और बोली—"भाई साहब पर आया हुआ संकट टल जाने की खुशी में बड़ी चाची ने यह प्रसाद बाँटा है।"

लालाजी ने सिर कुछ नीचा किये हुए गम्भीर भाव से कह दिया—"मुझे आज भूख नहीं है सोनी। और देख, एक गिलास पानी दे जा !"

सोनी चली गई तो लालाजी ने लड्डू का एक टुकड़ा मुंह में डालते हुए सरला से पूछा—"भैया पर आये संकट टल जाने की ख़ुशी में तूने कुछ क्यों नहीं बाँटा सरले ?"

इस वाणी में आज कुछ बात ही और थी। दिलीप के प्रति इन बच्चों

के कैसे मनोभाव होने चाहिएँ, लालाजी ने इस बात की ओर कभी ध्यान नहीं दिया था।

सिर नीचा किये हुए सकुचाती-सी सरला बोली—"हूँ। यह काम तो आपका है। आप उस समय घर में मौजूद न थे, इसलिए जो सबसे बड़ी चाची हैं, उन्होंने झट पाँच रुपये निकालकर हनुमानजी का प्रसाद बाँटा। आज मंगल का दिन है। सो भैया को मंगल-कामना के लिए प्रसाद बाँटना ज़रूरी भी था।"

"और मझिली चाची क्या बोलीं?"

"वे यह समाचार सुनते ही रो पड़ीं। कहने लगीं—'अगर वे बने होते, तो दिलीप इस तरह क्यों मारा-मारा फिरता'! बड़ी चाची उन्हें समझाती रहीं। सरला तब तक पिता के बहुत निकट, उनके बिलकुल पीछे, आ चुकी थी और उसका दाहिना हाथ उनके सोफ़े की पीट पर था।

सोनी पानी का गिलास रखने आ पहुँची। पीछे से सुरेश भी आ गया। वह कपड़े उतार चुका था। बनियान और धोती-मात्र उसके बदन पर थी। आते ही बोला—"दिलीप कैसे संकट में पड़ गया था और किस तरह भगवान् ने उसकी रक्षा की, आपने सुना?"

गिरधारी लाला ने मुख से जवाब न देकर आँखों से दिया। एक बार वे सुरेश की ओर एकटक देखकर रह गए। फिर यकायक, यों ही सहज भाव से, कहने लगे—"खाना खाने जा रहे थे?"

"हाँ, जा तो रहा था। पर आप क्यों नहीं चल रहे?"

"आज मुझे भूख नहीं है सुरेश!" वे अब लड्डू खा चुके थे और गिलास से पानी पी रहे थे। रूमाल निकालकर मुँह पोंछते हुए बोले—"पर तुम क्यों रुक गए? जाओ, खाना खाओ। मैंने वहाँ दादा के यहाँ चाय-वाय पी ली। यहाँ यह प्रसाद पा लिया। बस, काम चल गया। अब मुझे कुछ खाने की जरूरत नहीं। यों भी आज भूख नहीं है।" और इसके बाद वे पुनः एक आह भरकर रह गए।

"भूख तो मझे भी नहीं लगी जीजा! जब से दिलीप का समाचार

सुना है, चित्त ठिकाने नहीं है। इस समय तो मौसमपुर कोई गाड़ी जाती नहीं। और सड़कवाले मार्ग से अब कोई लारी मिलने से रही। लेकिन सबेरे वाली गाड़ी से मैं जाना चाहता हूँ। बहन बहुत रो रही हैं। कहती हैं—'न जाने मेरे लाल पर क्या बीती हो! जहाँ मिले, अपने संग ले आओ। जब तक उसे देख न लूँगी,मुझे चैन न पड़ेगी।' उनका बिलख-बिलखकर रोना मुझसे सहा नहीं जाता। जब कोई रोता है, तब मैं भी अपने अन्दर रोने लगता हूँ।"

सुरेश की सारी बातें गिरधारी लाला ने ध्यान से सुनीं। घुमा-फिरा-कर, कोई बार-बार उनके मन में यही कह उठता—'मनुष्य सोचता चाहे जो रहे, पर वह कुछ कर नहीं सकता। कर्त्ता तो वही एक भगवान् है। दिलीप की हत्या में क्या कसर रह गई थी!'

लालाजी बोले कुछ नहीं। हाँ, एक दबता हुआ निःश्वास-सा उनके सीने के चढ़ाव-उतार से प्रकट हो गया। सुरेश तब भी खड़ा था। तब विचार-लीन लालाजी बोले—"अब तुम खाना खाओ जाकर। मेरी बात छोड़ो। मैंने कह दिया न, मुझे भूख नहीं है।"

सुरेश अन्दर जाने लगा तो लालाजी ने इतना और कह दिया—"सोनी से कहना, मेरा बिस्तर लगा दे। मैं अब लेटूँगा ज़रा। हुक़्क़ा यहाँ बेकार रखा है। उसे भी उठा ले जाय। ये लोग इतना भी नहीं समझ पाते कि आदमी का मन भी कोई चीज़ होती है।"

लालाजी पर संसार की माया कभी व्याप्त नहीं होती थी। किसी के मर जाने पर वे कभी रोते न थे। उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध था कि उनकी आँखों से आँसू तो कभी निकलते ही नहीं।

आज उन्हीं लालाजी को इतना अनमना देखकर सुरेश को आश्चर्य हो रहा था।

मिनट भर में ही सोनी आ गई। बोली—"चाचाजी, दिलीप भैया को जब भगवान् ने बचा लिया, तब वे जहाँ कहीं भी होंगे, छेम-कुसल से होंगे। फिर आप इतनी चिन्ता काहे को कर रहे हैं? खाना दूर रहा, हुक़्क़ा भी आपने नहीं मुँह से लगाया। जब आप ही इस तरह दुखी होंगे, तो घर के और

लोगों को कैसे धीरज होगा !"

"तू अपना काम देख सोनी। मेरे पीछे न पड़ !"

सोनी इसके आगे न बढ़ सकी। क्षण-भर मौन रही, फिर बोली—"मैं बिस्तर लगा आई हूँ। आप चलें, तो मैं बैठक बन्द कर दूँ।"

भीतर से निकलकर लालाजी घर की ओरवाले दरवाज़े के बाहर आ खड़े हुए। सोनी ने दरवाज़े बन्द किये, सिटकिनी लगाई। बैठक के मुख्य दरवाज़े के ऊपर वाले ताक़ से ताला उठाया, भीतर के क़ब्जे में बन्द किया। ताली लालाजी को देने लगी तो एक नेवला उसके पीछे से होता हुआ बाहर लालाजी के पास से निकल गया। फिर घर की ओरवाले दरवाज़े से निकलते क्षण उसने हुक़्क़ा उठाया, बाहर लालाजी के पास रक्खा और उस दरवाज़े को भी पूर्ववत् बन्द किया। उसकी ताली जब वह लालाजी को देने लगी, तो दो नेवले उसके आगे से भाग गए। हुक़्क़ा उठाकर आगे-आगे वह चली, पीछे-पीछे लालाजी। अन्दर जाकर जब लालाजी ऊपर ले जानेवाली सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे, तब शारदा कह रही थी—"जान पड़ता है, आज बाबू की तबियत कुछ गड़बड़ है।"

"कुछ नहीं, काफ़ी गड़बड़ है। सोनी कह रही है—हुक्का उन्होंने छुआ भी नहीं।" ये शब्द सरला के थे।

लालाजी पलँग पर लेट गए। बिजली की बत्ती भी उन्होंने बुझा दी। दरवाज़े खुले थे। हवा काफ़ी आ रही थी। तब वे उठे और स्विच उठाकर उन्होंने पंखा भी बन्द कर दिया। सीढ़ियों पर कोई चढ़ रहा था। वह, जिसे सीढ़ी चढ़ना एक आफ़त थी; क्योंकि ज्यों ही वह ऊपरवाली सीढ़ी पर चढ़ता, उसका दम फूलने लगता। और आते-आते तो यह हालत हो जाती कि पसीना छूट पड़ता और बात कहना दुष्कर हो जाता।

वे और कोई नहीं, शारदा की माँ थीं। पलँग के पास छोटी वाली आराम-कुर्सी पड़ी थी। वे उसी पर विराज गईं। क्षण-भर चुप रहीं। जब साँसों की धौंकनी कुछ मन्द पड़ी तो उन्होंने लालाजी के बदन पर हाथ रखा। बोलीं—"तबियत तो भारी नहीं जान पड़ती।" फिर मत्थे पर हथेली रख

दी । अबकी बार वे कहने लगीं—"सिर में दर्द हो सकता है। तेल मल दूँ जरा ?"

"नहीं। ज़रूरत नहीं है।" करवटें बदलते हुए लालाजी बोले—"तुमने बेकार तकलीफ़ की। मुझे कुछ नहीं होने का। खाना खाया कि नहीं तुमने ?"

"कैसे खाऊँ ? कोई नहीं खा रहा है। बड़ी जीजी यों भी एक बार खाती हैं, सो दोपहर को खा चुकीं। लड़कियों को किसी तरह पोट-फुसलाकर खिला पाया है। छोटीजीजी का यह हाल है कि दस मिनट चुप रहती हैं, तो घंटा भर रोती हैं। सुरेश भाई को खाना लगवाकर आ रही हूँ।"

लालाजी ने फिर करवट बदल ली। बोले कुछ नहीं। शारदा की माँ तब नीचे उतर आईं।

रात भर गिरधारी लाला सो नहीं सके थे। जब पाँच बजने की आवाज़ पड़ोस की दीवाल-घड़ी से आ गई, तब एक झपकी-मात्र उन्हें लग गई थी। सबेरे जब चिड़ियों ने चहकना प्रारम्भ किया, खुले आकाश में तोतों के झुण्ड-के-झुण्ड सहस्रों की संख्या में इधर-से-उधर, पूर्व से पश्चिम, उड़े जा रहे थे, और ऊपरवाले कमरे की मुँडेर पर बैठकर कबूतर गुटर-गूँ कर रहा था, तब एकाएक उनकी आँख खुल गई। उस समय शारदा की माँ उसी कुरसी पर पूर्ववत् बैठी थीं। एक चादर उन्होंने उनके पैरों से लेकर सीने के ऊपर, बल्कि कण्ठ तक, डाल रखी थी और दाहिने हाथ की नाड़ी पर अपनी मांसल अँगुलियाँ रखती हुई वे कह रही थीं—"आखिर को ज्वर तुम्हें आ ही गया!"

गिरधारी लाला कुछ नहीं बोले। केवल करवट बदल ली।

शारदा की माँ उठ खड़ी हुईं। बोली—"सोनी आ जाय, तो वैद्यजी को बुलाऊँ।"

लालाजी ने इस विषय में तो प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं कहा, केवल इतना पूछा—"सुरेश चला गया ?"

शारदा की माँ ने उत्तर दिया—"वे चार बजने से पहले ही चले

गए थे ।"

सुरेश बहिन के यहाँ जिस अभिप्राय से गया था, वह बिलकुल पीछे छूट गया था। उसी दिन——दिन न कहकर रात कहना अधिक सही होगा——उसको मौसमपुर ज़ाने का निश्चय करना पड़ा। इस निश्चय के अनुसार वह वहाँ गया भी। पर उसे क्या पता था कि दिलीप उसको वहाँ भी नहीं मिलेगा! उसे क्या पता था कि जब लोग सुनेंगे कि दिलीप घर पर भी नहीं पहुँचा, तो कैसे-कैसे विचार उनके मन में उठ खड़े होंगे! उसके ऊपर जो ज़िम्मेदारी थी, जब उसमें स्पष्ट गोल-माल हो गया है, तब अविश्वास, धोखा, प्रपंच और ग़बन के सिवा दिलीप के नाम पर उसे और क्या सुनने को मिलता!

एक व्यक्ति ने कहा था——"क्यों जी, रईसों के लड़के ऐसे ही धूर्त होते हैं क्या? छिः छिः!"

उसके बाल सफ़ेद हो गए थे। उसका पेट बढ़ गया था। वह भंडार से सामान तौलने के काम पर नियुक्त था। दिलीप ने एक दिन उसे चीनी चुराते हुए देख लिया था। व्यवस्था-समिति के समक्ष जब उसका मामला पेश हुआ, तब दिलीप के तर्कों पर निरुत्तर होकर अन्त में अन्य कोई उपाय न देख उसने माफ़ी माँग ली थी। . . . उसके इस इतिहास का परिचय पाये बिना सुरेश भला क्या समझता?

एक महाशय बदली के समय भी डार्क चश्मा लगाये हास्पिटल के पास बैठे सिगरेट फूँक रहे थे। फिर उठकर उस रजिस्टर की खानापूरी करने लगे, जिसमें नीरोग हो जानेवाले व्यक्तियों के नाम लिखे जाते थे। उनको जब ज्ञात हुआ कि सुरेश दिलीप के मामा हैं और उसका पता लगाने आये हैं, तो वे कहने लगे——"वाह! कितनी तारीफ़ का काम किया है दिलीप जी ने, जिसका नाम! क्यों साहब, मैं आप ही से पूछता हूँ, जिन बाढ़-पीड़ित दीन-दुखिया लोगों के नाम पर उन्हें थैलियाँ भेंट की गईं, वे अगर मर ही गए हों——और ज़ाहिर है कि ज़रूर मरे हैं——उनकी आत्मा उनको आज कितना कोसती होगी! इस भरोसे न रहियेगा जनाब कि पाप का फल पाये बिना आदमी बच जाता है। मैंने तो लोगों को महीनों चारपाई पर पड़े-पड़े

कराहते, रोते और चीखते देखा है ! मैंने देखा है कि मृत्यु होने से पहले ही शरीर के घावों में कीड़े पड़ गए हैं और उन पर चीटियाँ दौड़ गई हैं !"

सुरेश से जब आगे नहीं सुना गया, तो वह चुपचाप उठकर चल दिया।

इन महाशय का नाम था सत्यप्रकाश और एक लड़की के पैरों के लच्छे चुराने के पुरस्कार-स्वरूप, मानो क़ैदियों की असली हालत का निरीक्षण करने के लिए, वे कारागार की भूमि भी पवित्र कर आए थे ! दिलीप उन्हें पहचानता था। जब उनकी नियुक्ति होने लगी, तब उसको उनका कीर्ति-गान करना ही पड़ा। पर जब वे किसी स्वनामधन्य के ख़ास अपने आदमी निकल आए और जवाब में कहा गया कि उनको धोखा हो गया है। इसी शक्ल का कोई दूसरा व्यक्ति उन्होंने देखा होगा, तब दिलीप चुप रह गया था !

हाँ, प्रतिभा दीदी से भी सुरेश मिला था। वे इस समाचार को सुन-कर बड़ी चिन्ता में पड़ गई थीं कि दिलीप का पता नहीं है। 'वह एक दुर्घटना के जाल में जा पड़ा था और एक प्रकार से उसे नया जीवन मिला था, इसका हर्ष उन्हें कम नहीं था। परन्तु फिर उसके बाद तो दिलीप को यहाँ आना था। नहीं आया, तो ज़रूर कुछ दाल में काला है। एक दुर्घटना से मुक्ति पाकर निश्चय ही वह किसी अन्य दुर्घटना में फँस गया है और यह कम चिन्ता का विषय नहीं है।' रुपये ले भागने-जैसा कोई दोषारोपण वे दिलीप पर कैसे करतीं, जब वे उसकी प्रवृत्ति और मति-गति से पूर्ण परिचित थीं !

इन्हीं प्रतिक्रियाओं के साथ सुरेश वहाँ से लौटा था।

सुरेश का सामान अभी दादा के यहाँ पड़ा था। उनको इन सब बातों का समाचार भी उसे देना था। इसलिए सीधे बहन के यहाँ न जाकर सुरेश पहले दादा के यहाँ गया। उस समय संध्या हो रही थी और मिल के कर्मचारी छुट्टी पाकर अपने-अपने क्वार्टरों को लौट रहे थे। सड़क पर एक जगह बैठा मदारी बंदर नचा रहा था। इस कारण दस-बीस आदमी वहाँ खड़े तमाशा देख रहे थे।

दादा के यहाँ पहुँचने पर जब सुरेश ने यह सुना कि लक्षणा सीढ़ी से

गिर गई थी, उसके सिर में गहरी चोट आई है, तब वह और अधिक दुखी हुआ !

बहन के यहाँ से चलते समय लालाजी की तबियत खराब हो चुकी थी, जब दादा ने यह सुना, तो साधारण रूप से उन्होंने कह दिया—"तबियत को क्या होना जाना है ! कल खराब हो गई थी, आज अच्छी हो गई होगी !"

इस सम्बन्ध में दादा के साथ सुरेश का मत मिलता था। इसलिये उसने भी कोई अन्यथा बात नहीं सोची।

सुरेश लक्षणा के पास भी गया था। वह उसकी माँ और दादी से भी मिला था। दोनों यह जानने के लिए अधीर बैठी थीं कि दिलीप घर लौटा या नहीं। उन्होंने जब यह सुना कि वह न तो मौसमपुर-हॉस्पिटल पहुँचा, न घर ही वापस आया, तब उनकी चिन्ता और बढ़ गई।

लक्षणा चुपचाप पलँग पर लेटी थी। उसके सिर पर पट्टियाँ बँधी थीं। उसका मुँह सूख गया था। उसके होठों पर पपरी पड़ गयी थी। वह करवट तक न बदल पा रही थी ! माँ पास बैठी थीं और टेबिल-फ़ैन मन्द गति से चल रहा था।

सुरेश ने पुकारा—"लक्षणा बेटी !"

लक्षणा ने आँखें खोल दीं। होंठ हिले और अत्यन्त क्षीण स्वर में उसके मुँह से निकल गया—"मामा।" फिर उसकी दाईं आँख पर झट एक आँसू झलक उठा।

माँ ने कहा—"बहुत-सा खून निकल जाने से कमज़ोरी आ गई है। इसी से बोल कम पाती है।"

सुरेश एक निःश्वास लेकर बोला—"कुछ समझ में नहीं आ रहा है बहन, पता नहीं क्या होनहार है !"

लक्षणा की माँ के मुँह से निकल गया—"होनहार को कौन जान सका है ! जितने दिन का कर्मभोग है, भोगना ही पड़ेगा। उसके बाद सब ठीक हो जायगा। चिन्ता करने और घबराने से क्या फायदा ? चलो भैया, तुमको खाना परोस दूं।"

सुरेश ने उत्तर दिया—"खाना इस समय मुझसे न खाया जायगा बहिन। बिस्सू से चाय के लिए दादा ने कह दिया है; सो अभी पीता हूँ।"

इतने में शेफाली बहू आकर लक्षणा के पास बैठ गई और उसने रेडियो खोल दिया। सुरेश बोला—"हाँ बस, यह ठीक है। घबराने की ज़रूरत नहीं है। दो-चार दिन में भगवान् सब मंगल करेगा।"

: २३ :

दिलीप अपने होल्डाल पर चुपचाप लेटा था और कालीचरन उसके पैर दाब रहा था। संध्या हो रही थी और नाविक पास ही पेड़ की जड़ के पास बैठा चिलम फूंक रहा था। पास के खेत में सारसों की जोड़ी दक्खिन से उत्तर की ओर धीरे-धीरे पैर बढ़ाती चली जा रही थी। पवन का वेग शांत हो गया था और नदी की धारा लगभग एक हाथ नीचे उतर आई थी। बरगद की डाल पर बैठा बन्दर सिर खुजला रहा था और गिलहरी अमरूद कुतर रही थी।

एकाएक दिलीप उठ बैठा। बोला—"होल्डाल समेटकर बाँध लो कालीचरन! चुपचाप यहाँ पड़े रहने से तो जनाज़ा भी शान से न निकल पायगा।" और कथन के साथ वह उठकर खड़ा हो गया। कालीचरन 'जनाज़ा' शब्द का मर्म तो नहीं ग्रहण कर सका; पर इतना वह समझ गया कि दिलीप ने कोई अशुभ बात कह दी है। तब वह बोल उठा—"ऐसा नहीं कहते छोटे सरकार! जिन्दगी में दुःख-सुख तो लगे ही रहते हैं।" और चुपचाप होल्डाल कसने लगा।

"भले ही लगे रहते हों; पर मैंने अभी संन्यास नहीं लिया। परमहंस बनने की अवस्था तक जी भी पाऊँगा, नहीं कह सकता। इसलिए दुःख पड़ने पर दुखी और सुख मिलने पर प्रसन्न होना मेरे लिए स्वाभाविक है।...याद आता है, यहाँ पास ही कहीं विक्रमपुर नाम का एक गाँव है। यहीं सुरेन्द्र

का चचेरा भाई केशव रहता है। दिया जलने के वक्त तक हम वहाँ पहुँच सकते हैं।"

बँडिग की बद्धियाँ कस लेने पर कालीचरन बोला—"क्यों, घर नहीं चलेंगे छोटे सरकार? रात तक लारियाँ मिलती हैं। अभी तो शाम ही हुई है।"

"माना कि शाम ही हुई है और हम घर लौट भी सकते हैं। पर अब घर नहीं लौटना होगा कालीचरन!" दिलीप आगे-आगे चलता हुआ कहने लगा—"होनहार की छाती ठंढी करने के लिए, जो रक़म, हमारी भूल से, आज किसी नवाबज़ादे के हाथ जा लगी है, वह मेरी नहीं, जनता की थी। उस जनता की, जिसकी सेवा का अभिमान लेकर हमारी जाति अपना मस्तक ऊँचा रखा करती है। वह मौसमपुर के बाढ़-पीड़ित उन मरीज स्त्री-बच्चों और बूढ़ों की थी, जिन्हें आज मौत ने अपने खूँखार जबड़ों के नीचे दबा रखा है!...सम्हल के आना कालीचरन, यहाँ काँटे बिछे हैं!"

"पर आपने उस रक़म में हाथ तो लगाया नहीं, उससे अपना कोई मतलब तो साधा नहीं छोटे सरकार! यह तो एक होनहार की बात है कि ज़रा-सी आँख लग जाने से वह दूसरे के हाथ जा लगी। इसमें हमारा कसूर ही क्या है?....आप ऐसे रास्ते पर चलते ही क्यों हैं, जिसमें काँटे बिछे रहते हैं? उधर से चलिये, नीचे-नीचे।"

"इसी होनहार ने हम सफ़ेदपोश देशभक्तों का मुँह काला किया है। दुनिया अधिक दिनों तक भुलावे में नहीं रहा करती। अपने पसीने की गाढ़ी कमाई दान-दाक्षिण्य में देनेवाले लोग भी आदमी ही होते हैं। उनके सीने में दिल की जगह पत्थर नहीं रहा करते कालीचरन! केवल इतना भरोसा, यही एक पवित्र विश्वास रहता है कि रुपये खर्च करने में ये लोग कोई कमज़ोरी न दिखायँगे, कहीं ग़लती नहीं करेंगे। पर क्या आज हमने अपनी असावधानी से उनका यह विश्वास खो नहीं दिया?...हम कितने नीचे उतर आये, सिर्फ़ काँटों के डर से—मगर काँटें हैं कि हमें काटे जा रहे हैं!"

"लेकिन जो लोग आपके खरे स्वभाव को जानते हैं छोटे सरकार,

वे आपकी बात कभी झूठ नहीं मानेंगे।"

"उन्हीं लोगों ने पहले दूसरे अन्य लोगों की बातों को भी झूठ नहीं माना था; लेकिन बाद में उनकी आँखों ने जो कुछ देखा, उससे उनका पिछला भरोसा शर्म के मारे रो पड़ा!"

"चाहे जो कहें छोटे सरकार, पर पाँच हज़ार रुपये आपके लिए इतनी बड़ी रकम नहीं कि आपको इधर-से-उधर मारे-मारे फिरने की ज़रूरत हो।"

"रक़म-रक़म है, छोटी हो कि बड़ी। और उसका खो जाना ग़बन का एक तुच्छ बहाना-मात्र! वह बहाना सही हो कि ग़लत, जनता को इससे कोई बहस नहीं। समझे कालीचरन! अब तो जब तक यह रक़म मैं अपनी कमाई से पैदा करके जहाँ-की-तहाँ जमा नहीं कर देता, तब तक किसी परिचित बन्धु को अपनी यह मनहूस शक्ल दिखाने का नहीं! तकलीफ़ सहने से अगर तुम घबराते हो कालीचरन, तो मेरी परवा मत करो, सारा सामान यहीं उतारकर रख दो और घर का रास्ता पकड़ो। अभी कई लारियाँ निकलेंगी यहाँ से। कोई-न-कोई मिल ही जायगी। चाचा जी से कह देना, आपके रास्ते का काँटा साफ़ हो गया। अब जो मन में आए, सो कीजिये। कहीं कोई चूं करनेवाला नहीं है।"

कालीचरन अवस्था में दिलीप से पन्द्रह-बीस वर्ष बड़ा था। उसने दिलीप को वर्षों नहलाया-धुलाया था। उसके कपड़े साफ़ किए थे। बच्चों को सड़कों पर घुमानेवाली पालकीगाड़ी पर वह उसे बिठाकर घुमाने और उसकी अँगुली पकड़कर उसे पार्क में टहलाने ले जाया करता था। वह दिलीप को बेंच पर बिठा देता और उसके लिये फूलों के पौधों पर बैठी हुई तितलियाँ पकड़ लाता, तो दिलीप उनको पाकर उछल पड़ता! वह उसके लिए पतंग उड़ाता और जब पतंग ऊँचे आसमान से बातें करने लगती तो उसका मंझा वह दिलीप के हाथ दे देता। वह उसे समझाता कि ऊपर-से-ऊपर उड़ाने के लिए मंझे को पहले अपनी ओर खींचना होता है, फिर उसमें ढील देते जाने से पतंग अपने-आप ऊपर उठती चली जाती है।

हाथ का पतंग जब ऐसे अवसर पर सरसराता हुआ ऊपर उड़ता चला जाता, तो दिलीप प्रसन्नता से नाच उठता। उसका सारा बचपन, बचपन के सारे खेल-कूद, कालीचरन की दिन-चर्या के विषय रह चुके थे।

और इस क्षण उसी कालीचरन के सिर पर बोझ लदा था। पसीने से उसकी क़मीज़ भीगती जा रही थी। ऐसे समय, रास्ता चलते-चलते जब दिलीप ने उसे चले जाने की धमकी दी, तो कालीचरन की आँखों से आँसू गिरने लगे। टप-टप··· टप-टप···!

ये आँसू दुःख के आँसू न थे। उनके अन्दर माँ की वह मोह-ममता थी, पालन-पोषण के श्रम का वह पावन प्यार था, जिसे उसने एक कृपण की निधि की भाँति अपने हृदय के एक कोने में सँजोकर रख छोड़ा था।

कालीचरन जब कुछ नहीं बोला, तो दिलीप ने घूमकर उसकी ओर देखा। देखा, वह रो रहा है। तब दिलीप के मुँह से निकल गया—"आओ पहले तुम्हारे साथ मैं भी अपनी कर्म-रेख पर थोड़ा रो लूँ। आगे तो बढ़ना ही है। अभी तक हँसते हुए बढ़ने का मजा लिया था, अब थोड़ा रोते हुए भी ले लूँ!"

कालीचरन के सिर से बेडिंग उतारता हुआ दिलीप जब बोल रहा था, तभी अमरूद के पेड़ों पर से तोतों का एक झुंड चहचहाता हुआ उड़ने लगा।

होल्डाल फिर खोला गया। दिलीप उस पर बैठा और फिर लेट गया।

अब संध्या धीरे-धीरे रजनी का कलेवर धारण करती जा रही थी। कृषकों का पशु-धन गाँव की बस्तियों को लौट रहा था। खेत जोतकर लौटते हुए किसान, कंधों पर हल रखे, बैलों की जोड़ियों की रास सँभाले शिथिल गति, धीरे-धीरे, चले जा रहे थे। बैलों के कंधों से लटकती हुई घंटियाँ बोल रही थीं, क्योंकि गति के चरण बराबर आगे बढ़ रहे थे।

इस दृश्य को देखकर दिलीप सोचने लगा—"मुझसे तो ये पशु ही भले। थके-हारे चाहे जितने हों, मगर गति का उद्घोष तो करते ही जाते हैं। एक हम हैं कि दुर्भाग्य के साथ युद्ध-घोष करने के बजाय रो-

रो कर दिखलाते हैं ! सो भी किसको ?—इस अरण्य को, जो जड़ है ! छिः !" और फिर वह बोल उठा—"आओ कालीचरन, हम भी उठें, चलें और आगे बढ़ें ।"

कालीचरन बोला—"चलें छोटे सरकार ! पर साथ छोड़कर भाग जाने की बात हमसे ना कहें ।"

दोनों फिर गाँव की ओर चल पड़े ।

विक्रमपुर लगभग दो सौ घरों की एक मामूली बस्ती थी। उसके स्वामी थे राय महेशचन्द्र । वे त्रिभुवननाथ के सगे भाई और नगर के नामी वकील थे । कहते हैं, जीवन-भर वे किसी मामले में कभी पराजित नहीं हुए थे । एक बार दीवानी में एक ऐसे अंग्रेज साहबबहादुर आ पहुँचे, जिन्होंने उनकी ख्याति की इस परम्परा को तोड़ने के लिए ही निर्णय उनके प्रतिकूल दे दिया । बस, इसी बात पर उनका दिल इतना टूट गया कि दूसरे ही दिन उनका स्वर्गवास हो गया !

दिलीप के बालसखा राय केशवचन्द उन्हीं के सबसे बड़े पुत्र हैं। एक-सौ-साठ एकड़ भूमि में उन्होंने नये ढंग से खेती करने का आयोजन किया है। उसमें सिंचाई का अपना प्रबन्ध है । ट्रैक्टरों से जुतवाई होती है । गन्ना, तिलहन और कपास की ओर उनका विशेष ध्यान रहता है परन्तु शौक़ पूरा करने के लिए वे साग-सब्ज़ी की खेती भी कम नहीं करते। दिलीप ने जिन गाँववालों से उनका पता पूछा, उनमें से एक आदमी बोला—"बस, आप यहीं ठहर जाइए । वे अब आने ही वाले हैं । यही उनके निकलने का मुख्य रास्ता है । बल्कि वह रोशनी जो दिखलाई पड़ रही है, उन्हीं के ट्रैक्टर की है ।

एक साधारण किसान की चौपाल थी । दिलीप वहीं बैठने लगा, तो उस किसान ने चारपाई खाली कर दी। बोला—"आप बड़े आदमी होके नीचे कैसे बैठेंगे ! आपकी जगह वहाँ नहीं, हमारे मत्थे पै है । ऐसे निकल आयँ !" और वह दिलीप का हाथ पकड़ उसे चारपाई पर खींच ले गया ।

केशव ने पास आते ही देख लिया था, चारपाई पर बैठा हुआ व्यक्ति कोई नागरिक है। फिर और निकट आने पर देखा, साथ में बेडिंग, सूटकेस और अटैचीकेस भी है। पर इस कोटि का व्यक्ति इस गाँव में तो कहीं आ नहीं सकता। कहीं ऐसा तो नहीं है कि कोई मेरा ही मित्र भूलता-भटकता हुआ आ पहुँचा हो। अतः कुतूहलवश उसने ट्रैक्टर की गति जान-बूझकर मन्द कर दी। पर ज्यों ही ट्रैक्टर चौपाल के सामने आया, दिलीप बोल उठा—"तुम्हारी ही प्रतीक्षा में बैठा हूँ केशव भाई!"

"अरे दिलीप, तुम यहाँ कहाँ ?"

"कहाँ और किस तरह, यह बाद को बतलाऊँगा। पहले यह सामान घर पहुँचाने का प्रबन्ध करो।"

केशव बोला—"हाँ-हाँ, अभी लो। अरे जुझाऊ भैया, तुम्हीं थोड़ी-सी तकलीफ उठा लो। इनका यह सामान मेरे घर पहुँचवा दो। पर यह आदमी भी तो···। बस-बस ठीक है। बिस्तर तुम ले लेना। सूटकेस वह लेता चलेगा। तुम आओ, इधर निकल आओ।" इस तरह दिलीप केशव के घर जा पहुँचा।

मकान पुराने ढंग का है, मगर है शानदार। फाटक के द्वार पर ही दोनों ओर लकड़ी के खम्भों पर लैंप जल रहे थे। अन्दर प्रवेश करने पर बाईं ओर ट्यूबवेल दिखाई पड़ा। उसके पीछे एक बड़ा-सा कमरा, जिसमें नौ दरवाज़े। दाईं ओर पशुशाला, जिसके खुले दरवाज़े महराबदार। उनमें भैंसे, गायें और बैल बँधे थे और एक आदमी उन्हें चारा डाल रहा था। सामने मुख्य द्वार है, जिसके बाईं तरफ छोटा-सा फाटक; उसमें रखा हुआ रथ मत्था ऊँचा किये खड़ा था। दाईं ओर छज्जेदार बैठक। इस द्वार पर भी दोनों ओर कारबाइड लैंप जल रहे थे। दिलीप ने देहात के सुन्दर मकानों की शोभा देखी थी, पर वह सब केवल उसी समय दिखलाई पड़ती थी, जब ब्याह की धूम-धाम के लिए विशेष रूप से तैयारी की जाती थी। यहाँ तो साधारण रूप से ही ऐसी सुव्यवस्था थी कि दिलीप चकित हो उठा।

केशव ने ट्रैक्टर सहन म खड़ा कर दिया। इतने में नौकर जो बाहर आ पहुँचा तो केशव ने एक साथ उसे कई आदेश कर दिए।

"सुनो लछमन! अन्दर जाकर माँ से कहो, मेरे कॉलेज के साथी स्वभाव के बड़े शर्मीले—मगर तबियत के नवाब—आये हैं। उनके साथ में एक नौकर भी है। चाय और उसके साथ की मीठी-नमकीन सामग्री फ़ौरन से पेश्तर लगकर आ जाय। मगर पहले बैठक खोलो, पानी लाकर हाथ-मुँह धुलवाओ और पैर खुद धोओ। आज सबेरे परसादी दिखलाई पड़ा था। जहाँ मिले उसे पकड़ लाओ। जो बात समझ में न आय, उसे दुबारा पूछ लो और ग़लती होने का नतीजा क्या होता है, साथ में उसे भी याद कर लो। समझे?"

आदेश सुनकर लछमन मन-ही-मन प्रसन्न हो उठा। ऐसे अवसरों पर केशव जितना कठोर बन जाता था, बाद में कुशलता और तत्परता के लिए उससे कहीं अधिक पुरस्कार भी देता था।

बैठक खुल गई और दिलीप एक साफ़-सुथरे पलँग पर जा बैठा। अभी वह जूते उतार भी न पाया था कि लछमन ने पैर थाम लिया; क्योंकि जूते उतारना भी तो उसी का कर्तव्य था। दिलीप ने बहुत नाहीं-नूहीं की, मगर लछमन नहीं माना। पाँच मिनट के अन्दर उसने अनुभव किया, आधी थकान अपने आप जाती रही।

छत के कड़े से लटकनेवाले लैंप में उतना प्रकाश तो नहीं होता, जितना बिजली के बल्ब में। पर उसकी रोशनी में एक ऐसी शीतलता होती है, जो तबियत की रुखाई और उसके भारीपन को एक तरह की शान्ति देती है।

केशव ने अन्दर आते ही लैंप की बत्ती थोड़ी और तेज़ कर दी। टेबिल के चारों ओर कुरसियाँ पहले से लगी थीं, अब उस पर आवरण भी सजा दिया गया। फिर चाय-सामग्री आई और उसके बाद श्रीमती केशव।

केशव ने परिचय कराया—"ये मेरी श्रीमतीजी ह और ये मेरे साथ

किन्तु अत्यन्त तेजस्वी प्रकृति के बाल-साथी दिलीप।"

मोहक नारी दिलीप के लिए एक दुर्बलता थी। अतः एक रूपसी ने जब हाथ जोड़कर उसे नमस्कार किया, तो दिलीप चित्रलिखित-सा उसे देखता रह गया। यहाँ तक कि प्रति-नमस्कार का स्पष्ट उच्चारण करना भी वह भूल गया! लेकिन केशव-पत्नी ने कुरसी ग्रहण करने के बाद ही कह दिया--"आपकी प्रशंसा इनके मुँह से अक्सर सुना करती थी। भरोसा तो नहीं था कि आप कभी इतनी कृपा करेंगे। पर अहोभाग्य कि····।" और वे चाय ढालने लगीं।

दिलीप ने लक्ष्य किया, लछमन चला गया है, पर पंखा झलनेवाला दूसरा आदमी उसके पीछे आ गया है। दरवाज़े पर एक नेवला आकर इधर-उधर देखता हुआ कमरे भर का निरीक्षण कर रहा है और केशव ने रेडियो-सेट खोल दिया है।

इसी समय मालूम हुआ, कालीचरन आ गया। केशव बोला—"सारा सामान यहीं लेते आओ जुझाऊ!"

सामान जब अन्दर आ गया, तो पंखा झलनेवाले नौकर ने सूटकेस और अटैचीकेस को तो एक खाली अलमारी के अन्दर रख दिया। केवल बिस्तर बाहर रहने दिया।

रेडियो से संगीत की मधुर ध्वनियों में एक गीत चल रहा था—"मुझको कौन पुकार रहा है?" दिलीप ने अनुभव किया, जैसे कोई उस पर कस-कस के तीर चला रहा है।

जुझाऊ जाने लगा, तो केशव ने कहा--"चाय पीते जाओ जुझाऊ!"

जुझाऊ ने हँसते हुए उत्तर दिया--"हम गरीब मनई ठहरे सरकार! चाय को माफी दें।"

"गरीब मनई को माफ़ी चाय की नहीं, ज़मीन की दी जाती है।"—कहती हुई केशव-पत्नी ने तब तक एक कप जुझाऊ के सामने कर दिया, दूसरा कालीचरन के।

केशव बोला—"लो, लो, पियो! आखिर ज़मींदारी तो जा ही

रही है।"

जुझाऊ फिर हँस पड़ा। बोला—"सरकार बहुत सरमिन्दा ना करें।"

कालीचरन ने भी कप ले लिया।

दोनों ज़मीन पर बैठने लगे, तो केशव बोला—"बाहर भी बेंच पड़ी है जुझाऊ, सामने पीने में संकोच हो, तो वहीं बैठ जाओ!"

दोनों वहीं जा बैठे। अभी एक घूँट ही वे पी पाए थे कि केशव-पत्नी ने पंखेवाले नौकर के द्वारा एक तश्तरी में बेसन के लड्डू भी उन्हें भिजवा दिए।

जुझाऊ बोला—"ये लड्डू अगर हम अपने लड़ाऊ को लेते जायँ, तो कुछ हरज है सरकार?"

केशव-पत्नी बोलीं—"उसके लिए अलग से मिल जायँगे। ये तो यहीं खाने पड़ेंगे।"

दिलीप नमकीन मठरी दाँत से कुतर रहा था कि केशव अपना पहला कप समाप्त करते हुए बोला—"देखा? अब तक श्रीमान के श्रीमुख से बात की कोई भी झलक दिखलाई पड़ी? सदा अपनी ही अलग दुनिया में विचरण करते हैं मुनिवर!"

दिलीप सिर को कुछ ऊँचा करके मुद्रा में किंचित् प्रसन्नता का पुट देता हुआ बोला—"मैं यह सोच रहा था केशव कि जो दुःख किसी घटनावश अनायास हमारे ऊपर आ पड़ते हैं, उनके मूल में कहीं-न-कहीं से क्या हमारा अपना कर्मजीवन ही अधिक रहता है, या होनहार स्वयं नागिन बनकर ऐसे स्थल पर हमें डस लिया करती है, जहाँ हम अपनी रक्षा किसी तरह कर नहीं पाते?"

"लो सुनो व्यंजना, हिमालय की कन्दरा से मुनिवर बोल रहे हैं। दो जवाब!" कथन में 'व्यंजना' शब्द सम्बोधन के रूप में ज्यों ही आया, त्यों ही रेडियो-गीत की टेक पुनः सुन पड़ी—"मुझको कौन पुकार रहा है?"

दिलीप सरल मन्द हास के साथ बोल उठा—"आपका 'व्यंजना' नाम सुनकर·····।" और इसके बाद वह कुछ कहता-कहता रुक गया।

कलहास के साथ इयरिंग झुलाने के एक शोभन प्रकार में व्यंजना ने रूमाल मुंह से लगाकर पूछ दिया—"आपको किसी की याद आ गई। आ गई न ?"

"जी !" दिलीप का कहना था कि व्यंजना और केशव दोनों-के-दोनों हँस पड़े। केशव का हास अभी स्थिर नहीं हो पाया था कि व्यंजना ने पूछा—"लक्षणा की तो नहीं ?"

दिलीप का बोल भी नहीं फूट पाया था, तभी व्यंजना बोल उठी—"वह मेरी छोटी बहन है।" और दिलीप की ओर कदाचित् इस अभिप्राय से देखने लगी कि देखें, उस पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

मनोभावों का प्रकार समझने में दिलीप को देर नहीं लगती। उसे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि इस अवसर पर भी यदि मैं चुप ही बना रहूँगा, तो ये लोग मुझे साधु नहीं, मूर्ख समझने लगेंगे। 'मूर्ख' शब्द कहने में भले ही बुरा लगे, पर बुद्धू का बाल्य-बन्धु ही वह माना जाता है। अतः तत्काल वह बोल उठा—

"सुख-दुःख के विशिष्ट अवसरों पर अपने-अपने आत्मीय जनों की याद, मेरा खयाल है, सबको आती है—आपको भी आती होगी। अभी परसों की तो बात है, अनेक वर्षों के अनन्तर उससे भेंट हो गई थी। बल्कि कुछ ऐसा हुआ कि ठीक तरह से न वह मुझे पहचान पाई, न मैं ही निश्चयात्मक रूप से समझ पाया कि यह लक्षणा है। दोनों ही एक अपरिचित की भाँति व्यवहार करके अपने-अपने अहम् की खुशामद करते रहे। अन्त में जब अपने आगे के रास्ते हमे अलग करने पर तत्पर हो गए, तब परिचय हुआ। दादा साथ में थे। बड़ा मज़ा आया। बल्कि एक तरह से कह सकता हूँ, इस तरह मिलना बड़े भाग्य से ही सम्भव होता है। अभी जब आपने उसका नाम ले लिया, तो वे सारी बातें अनायास पुनः सामने आ गईं।"

अब व्यंजना को स्मरण हो आया कि सिर पर गोल टोपी, बदन पर कुरता और पायजामा पहनकर जो छोटा बालक कभी-कभी मुरारी

चाचा के साथ आया करता था, वह यही दिलीप था। पाजामा पहनने का अभ्यास अभी पक्का न हो पाया था। इज़ारबन्द प्रायः ढीला रह जाता, तभी पाजामा नीचे खिसक आता था !

तब चाय की ट्रे अपने सामने से आगे खिसकाती हुई व्यंजना बोली—"बचपन में देखा तो मैंने भी था आपको। पर तब आप बहुत छोटे थे; यही तीन-चार वर्ष के रहे होंगे। मैं भी कुछ बहुतबड़ी न थी। यही सात-आठ की अवस्था होगी। फिर मैं अपनी बड़ी बहन अभिधा के यहाँ रहने लगी। उनका ब्याह काशी में हुआ है और मेरी शिक्षा भी वहीं की है।"

तब हँसते-हँसते दलीप बोल उठा—"तो यह कहिये कि मुझे बचपन में ही आप निरावरण रूप में देख चुकी हैं!"

सुनकर पहले दोनों हँस पड़े। व्यञ्जना रूमाल मुंह से लगाकर खाँसती-खाँसती अन्दर चली गई।

इतने में जुझाऊ बोल उठा—"अब हम चलेंगे सरकार।"

तब केशव ने तुरन्त दो लड्डू जो जुझाऊ के पास भेज दिए, तो उठते हुए जुझाऊ ने कह दिया—"सिगरे जिमीदार आपई-जैसे सील-सुभाव के होते, तो जा जमीदारी जाती ना सरकार!·····अच्छा, जुहारजू।"

कालीचरन फाटक तक भेजने के लिए उसके साथ हो गया। थोड़ा आगे बढ़ता हुआ वह कह रहा था—"यह तुमने ठीक कहा भाई साहब।"

उसे गिरधारी लाला की याद आ रही थी।

: २४ :

बिस्सू 'राष्ट्रवाणी' मँगवाता अवश्य था, लेकिन पढ़ता उस समय था, जब सोने के लिए पलँग पर जाता था। आज जब सवेरे यह पत्र आया, तो बीच में ही बिस्सू के एक पड़ोसी मित्र ने ले लिया। लेते समय वह कह तो यह गया कि अभी थोड़ी देर में भिजवा दूंगा। लेकिन फिर वह अपने इस कथन

का प्रतिपालन करना भूल गया। जब संध्या हो गई, उसे इस बात का ध्यान आया तो 'राष्ट्रवाणी' का वह अंक उसने अपने आदमी से भिजवा दिया।

लाला गिरधारी चलते समय जब यह घोषणा कर रहे थे कि अब यह सम्बन्ध मेरे जीते जी न होगा, तब लक्षणा ऊपर के कमरे में, ज़ीने की ऊपरी सीढ़ी पर खड़ी 'राष्ट्रवाणी' का वही अंक पढ़ रही थी, जिसमें दिलीप तिकुनवाँ-स्टेशन वाले हत्याकांड से बाल-बाल बचा था।

उसने लाला गिरधारी की घोषणा भी सुनी और उपर्युक्त विवरण भी पढ़ा। तभी एकाएक गिरकर वह सीढ़ी के नीचे आ गई !…'विवाह हो चाहे न हो, लेकिन उनका जीवन तो सुरक्षित रहे। वे मुझे भले ही न मिलें, लेकिन उनके अस्तित्व की कर्मधारा में तो अन्तर न पड़े !'

लक्षणा का सिर पट्टियों से बँधा हुआ था। और वह पलँग पर चुपचाप लेटी थी। पास ही एक कुरसी पड़ी थी, जिस पर शेफाली बैठी थी।

एकाएक लक्षणा ने करवट ली। उसकी आँखों के पलक जो खुले, तो अपना दायाँ हाथ उठाकर उसने पाटी पर रख लिया। उसे याद आ रहा था, दीदी के यहाँ कब उनसे भेंट हुई थी। रविवार का दिन था वह। और मंगल··हां मंगल के दिन ही तो वह सीढ़ी से गिरी थी। उसके बाद आज…आज शनिवार। हाथ उठाकर वह दिन गिनने लगी—"सोमवार-मंगल-बुध।…आज छठा दिन है। मौसमपुर-हॉस्पिटल के मरीजों की दशा अब काफ़ी सुधर गई होगी।"

"हाँ, सुधर तो जानी चाहिए। सुनती हूँ, वहाँ दादी भी पहुँच गई हैं।"—शेफाली बोली, जो चाकू से सेब छील रही थी।

"दादी !" लक्षणा ने पहले आश्चर्य के साथ कह दिया। फिर ध्यान आ गया तो आप ही बोल उठी—"हाँ, दीदी हैं तो दादी ही, सिर्फ़ एक मात्रा की कमी के कारण…।" और उस दुर्बलता में उसके अधरों पर करुण हास झलक उठा।

शेफाली जानती है कि मौसमपुर की ओर लक्षणा की दृष्टि लगी है। अतः वह पुनः पूर्व प्रसंग पर जा पहुँची। सेब के टुकड़ों की तश्तरी उसने लक्षणा

के पलंग के पास, एक छोटी गोल टेबिल पर, रखते हुए कह दिया—"मैंने यह भी सुना है, वे कुँवरजी को बहुत मानती हैं।"

"तुम रात-दिन यही बातें सुना करती हो। मालूम नहीं झूठ बोलने में तुम्हें मिल क्या जाता है!"

"झूठ बोलने में जो सौन्दर्य उत्पन्न होता है, वह सत्य में कहाँ सम्भव है! पर हमको झूठ की घिसी-पिटी परिभाषा बदलनी पड़ेगी। हालाँकि मैंने यह बात बनाकर नहीं कही थी।" शेफाली हास-विनोद का हाथ छोड़कर अब गम्भीरता के कन्धे से जा लगी थी।

"जी हाँ" कहकर नाक-भौं सिकोड़ती और व्यंग्य हास से लहराती हुई लक्षणा बोली—"हमको आसमान का रंग बदलना पड़ेगा और बादलों की बोली में तो वह लोच पैदा करनी होगी कि रेडियो पर ठुमरी और दादरे सुनना लोग क़तई पसन्द न करेंगे। क्या कहने हैं इस विकासवाद के!"

दरवाज़े की चौखट और किवाड़ के बीच मोड़ की जो खाली जगह होती है, वहाँ एक छिपकली बैठी थी। शेफाली ने रात को जो दरवाज़ा बन्द किया, तो वह वहीं पिसकर रह गई! सवेरे लक्षणा की दृष्टि उस पर जा पड़ी। उसने शेफाली को बुलाकर उसे दिखलाया। नाक सिकोड़ती शेफाली बोली—"उहँ! ऐसा तो होता ही रहता है।"

"होता तो रहता है भाभी। लेकिन मनुष्य का जीवन इससे कितना मिलता-जुलता है! वह ऐसी अवस्था में क्या कुछ कर पाता है! विधि का एक निश्चित विधान ही तो है, जिससे वह कभी-कभी बच जाता है। तिकुनवाँ-स्टेशन पर जो घटना हुई, उसका इस घटना के साथ कितना साम्य है! एक दिन ऐसा भी तो आ सकता है जब मेरी भी यही गति हो! माना कि वह एक आकस्मिक घटना थी। पर इससे क्या? विनाश विनाश है, चाहे स्वाभाविक ढंग से हो, चाहे आकस्मिक घटना से।" लक्षणा कहने को तो कह गई; पर फिर वह सोच में पड़ गई।

शेफाली ने समझाते हुए कहा—"आधारहीन अमांगलिक कल्पनाएँ वही लोग करते हैं, जो अन्दर से प्रायः भीरु होते हैं। वीर वे हैं, जो जीवन-

साफल्य में, गति के नवल चरणों की कल्पना, भविष्य-पथ के चढ़ाव-उतार और उसके सम्भव श्रम के आधारों पर ही किया करते हैं।"

पर लक्षणा उस दिन बहुत उदास रही। शेफाली ने ग्रामोफ़ोन पर नये-नये रिकार्ड बजाये, रेडियो पर होने वाले नाटक भी वह उसे सुनाती रही।

एक दिन पड़ोस में किसी के यहाँ बच्चा हुआ था। ऊपरी कमरे की खिड़की सदा बन्द रहती थी। शेफाली ने जान-बूझकर खोल दी। एकाएक गीतों का मादक स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ने लगा। फिर एक सोहर छेड़ा गया। उसके आरम्भ के शब्द थे--"जुग-जुग जीवें रानी तोरे ललना--रानी तोरे ललना।"

लक्षणा प्रसन्नता से खिल उठी। बोली--"भाभी सच-सच बताओ, अपने इस घर में ऐसा सुन्दर गीत कब सुनवाओगी हमें?"

शेफाली ने इसी अवसर के लिए खिड़की खोली थी। हँसती-हँसती बोली—"उनसे कभी पूछा नहीं?"

लक्षणा लोट-पोट हो गई। बोली—"अच्छी बात है, देखूंगी कब तक टालती हो!"

रात-दिन शेफाली इसी प्रकार लक्षणा का मन बहलाती रहती थी।

एक दिन बिस्सू विचार-लीन हो उठा। मौसमपुर-हॉस्पिटल में दिलीप अब तक नहीं पहुँचा है। सुरेश से उसको यह समाचार मिल गया था। दादा ने अभी कहा था--"नगर में दिलीप के सम्बन्ध में तरह-तरह की अफ़वाहें उड़ रही हैं। कोई कहता है कि वे रक़म लेकर कहीं चम्पत हो गए हैं! किसी का कहना है कि उनके जैसे सच्चे और तपे हुए सोने के लिए यह कभी सम्भव नहीं है। जितने मुँह हैं, उतनी बातें। हम किसी का मुँह तो बन्द कर सकते नहीं। पर जैसे भी हो, हमें इन अफ़वाहों की प्रतिक्रियाओं से लक्षणा को मुक्त रखना है। इससे तो यह अधिक अच्छा होगा कि तुम महीना-पन्द्रह दिन के लिए इन लोगों को लेकर मसूरी चले जाओ। वहाँ तबियत भी बहल जायगी, और इन अफ़वाहों के उत्पीड़न से भी मुक्ति मिलेगी।"

वह सोच रहा था कि अफ़वाहों के डर के मारे क्या हमको इस सीमा तक विचलित होना चाहिए ? अभी उसने उत्तर में कुछ कह भी न पाया था कि दादा बोल उठे थे—"चले जाओ बेटा, तुम सब बच्चों के सुख के लिए ही मैं अब तक जी रहा हूँ। अन्यथा···।" उसे ध्यान आ गया दीदी का। जीवन समाप्त हो रहा है, पर उन्होंने उन दीदी से मिलना स्वीकार नहीं किया!

तब बिस्सू ने लक्षणा के निकट आकर कह दिया—"एक जगह रहते-रहते मेरी तो तबियत ऊब जाती है। इसलिए हमने मसूरी जाने का निश्चय किया है। आज हमको रात-ही-रात सारी तैयारी कर लेनी है।"

लक्षणा प्रसन्नता से उछल पड़ी। वह उठकर बैठ गई। शेफाली ने सिर की साड़ी को दुअन्नी-भर अवगुण्ठन का रूप देकर पूछा—"दादा से पूछ लिया है ?"

तश्तरी से सेब का एक टुकड़ा उठाकर मुँह में डालते हुए बिस्सू बोला—"मैं जो कुछ करता हूँ, अम्मा, दादी और दादा—सबकी सलाह लेकर। इन मामलों में मैं केवल एक व्यक्ति की उपेक्षा करता हूँ।"

लक्षणा पहले हँसी, फिर गम्भीर होकर बोली—"क्यों ?"

बिस्सू बोला—"क्योंकि एक बार दिलीप से ही सुना था—"संसार आज भविष्य के उस दिन का स्वप्न देख रहा है, जब पति-पत्नी में कर्मगत मतभेद का अस्तित्व ही लुप्त हो जायगा।"

लक्षणा सामने लगे हुए छै फ़ीट के दर्पण में अपने को देखने लगी और शेफाली हास-मुद्रा की एक झलक दिखलाती हुई उठकर चल दी।

·· ·· ··

चार ही दिन में दिलीप, केशव के घर में, व्यंजना से खूब हिल-मिल गया। संकोचवश वह पहले उससे बोलता न था। परिणाम यह हुआ कि केशव ने व्यंजना के कान में यह मंत्र फूँक दिया—"यह संकोच उन्हीं व्यक्तियों में अधिक होता है, जो अहंवादी होते हैं। वे समझते हैं कि किसी भी प्रकार का लोभ, मोह, ममत्व और आकर्षण प्रकट करना हमारी हीनता है। लेकिन मैं इन भावों को मनुष्य की स्वस्थ प्रकृति का एक लक्षण मानता हूँ।"

फिर व्यंजना ने एक दिन दिलीप के लिए कुछ ऐसी स्वादिष्ट चीजें बनवाईं कि उसकी मूकता अपने-आप टूट गई। बार-बार वह ना-ना करता। पर फिर केशव के अधिक आग्रह पर सहमत होकर कहने लगता—"अच्छा लाओ, दे ही दो !" फिर अपनी इस वृत्ति पर एक आलोचक की दृष्टि डालकर स्वयं हा-हा-हा-हा करके हँसने लगता। फिर अपने-आप ही खुल पड़ता—"तुम सोचते होगे केशव, मैं संकोच करता हूँ। पर असल बात यह है कि मैं ढील कहीं भी पसन्द नहीं करता। चाहे मन के धर्म की हो, चाहे तन के धर्म की; नियंत्रण मैं सब पर चाहता हूँ।"

एक दिन भोजनान्तर व्यंजना बोली—"आपने पढ़ा, लक्षणा सीढ़ी से गिर गई थी ? सिर में चोट आ गई है।" और पत्र उसने केशव के समक्ष रख दिया।

पत्र पढ़कर केशव बोला—"फिर ?"

"फिर क्या, जाओ देख आओ। मैं चली जाऊँगी तो तुमको यहाँ कौन सँभालेगा ? अपने-आप खाना तक तो तुम खा नहीं सकते।"

केशव हँसते हुए बोला—"हाँ, यह ठीक है।"

जब यह निश्चय दिलीप ने सुना, तो उसने स्पष्ट कह दिया—"मुझे भी अब चला जाना है केशव। कई दिन तो हो गए। देखता हूँ, मेडिकल-कालेज में दाखिल हो सकता हूँ कि नहीं।"

केशव को कई दिनों से सन्देह हो रहा था, दिलीप अवश्य किसी उलझन में है। तिकुनवाँ स्टेशनवाली घटना का समाचार वह 'राष्ट्रवाणी' में पढ़ चुका था। पर जान-बूझकर पति और पत्नी (दोनों में से किसी) ने कभी उसकी चर्चा न की थी। वे यह भी न चाहते थे कि दिलीप यहाँ से चला जाय।

सौंफ के दाने मुँह में डालता हुआ केशव बोला—"मगर तुमने तो कहा था, दस-पाँच दिन और रहूँगा और अदृष्टवाद पर एक पुस्तक की रूप-रेखा तैयार करूँगा।"

"हाँ, इस विषय पर एक महाकाय ग्रन्थ लिखने की मेरी बड़ी

लालसा है। किन्तु कौन जाने यह लालसा पूरी भी होगी। सपने ठहरे, देखने में देर कितनी लगती है ! और अभी तो मेरा यह वर्ष मेडिकल-कॉलेज में ही खप जायगा।"

दोनों सोचते थे, यदि किसी प्रकार दिलीप यहाँ बना भी रहा, तो उसका मन अस्वस्थ हो उठेगा। इस समय तो वह व्यंजना से बात भी कर लेता है। पर केशव की अनुपस्थिति में तो सम्भव है, अपना कमरा ही बन्द रखे। तब विवश होकर उसका प्रस्ताव उन्हें मानना ही पड़ा।

लछमन कालीचरन के साथ पहले ही पक्की सड़क की ओर चल दिया था। ट्रैक्टर पर बैठने के लिए जब केशव के साथ दिलीप भी चलने लगा, तो सेहन में आकर दाईं ओर का अंचल अँगुलियों के पोरों से सँभालती व्यंजना बोली—"यह तो मैं पहले से ही जानती थी कि आप कहीं भी, केवल काल-क्षेप के इरादे से, टिकनेवाले प्राणी नहीं हैं। और कार्यशीलता आपकी इतनी प्रबल है कि प्रार्थना करने पर भी दो-चार दिन के लिए कहीं जाने का आपको अवकाश नहीं रहता। तब केवल एक संयोग ही बच रहता है, जो सौभाग्य से आपको यहाँ खींच लाया था। आगे फिर कभी ऐसा अवसर आयगा, पहले से कह सकना बड़ा कठिन है। इसलिए आपने जो थोड़ी-सी घड़ियाँ मेरे घर के विभिन्न कमरों में बिताई हैं, आपकी पवित्र स्मृतियों के खाते में वही मेरे लिए एक निधि हैं। यों तो हम किसी भी योग्य नहीं हैं। लेकिन कभी, किसी भी रूप में, यदि आप मेरी कुछ सेवा स्वीकार करेंगे, तो मैं अपने को बड़ी सौभाग्यशालिनी समझूँगी।"

भाषा जहाँ से उठती है, शब्दों को जहाँ से स्पन्दन मिलता है, भावों को जो मार्दव देता है, उस मन की विचित्र गति है। कहाँ का दिलीप और कहाँ की व्यंजना ! सुना-सुनाया कभी का परिचय था। लेकिन कुछ ही दिन के संग-साथ का यह प्रभाव कि व्यंजना की आँखें भर आईं।

"मैं आपको सदा याद रखूंगा। मैं आपकी इस आत्मीयता को कभी न भूलूंगा। जब कभी संकट के क्षण आयेंगे, तब यह सोचने में मुझे बड़ा सुख मिलेगा कि मेरा ऐसा भी कोई है, जिसे मैं अपना कह सकता

हूँ।" मोहाच्छन्न दिलीप उत्तर देते समय शब्द-शब्द को जैसे तोलता जाता था। उसे अब एक शंका-सी बनी रहती थी कि कहीं मैं ग़लती तो नहीं कर रहा हूँ।

ट्रैक्टर चलने लगा। जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गया तब तक व्यंजना उसे इकटक देखती ही रही।

ट्रैक्टर जब गाँव से बाहर आ गया, तो दिलीप बोला—"तुम्हारे साथ बीतनेवाले ये कई दिन मुझे कभी नहीं भूलेंगे केशव ! गार्हस्थ जीवन में बीस झंझट रहते हैं, मानता हूँ। परन्तु उसके अन्दर इतना सुख-संतोष, शान्ति की इतनी शीतल छाया और हास-विनोद के इतने मादक अवसर भी रहते हैं, मैं कभी अनुभव न कर पाया था। इस दृष्टि से ऐसी सुखदा भाभी पा जाने पर मैं तुम्हें बधाई देता हूँ केशव !"

ट्रैक्टर चलाता हुआ केशव बोला—"धन्यवाद को हमने बहुत सस्ता बना डाला है। किसी का सिगरेट जलाने के लिए हमने दियासलाई की लौ उसकी सिगरेट से लगा दी—धन्यवाद !...किसी का पेन लेकर हमने रजिस्टर्ड लेटर या रेवन्यू-स्टाम्प पर हस्ताक्षर भर कर लिए—धन्यवाद ! ...कान की खुजली शांत करने के लिए किसी के अखबार का कोई इंच भर कोना हमें माँगे से मिल गया—धन्यवाद !...यहाँ तक कि हमने चलती ट्रेन में अपना टाइमटेबिल—ए बचके, यहाँ थोड़ा-सा धक्का—हाँ, किसी को मिनट भरके लिए दे दिया—धन्यवाद। मतलब यह कि जब धन्यवाद इतना सस्ता होचुका है तब उसी का ऐसे समय प्रयोग करूँ, तो मेरी तबियत न भरेगी। इस-लिए इस प्रशंसा के लिए मैं आभार मानता हूँ तुम्हारा। परन्तु एक बात है दिलीप, इसकी छोटी बहन लक्षणा को अभी तुमने नहीं देखा। देखते तो इसको भूल जाते।"

अवसर अनुकूल देख दिलीप बोला—"बस-बस, अब हम यहीं उतर जायँगे। वह रहा हमारा अड्डा। वहीं से हमें लारी मिलेगी।"

ट्रैक्टर खड़ा हो गया। दोनों ने उतरकर एक-दूसरे को गले से लगाया, हाथ जोड़े, नमस्कार किया।

केशव जब अपने फ़ॉर्म की ओर जाने लगा तो दिलीप ने कह दिया—"अदृष्टवाद पर पुस्तक लिखने के लिए जब कभी अवसर मिला, हम तुम्हारे ही यहाँ आ धमकेंगे केशव !"

केशव बोला—"अच्छी बात है। तब हम लक्षणा को भी यहीं बुला लेंगे।"

ट्रैक्टर चला जा रहा था।

कालीचरन के पास दिलीप अभी पहुँचा ही था कि एक लारी आ खड़ी हुई। वह शहर की ओर जा रही थी। दिलीप ने आव देखा न ताव, वह उसी पर जा बैठा और बोला—"जल्दी आ रे कालीचरन !"

कालीचरन पास आकर कहने लगा—

"लेकिन छोटे सरकार, यह तो कानपुर को ही जा रही है।"

"बहस मत करो कालीचरन, बस आ जाओ। इस समय हमको सिर्फ़ आगे बढ़ना है। कहाँ जायँगे, किधर मुड़ेंगे, इसे बाद में तै करते रहेंगे।"

कालीचरन सामान अभी रख ही पाया था कि लारी चल दी। तब वह दौड़कर अन्दर आ गया।

: २५ :

मसूरी जाने की तैयारी होते समय यकायक दादी के मुँह से निकल गया—"क्यों रे बिस्सू, काशीपुरी यहाँ से कुछ ज्यादा दूर है क्या ?"

"नहीं तो दादी। बल्कि थोड़ा-बहुत निकट ही पड़ेगी। क्यों ? क्या काशी जाने की तबियत हो रही है ?"

"मैंने कभी देखी नहीं। सुनती हूँ, जिसे विश्वनाथजी के दर्शन हो जाते हैं, वह फिर इस लोक के आवागमन से मुक्त हो जाता है। जिन विश्वनाथजी के दर्शनों की ऐसी महिमा है, अगर जीते जी, उन्हें देख पाती तो...!

लेकिन सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि दुलहिन के बिना काम चलेगा नहीं। कम-से-कम मेरा मन नहीं लगेगा। और उसको ले जाती हूँ, तो सरूप अकेला पड़ जायगा।" कहती हुई दादी सचमुच बड़े असमंजस में दीख पड़ीं।

तब अपना बेडिंग ठीक करता हुआ बिस्सू बोला—"मैं अभी दादा को राज़ी करता हूँ दादी। तुम अपनी तैयारी शुरू कर दो।"

इस प्रकार दादा को छोड़कर अनायास सारे घर की तैयारी हो गई। यहाँ तक कि शेफाली और लक्षणा ने भी इस संशोधन का स्वागत किया।

•• •• ••

दिलीप जब लारी पर बैठ गया, तब तत्काल आँधी की भाँति उसे इस विचार ने घेर लिया कि कहीं मैं फिर उसी भँवर की ओर तो नहीं बढ़ता जा रहा हूँ, जिससे दूर रहने में ही मेरी कुशल है। कहीं मैं फिर ग़लती तो नहीं कर रहा हूँ ? ••अब तक चारों ओर यह समाचार फैल चुका होगा कि दिलीप पाँच हज़ार की रक़म मारकर भाग गया है !

आँधी में पवन के वेग के साथ कई वस्तुएँ उड़ा करती हैं। पेड़ों के पत्ते, तिनके, सूखी झाड़ियों की डालियाँ, झंखाड़, काँटे, धूल, खाली या टूटे-फटे काग़ज़ी डब्बे, सिगरेट के पैकेट, दियासलाई, काग़ज़ के टुकड़े, फटे-पुराने कपड़े-लत्ते, सिलोलाइड के बने हल्के-फुल्के खिलौने––कहाँ तक गिनायँ, पचासों चीज़ें ठहरीं।

लारी चली जा रही थी और दिलीप का मानस इस आँधी में जा पड़ा था—

"•••एक तो तुमने यही भूल की कि तुम रक़म लेकर घर से चले। फिर चले भी, तो पड़ गए चक्कर में उस बदमाश के और बीच में उतर पड़े। फिर हत्या से बचे, सो ठीक। भगवान् तुम्हारा भला करे। पर यह क्या कि लारी में बैठे और सो गए! जोखिम का कोई खयाल नहीं ! माना कि रात-भर के जगे थे । यह भी माना कि बहुत शिथिल थे—तो ? फिर तुमने यह जिम्मेदारी ही अपने कन्धों पर क्यों ली ? बड़ा बनने के लिए ? दुनिया को यह दिखाने के लिए कि मैं

जनता का कितना सच्चा सेवक हूँ ! पर यह आत्म-प्रवंचना है—अपने-आपको धोखा देना । जो काम तुम कर नहीं सकते,उसको दूसरों के लिए छोड़ते क्यों नहीं ? इतना लालच है तुममें महत्त्व प्राप्त करने का ! तो तुम यश-लोलुप हो।··· और अब यह क्या चीज़ है कि भागे-भागे फिर रहे हो ? तुमने चोरी तो की नहीं, अपने किसी व्यसन में तो जनता का पैसा लुटाया नहीं।···चला इसलिए गया कि आँख झपक गई—अटैची-केस बदल गया।··· फिर तुमने उस आदमी की खोज-ख़बर भी न ली !··· न उस आदमी की शक्ल देखी, न उसका पता-ठिकाना मालूम है। किस स्टापेज पर वह उतरा था, इसका भी पता नहीं। पता कैसे लगाता ?···सब मक्कारी है। जासूस लोग कैसे पता लगाते हैं ? तुम इतना तो जानते थे कि इतने स्टाप्स के बीच में तुम्हारा अटैची-केस बदला है। और इतना तो पता लगाकर कालीचरन ही बता सकता था कि वह कौन गाँव था, जहाँ कोई ऐसे साहब उतरे थे, जिनके पास काफ़ी सामान—बल्कि इसी तरह का ही एक अटैची-केस भी—था। उनसे मिल ही लेते एक बार ! इतनी जल्दी घबरा उठे कि सारी चेतना खो बैठे ! जनता की सेवा के योग्य तुम क़तई नहीं हो ! तुम्हारे-जैसे लोग ही अपने देश के लिए कलंक सिद्ध होते हैं ! फिर सब-कुछ हो जाने के बाद यह भागना तो सरासर कायरता है। तुम वैसे कुछ भी हो, हो तो अपने ही समाज के। साफ़-साफ़ कह देते कि ऐसी घटना हो गई। बड़े आये यह कहनेवाले कि कौन इस बात पर विश्वास करता ! छिः ! जो व्यक्ति दो मिनट के अन्दर हज़ारों रुपये तुमको दे डालता है, वह यह भी जानता है कि दिलीप मर जायगा, मगर झूठ बोलकर अपना बैंक-बैलेंस न बढ़ायगा ! और उसी पर तुमने अविश्वास किया !···तो तुम अपने-आपको जो उससे भी छिपाना चाहते हो, यह क्या चीज़ है जी ? बहुत क्षुद्र है अहंकार तुम्हारा !···तुम अपने इन बन्धु-बांधवों के सामने केवल अपनी पूजा और प्रशंसा चाहते हो ! कभी तुमसे कोई भूल हो जाय, तो तुम उस भूल को उनसे कह नहीं सकते ! फिर तुम उनके आत्मीय कैसे हुए ? "मीठा-मीठा हप्प—कड़वा-कड़वा थू !" तो केवल अमृत-ही-अमृत तुम पी सकते हो, हलाहल नहीं ? और इन

लक्षणों के साथ तुम सेवा-धर्म के पथ पर चलकर अग्रसर होना चाहते हो !

हा हा हा हा !

हा हा हा हा ! ! '

.. .. ..

अब रक्षा-दल का सारा कार्य सुव्यवस्थित ढंग से चल रहा था। सरकारी सहायता की बीस हज़ार की रकम भी आ गई थी। और कार्य की देख-रेख के लिए मंत्रि-मंडल-कार्यालय से दो पार्लमेंटरी सचिव भी आ चुके थे। चारों ओर सुप्रबन्ध और सुव्यवस्था की चर्चा रहा करती थी। स्त्रियों और बच्चों के पहनने के सारे कपड़े अब नित्य साफ़ होते थे और इस कार्य के लिए देहात से अनेक धोबी बुला लिए गए थे। जो बीमार थे, उनके नाश्ते का प्रबन्ध अलग रहता था, जो स्वस्थ हो चुके थे उनका अलग। सबको बिना प्रयत्न किये अपने-अपने स्थान पर समय से नाश्ता मिल जाता था। ठंडे और गरम पानी के स्नान की व्यवस्था भी अलग-अलग थी। कुओं का जल पानी के बड़े-बड़े हंडों और बाल्टों में भर लिया जाता था। इस श्रम-जन्य कार्य के लिए देहात के कई कहार नियुक्त कर लिए गए थे। भोजन में स्वच्छता और विविधता का मुख्य ध्यान रखा जाता था। मरीज़ लोगों की आँखें जब अपने बच्चों को बाग़ों के बीच उछलते-कूदते देखतीं, तो उनके मुखों पर मुसकान दौड़ जाती। उनकी गड्ढों में धँसी, भुखमरी से त्रस्त आँखें और पसलियाँ अब मांसल हो-होकर भरने लगी थीं। जो श्री-हीन मुख पर्याप्त मर्यादा-हीन, पर्याप्त निर्वाह-साधन-हीन जीवन व्यतीत करते-करते निराशा की उदासीनता से मरी-मरी, गिड़गिड़ाहट-भरी, आत्मग्लानि में डूबी भाषा में बातें करने के आदी थे, उनकी चेतना अब भविष्य के स्वप्न देखने लगी थी। अतीत से वे भयभीत थे, वर्तमान से संतुष्ट; किन्तु भविष्य के प्रति चिन्ताशील। उनके मन अब अपने-अपने ठौर-ठिकाने लग जाने की बात सोचने लगे थे। जिन बच्चों को मलेरिया, टाइफ़ायड और सूखा रोग ने अपने खूँखार पंजों में भर लिया था, जो उठकर बैठने को तरसते थे, वे अब उठ बैठे थे और उनमें से बहुतेरे उछलने-कूदने, खेलने और ऊधम मचाने

लगे थे ! खाँसी, ज्वर, जुकाम और मलेरिया से बुरी तरह आक्रान्त जिन बहू-बेटियों और प्रौढ़ महिलाओं का चारपाई से उठकर नित्य-क्रिया के लिए अन्यत्र जाना दुर्लभ था, वे अपने परिवार भर के सारे सेवा-कार्य अब स्वयं करने लगी थीं ।

श्वेत केश, दन्त-हीन, पोपले मुँहवाली वृद्धाएँ जब संकोच त्यागकर दीदी से पूछतीं—"काये हो रानी बेटी, वा सुई में कौन सो जादू है, जो आपन ने हमाई जा बाँह में लगाई ती ?"

दीदी हँस पड़तीं और उनका जवाब होता—"उनमें जादू नहीं होता है माँ ! उनसे ऐसी दवाएँ मरीज़ की नसों में डाली जाती हैं, जो खून के बहाव में तुरन्त एक उत्तेजना, एक हलचल पैदा कर देती हैं । वे दवाएँ देशी और विदेशी ऐसे विशेषज्ञों और डॉक्टरों ने छान-बीन, खोज और अपने ज्ञान से ईजाद की हैं, जिनकी सारी ज़िन्दगी इसी सोच-विचार और प्रयोगों में खप गई है ।"

बीमारी से उठकर धीरे-धीरे स्वस्थ हो रहे किसान अब अपने-अपने वे खेत देखने को जाने लगे थे, जिनमें धान पकने लगे थे, मक्का के भुट्टे तैयार हो रहे थे, बाजरे की बालियाँ फूलने लगी थीं और उनमें दाने पड़ गए थे । ज्वार, उड़द, मूँग और रौंसा के खेतों में भी भुट्टे और फलियाँ पुष्ट होने लगी थीं । प्रौढ़ लोग आपस में अपने-अपने घर और झोपड़ियाँ पुनः बनाने की बातें करते और शीघ्र ही वहाँ चले जाने की योजनाएँ बनाते जाते थे ।

दीदी हॉस्पिटल में बैठी थीं । वे सोच रही थीं ' कि कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि दिलीप वह सारी रक़म लेकर चला हो और मार्ग में फिर उसे बदमाशों ने घेर लिया हो ! कहीं फिर उसकी जान को कोई खतरा तो नहीं पैदा हो गया !'

वे मरीज़ों से घिरी थीं, यद्यपि अब उनकी संख्या बहुत कम हो चली थी ! उनकी टेबिल पर स्टेथसकोप रखा था । इसके अतिरिक्त एक क्लिप में दबे हुए कुछ कटे-छँटे सफ़ेद स्लिप्स, एक ब्लाटिंग पैड और एक सुन्दर पेपर-वेट ।

इतने में पियून ने आकर कहा—"एक साहब आपसे मिलना चाहते हैं।"

"क्या नाम है उनका ? पर्चे पर लिखवा लाओ। देख तो रहे हो, दम मारने का अवकाश नहीं है।"

मिनट-भर में चिट आ गई। जिसमें लिखा था—"राय महेन्द्रप्रताप।

दीदी चिट देखते ही कुरसी से उठ खड़ी हुईं, बाहर निकलीं और बोलीं—"बड़ी तकलीफ़ की रायसाहब आपने। कहिए क्षेम-कुशल तो है ?"

"सब आपकी कृपा है दीदी ! यों तो आप बहुत व्यस्त होंगी—जैसी कीर्ति मैं बाहर से ही सुनता आ रहा हूँ। पर मेरा काम कुछ इस नेचर का है कि उसका फल, सम्भव है, आपके काम को कुछ लाभ पहुँचाय। अब मैं साफ़ ही कह दूँ, आप उसे बेवकूफी कह लीजिये, चाहे लापरवाही, कोई आठ-दस दिन हुए होंगे, मेरा अटैची-केस बदल गया था एक लारी में। रक़म तो उसमें खासी-अच्छी थी—पाँच हज़ार से भी ऊपर। मुँह में पानी भर आया। पर बाद को काग़जों से पता चला कि वह बाढ़-पीड़ित लोगों के लिए है। कोई दिलीपकुमार साहब हैं। उन्होंने उसे इकट्ठा किया था। उनकी एक डायरी भी इसमें है। क्या कहने हैं उसके ! कुछ पृष्ठ उसके मैंने पढ़े हैं। मेरा खयाल है, यह व्यक्ति अदृष्टवाद पर इतनी उत्तम पुस्तक लिख सकता है कि उसे पढ़कर संसार चकित हो उठे। पता नहीं, वे साहब कहाँ हैं ? मिलते, तो मैं उनको इस विषय पर फ़ॉरेन राइटर्स की भी कुछ सामग्री देता। खैर, अब आप रुपये सँभालिये और मुझे इजाज़त दीजिये। मैं आज भर यहाँ कीर्तिपुर में ठहरा हूँ—कारिन्दे लोगों ने कुछ गड़बड़ कर रखी है। उनके कान गरम करने आया हूँ। अच्छा···!"

दीदी ने उन्हें धन्यवाद दिया। बड़े आग्रह से वे उनको अपनी बैठक में ले आईं, उनको चाय पिलाई। फिर बोलीं—"आपने बड़ी कृपा की। एक तरह से दिलीप का भविष्य बना दिया। यह लड़का इतना भावुक है कि अगर यह रक़म जल्दी-से-जल्दी कहीं-न-कहीं से दे न पाता, तो अपने नगर और समाज के बीच कभी शक्ल न दिखलाता। अभी उस दिन की बात

है, उसके मामा उसे खोजते हुए यहाँ आ पहुँचे थे। बेचारे इतने परेशान थे कि मुझे भी बहुत चिन्ता हो गई। पर क्षमा कीजियेगा, अगर और भी चार-पाँच दिन पहले आपने यही कष्ट किया होता, तो कितना उत्तम होता ! मालूम नहीं, हम लोग कब तक अपने-आपको एक स्वाधीन राष्ट्र के गौरव योग्य बना पाने में समर्थ होंगे !"

रायसाहब जब अपनी कार में बैठे तब सोचने लगे—'हम चले थे, अपना अहसान जमाने, उलटे दीदी से फटकार सुननी पड़ी ! मगर क्या व्यक्तित्व है उनका ! जैसे अपनी सगी बहन हो कि प्यार भी करती हो और मौक़े पर कान खींचने में भी न चूकती हो !'

.. .. ..

जब लारी चली जा रही थी—

'मुझे आँधियों से खेलने में मज़ा आता है। साधारण जीवन में तो मैं एक आलसी और शान्ति-भक्त व्यक्ति हूँ। जब संकट की घड़ियाँ आती हैं, तभी कर्त्तव्य के मर्माघात मैं हँसी-खुशी से सहन कर पाता हूँ। मैं अपराध करता हूँ—मुझसे भूलें भी होती हैं, मानता हूँ। मगर किसलिए ? इसलिए कि मेरी कुछ अपनी मान्यताएँ भी हैं। मैं आदर्श में गिर नहीं सकता, चाहे मेरे प्राण निकल न जायँ ! अगर कभी ऐसी नौबत आय कि मेरे ही अपने किसी अपराध से मेरी मर्यादा नष्ट हो जाय, मैं पतन के पथ पर चल पड़ूँ, दुनिया के सामने मेरा मुँह काला हो जाय, तो उसका परिणाम मेरी चेतना के कान न सुनकर मेरी लाश पड़ी-पड़ी सुनेगी ! मैं आत्मघात कर सकता हूँ, पर यह मुझे कभी सहन न होगा कि दुनिया का कोई भी व्यक्ति मुझसे यह कहने का अवसर पाय कि मैंने अपने पितृ-तुल्य देश के प्रति कोई विश्वास-घात किया है !'

.. .. ..

जब लारी चली जा रही थी—

'हैं ऐसे लोग दुनिया में, मैं जानता हूँ, जो अपनी सफ़ाई देने में गौरव मानते हैं। वे इस बात की परवाह नहीं करते कि उनकी सफ़ाई कोई

मानेगा भी ! पर मैं ऐसे व्यक्तियों में नहीं हूँ; क्योंकि इस वैधानिक जगत् में सफ़ाई देने की एक परम्परा है । उस परम्परा में इस बात की भी गुंजाइश है कि वह आदमी भी निरपराध सिद्ध हो जाय, जो वास्तव में अपराधी है । मैं इस परम्परा का दास नहीं हूँ !'

.. .. ..

जब लारी चली जा रही थी—

'मैं यह मानता हूँ कि ऐसे भी आत्मीय बन्धु मेरी अपनी दुनिया में हैं, जो मुझ पर कभी अविश्वास न करेंगे। उनके सामने तो मुझे अपनी मर्म-व्यथा प्रकट कर ही देनी चाहिए। पर जब तक मेरा मुख स्पष्ट रूप से उज्ज्वल न हो, उल्लास और चेतना की लाली उसके लिए शोभन न बन रही हो, मैं स्वयं आत्म-ग्लानि से जल-जलकर काला पड़ गया रहूँ, तब तक मेरा कोई सगा नहीं है ! ··पापी का कोई अपना नहीं होता !'

: २६ :

दिन बीत रहे थे और लाला गिरधारी की तबियत नहीं सुधर रही थी। लगातार उपवास चल रहे थे। ऐसा जान पड़ता था कि वे महीनों से बीमार हैं। वे इतने अशक्त हो गए थे कि सहारा लगाये बिना उठ न पाते थे। दाढ़ी बढ़ गई थी । आँखें गड्ढ़ों में धँसने लगी थीं। गाल पिचक गए थे। होठ सूख गए थे और उन पर पपड़ी जम गई थी। देखनेवाले लोग नित्य आते-जाते बने रहते थे। डॉ० मिश्रा, डॉ० तिवारी, डॉ० सक्सेना और डॉ० अरोड़ा उन्हें नित्य देखने आते। वे साथ बैठकर आपस में सलाह भी करते। मिक्सचर-पर-मिक्सचर, टेबिलेट्स-पर-टेबिलेट्स और इंजेक्शंस-पर-इंजेक्शंस चल रहे थे। पर लाला जी दिन-पर-दिन असाध्य होते जा रहे थे। सुरेश दिन-रात उनकी सेवा में बना रहता। कभी उन्हें बड़ी चाची देखने आतीं, कभी मझली। और शारदा की माँ का तो यह हाल था कि जब

उन्हें उठाया जाता तभी वे उनकी चारपाई की पाटी छोड़ती थीं।

पहले तो लालाजी चुप ही पड़े रहते थे; पर अब उनका मौन टूट गया था; कदाचित् इसलिए कि अब उनका दिल भी टूट गया था। वे कभी रोते न थे। पर अब प्रायः उनकी आँखें सजल हो आती थीं।

सुरेश लालाजी के पास ही बैठा था। लेटे-लेटे यकायक उन्होंने करवट बदले। बोले—"सुरेश भाई!"

इस स्वर में एक आह सम्मिलित थी। सुरेश ने अपना हाथ, उनके पतले—बाँस की खपच्ची हो रहे—हाथ पर रखते हुए उत्तर दिया—"हाँ, जीजा!"

"दिलीप नहीं आया?" इस प्रश्न में एक ऐसी व्यथा भरी हुई जान पड़ती थी, जो अगाध थी, जिसका अन्त नहीं था।

"नहीं आया जीजा! मैंने बहुत खोज की, पर कहीं उसका पता नहीं चला।" सुरेश का स्वर जैसे काँप रहा था। वह ऐसा उत्तर देना नहीं चाहता था, जिससे लालाजी को और भी अधिक दुःख हो! पर वास्तविक स्थिति के लिए वह विवश था। इस समय वह उनसे झूठ नहीं बोल सकता था।

"वह अभी नहीं आयगा सुरेश! मैं जानता हूँ।" इन शब्दों में एक रुदन भरा था। वह रुदन केवल आज का नहीं, उन पूरे तीन-सौ-पचास दिनों का था, जो मुरारी बाबू के स्वर्गवास के पश्चात् अब तक बीत चुके थे!

"शशिबाबू को बुलाओ सुरेश! बहू के लिए कुछ अपनी पसन्द के गहने तो बनवाता जाऊँ! पहनेगी तो यह तो न कहेगी कि चाचा ने मेरे साथ दुभाँत की!"

शारदा की माँ पास बैठी थीं। उसके बाद बड़ी चाची। अवगुण्ठन सँभालती हुई शारदा की माँ बोल उठीं—"सब बनते रहेंगे। पहले तुम अच्छे तो हो लो!"

"अरे कोई सँभालो मुझको!" गिरधारी लाला अत्यन्त व्याकुलता प्रकट करते हुए बोले—"म मृत्यु के मुँह में जा रहा हूँ और यह स्त्री, जो पतिव्रता होने का गर्व करती है, मेरी बात में दखल देती है!··· सुरेश

भाई, इससे कहो—चली जाय यहाँ से !"

सोनी तब तक उठकर चली गई थी।

कबूतर गुटुर-गूँ बोल रहा था।

शशिबाबू आ गए, तो लालाजी ने कहा—"दस तोले का हार, बीस तोले का ठोस मटर-माला। दस तोले की चूड़ियाँ, बारह तोले के कंगन और बीस तोले की पेटी।····पहले इतनी चीज़ें बनानी हैं। समय बहुत थोड़ा है शशि बाबू ! पता नहीं किस दिन विदा ले लूँ।···अरे ! दिलीप को बुलाओ सुरेश ! मेरे प्राण तब तक नहीं निकलेंगे, जब तक कि अपनी प्यारी-से-प्यारी साँस की आशीष उसे न दे लूँगा।"

कमरे में कानाफूसी हो रही है। शारदा की माँ बड़ी चाची से कह रही हैं—"ये हमको सब तरह से मिटाकर जायँगे !"

तभी गिरधारी लाला बोले—"सुरेश, इसको उठा तो दो यहाँ से। इसे पता नहीं कि दिलीप मेरे लिए क्या है !"

शारदा की माँ रोती हुई चल दीं, तब लाला जी बोले—"कितने का चेक दे दूँ शशि बाबू ?"

शशि बाबू ने हिसाब जोड़कर वतलाया—"फ़िलहाल सात हज़ार दिलवा दीजिए। बाद में हिसाब कर लिया जायगा।"

लाला जी बोले—"अलमारी से मेरी चेक-बुक निकालो सुरेश ! चाबी यह मेरे तकिया के नीचे रही।···और हाँ, पाँच तोले का टीका भी।"

एक चेक पर पहले से हस्ताक्षर बने थे। सुरेश ने उसी पर नाम तारीख और रुपये की संख्या लिख दी।

शशि बाबू जब चेक लेकर जाने लगे, तब उनकी आँखें भर आईं।

रात हो गई थी। हफ़्तों के लगातार जागरण से थककर, चूर-चूर होकर इधर-उधर कई लोग सो रहे थे। इसी समय दादा आ पहुँचे।

गिरधारी लाला ने जब सुना कि दादा आये हैं, तो वे पुलकित हो उठे। बोले—"आओ दादा! इधर मेरे पास निकल आओ। पहले तुम्हारे पैर छू लूँ। आशीष दोगे, कम-से-कम तब तो यह भूल जाओगे कि मैंने तुमको—

तुम्हारी पवित्र आत्मा को—कितना सताया है ! लाओ, कहाँ हैं तुम्हारे चरण!"

और सचमुच उन्होंने दादा के चरणों की धूल मस्तक से लगा ली।

"तुम्हारी तबियत तो ज़्यादा खराब हो गई गिरधारी ! मुझे बिलकुल पता न था। सब लोग काशी गये हुए हैं। अकेला होने के कारण मैं घर से निकल नहीं पाता। लक्षणा उसी समय सीढ़ी से गिर पड़ी थी ना जब तुम हमारे मकान के फाटक से बाहर हो रहे थे। अभी-अभी थोड़ी देर पहले गनी से मालूम हुआ कि तुम्हें उपवास चल रहे हैं और तुम···।"

दादा इतना ही कह पाए थे कि लालाजी भावावेश के कारण संज्ञा-हीन हो गए !

·· ·· ··

दादा के कन्धे पर अपने दायाँ हाथ रखे हुए गिरधारी कह रहे थे—"मैं समझता था दादा, दुनिया में जो-कुछ होता है, उसका कर्त्ता एक-मात्र मनुष्य है। पर उस दिन मेरा यह भ्रम दूर हो गया, जब मैंने सुना, पढ़ा और समझा कि दिलीप की जीवन-रक्षा में केवल भगवान् का हाथ था। मैंने जाना कि मनुष्य के क्षण-क्षण व्यापक कर्म पर एक-मात्र परम पिता का नियन्त्रण है।

दादा चुप थे। उन्हें अपनी आँखों पर आश्चर्य हो रहा था ! तब लालाजी बोले—"उस दिन मैंने आवेश में आकर कह डाला था—'अब मेरे जीते-जी यह सम्बन्ध न होगा !'

वे बहुत धीरे-धीरे बोल रहे थे। उनके शब्दों में कम्पन भरा हुआ था। और अन्तिम वाक्य कहते-कहते तो उनका कण्ठ भर आया।

दादा ने अपने रूमाल से लालाजी के आँसू पोंछे। फिर वे कहने लगे—"मैं जानता था गिरधारी, एक दिन तुम्हारे ऊपर बड़ी भारी प्रति-क्रिया होगी। और आज मैं उसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ !"

: २७ :

लारी से उतरकर जब दिलीप ताँगे पर बैठा स्टेशन की ओर बढ़ने लगा, तो कातर दृष्टि से इधर-उधर देखता हुआ वह बार-बार यही सोच रहा था कि अभी यहाँ से कोई-न-कोई व्यक्ति निकलेगा और संकेत से अपने साथ वाले से कहने लगेगा—'यही वह मुरारीबाबू का लड़का है जो बाढ़-पीड़ितों के चन्दे की रक़म साफ़ चट कर गया है!' उसने झट ताँगा खड़ा करवाया, सूट-केस खोला और उसमें से धूप का डार्क चश्मा निकाला और आँखों पर लगा लिया। बदला हुआ मनहूस अटैची-केस वह जान-बूझकर विक्रमपुर में छोड़ आया था। कालीचरन कहीं उससे पूछ न बैठे, इसलिए उसने उससे कह भी दिया था कि इस अटैची-केस को अब साथ नहीं रखना है। ताँगा जब पुनः चलने लगा, तो दिलीप को अपनी इस अभिनय-वृत्ति पर स्वयं तरस आ गया! वह सोचने लगा—'मैं इस तरह कब तक छिपता रहूँगा! पर ज़मीन-जायदाद के मालिक चाचाजी हैं, मुझे क़र्ज़ में कौन रुपया देगा?' कभी-कभी उसे सुरेन्द्र का ध्यान आ जाता। पर तब उसको यह सोचकर और भी दुःख होता कि गम्भीरतापूर्वक न सही, पर व्यंग्य-विनोद में तो वह कोई बात उठा न रखेगा! साहस के नाते वह अब इतना दुर्बल हो गया था कि ग़बन के आरोप की बात हास-परिहास में भी उसके लिए असह्य हो उठी थी। ताँगे से उतरकर जब वह स्टेशन पर का पुल पार करने लगा, तब भी वह अपने चारों ओर सशंक दृष्टि से देख रहा था।

अब संध्या हो गई थी और मुगलसराय जानेवाली पार्सल-एक्सप्रेस खड़ी धुआँ उगल रही थी। वेटिंग-रूम के अन्दर जब वह पहुँचा, तो एक सरदारजी बाथ-रूम से नहा-धोकर लौटे थे और अपने बढ़े हुए केशों को बाँधकर उनमें कंघा खोंस रहे थे।...कुर्सीनशीन एक साहबबहादुर, अपनी दोनों टाँगें पसारे हुए, टेबिल का मान बढ़ा रहे थे! एक नवदम्पति होल्डाल फैलाये हुए, उसी पर आमने-सामने बैठे, 'बिहारी-सतसई' की व्यावहारिक व्याख्या में कुछ प्रगति करने की बात सोच रहे थे!...एक महाशय, जिनके

नाम के साथ 'प्रोफ़ेसर' शब्द की अगाड़ी और पी० एच० डी० की पिछाड़ी जुड़ी हुई थी, जैसा कि उनका सूटकेस बतला भी रहा था, केशों की मोड़ सँभालने के सिलसिले में, दर्पण के सामने खड़े होकर इतमीनान से अपनी वह शक्ल देख रहे थे, जिस पर कभी उन्हें बहुत नाज़ था !

चिन्ताशील मन को चुपचाप सँभाले हुए दिलीप भी जब इसी समुदाय में सम्मिलित हो गया, तो होल्डाल पर बैठकर हाथ-घड़ी उतारता हुआ वह बोल उठा—

"सुनो कालीचरन, सुख के दिनों में सभी सहायक हो जाते हैं। उस समय जब किसी से कोई चीज़ माँगी जाती है, तो वह उसे मिल जाती है। अगर कभी नहीं मिलती, तो भी आदमी उसे सहन कर लेता है। पर संकट-कालीन अस्वीकृतियाँ घावों पर नमक छिड़क देती हैं ! फिर हमें दुर्भाग्य से लड़ना है। जाओ, मेरी यह घड़ी बेच आओ ! हमने विक्रमपुर में बेकार समय बरबाद किया। हमको तो सबसे पहले अपना ऋण चुकाने का उपाय करना चाहिए। उसके बिना हम संसार में मुँह दिखलाने योग्य नहीं रहेंगे।"

कालीचरन यों भी दुखी था। रुँधे हुए कण्ठ से बोला—"छोटे सरकार, घर पहुँचकर भी आपको घड़ी बेचने की सूझ रही है !"

"बको मत कालीचरन ! जो मैं कहता चलूँ, उसे तुम चुपचाप, आँख मूँदकर करते चलो, बस।" दिलीप का इतना कहना था कि कालीचरन उठकर तैयार हो गया। बोला—"अच्छी बात है, जो आप हुकुम देंगे···"

"यह हुकुम देने और उसे बजाने की बात नहीं है कालीचरन ! बात सिर्फ़ इतनी है कि मैं दुर्भाग्य से लड़ना चाहता हूँ। मैं होनहार-रूपी नागिन से खेलना चाहता हूँ। याद करो वे दिन, जब बापू का यह महा देश हिंसा के विरुद्ध अपनी अहिंसा के द्वारा लड़ा था। हम भी तो उन्हीं की संतान हैं। ···जाओ देर मत करो !" कहते-कहते दिलीप ने कालीचरन को अपनी रिस्ट-वाच दे दी।

कालीचरन जब चलने लगा, तो दिलीप ने फिर कहा—"हाँ···और सुनो कालीचरन ! इस घड़ी की बॉडी सोने की है। बाबू ने दो सौ पिचासी

में खरीदी थी। डेढ़ सौ से कम नहीं मिलेंगे। समझे ?···तो बस जाओ !"

दिलीप को वे क्षण याद आ रहे थे, जब घड़ी बाँधते हुए उसे कितनी प्रसन्नता हुई थी ! पर वह अपने में आज भी एक उत्साह देख रहा था। वह बार-बार सोचने लगता था, हम एक उद्देश्य को सामने देखते हुए चल रहे हैं।

कालीचरन जब लौटा, तो वह बड़ा प्रसन्न था। बोला—"छोटे सरकार, काम बन गया ! मैं जिस घड़ी की दुकान पर गया, वहाँ और भी कई ग्राहक बैठे थे। दुकानदार बड़ा सयाना था। घड़ी देखकर बोला—'सिर्फ़ सोने के दाम दे सकता हूँ, और उसने सौ रुपये देना मंज़ूर किया। मैंने कहा —"डेढ़ सौ से कौड़ी कम न लूँगा।" इस पर जब वह इधर-उधर करने लगा, तब मैं वहाँ से चला आया। फिर सड़क पर आते ही क्या देखता हूँ कि उस दुकान का एक ग्राहक, मेरे पास झट से आकर, कह रहा है—"ज़रा वह घड़ी मुझे भी दिखाना।" मैंने घड़ी जो उसे दी, तो पास की एक दूसरी दुकान की रोशनी में उसे इधर-उधर देखकर, खोलकर, बन्द करके, उसने झट मुझे डेढ़ सौ रुपये दे दिए।"

"सचमुच तुमने बड़ी चतुरता से काम लिया।" उत्तर के साथ रुपये लेकर दिलीप ने पुनः कालीचरन को ही लौटा दिए। केवल पाँच रुपये अपनी जेब में रख लिए। इतमीनान से उसने स्नान-भोजन किया और कालीचरन से कह दिया—"तुम बाज़ार से खा आओ, जो जी में आय।"

इस तरह होते-करते नौ बज गए। अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि जाना कहाँ होगा ? ···'सुधीर आजकल बलिया में डिप्टी-कलेक्टर है और राधाविनोद सहारनपुर में डिप्टी-इंस्पेक्टर। श्याममनोहर दरभंगा में कहीं शुगर-कैमिस्ट और कामेश्वर जबलपुर में प्रोफ़ेसर। पार्वतीनन्दन काशी में डिप्टी-जेलर है और रघुनाथराव झाँसी में वकालत करने लगा है।' पहले जब मन में आया, इनमें सबसे अधिक सम्पन्न तो श्याममनोहर है, तब दिलीप के दाँत होठों पर आ गए।—'मेरे अन्दर भी उसी का मान अधिक है—जो पैसेवाला है ! मैंने पहले यह क्यों नहीं सोचा कि कौन

सबसे अधिक ज़िन्दादिल है ? तब सुधीर सामने आ गया। शक्ल देखते ही शोर मचा देगा—"आओ फ़िलॉसफ़ी के वट-वृक्ष !—आओ सनकी नंबर एक-बटे-दो। आओ एकान्तवासी योगी" !'

मन की दुनिया में ये बेतार के तार भी खूब मजा पैदा करते हैं !

तत्काल ध्यान आ गया—'काश इनमें से यह भी कोई कहनेवाला होता—आओ युवा संन्यासी !'

···'अच्छा, अगर हम अभिधा दीदी के यहाँ जा लगें ? मगर उनका पता-ठिकाना भी मालूम हो ! व्यंजना से यह भी न पूछते बना कि अभिधा दीदी का पता क्या है ? कोई हर्ज नहीं, हम पहले पी० एन० के यहाँ ठहरेंगे। फिर दीदी का पता भी लगा लेंगे। किसी इंटर कालेज में टीचर हैं।··· क्या बकते हो ! टीचर नहीं, प्रिंसिपल हैं।'

दूसरे दिन जब दिलीप पी० एन० के यहाँ पहुँचा, तो दोपहर हो गई थी और डेढ़ बज चुका था। नाश्ता वह जँघई में खूब डटकर कर चुका था। फिर भी पी० एन० के यहाँ उसे नाश्ता ही मिला; क्योंकि रसोई बढ़ाई जा चुकी थी और संयोग की बात कि श्रीमती पी० एन० के पेट में मांगलिक पीड़ा उठ रही थी ! अपने ही गढ़े शब्द 'मांगलिक पीड़ा' पर दिलीप मुसकराने लगा !····'लो सँभालो इनको ! पीड़ा, भी मांगलिक होती है इनको !'

पी० एन० की यह हालत देख दिलीप मन-ही-मन खूब हँसा ! चाय वह सवेरे से अब तक तीन बार ले चुका है, उसे स्पष्ट रूप से पी० एन० से कहना पड़ा—'महराजिन ने जल्दी में कुछ ऐसी पकौड़ियाँ बना दी थीं, जिनका तेल सूख नहीं पाया था। लेकिन रसगुल्ले जो बाज़ार से आये थे, वे बड़े दमदार थे।' दिलीप ने उन्हीं से संतोष किया।

श्रीमतीजी के कारण पी० एन० स्वयं चिन्तित था; फिर भी वह प्रसन्नतापूर्वक मिला। दिलीप को देखते ही बोला—"आओ मुनि याज्ञवल्क्य, कहो कैसे दिन कट रहे हैं ?"

दिलीप ने उससे कुछ नहीं छिपाया। सारा कच्चा चिट्ठा उसे एकांत में बता दिया। सुनकर पी०एन० अपनी स्पष्ट सम्मति छिपा न सका। बोला

—"तुम ग़लत रास्ते पर जा रहे हो ! पाँच हज़ार रुपये तुम्हारे लिए क्या चीज़ हैं ? किसी से भी तुम्हें क़र्ज़ में मिल सकते हैं। और अगर तुम यह सोचते हो कि दो साल में भी किसी नौकरी में, सारा खर्चा निकालकर पाँच हज़ार रुपये बचा लोगे, तो तुम्हारे दिमाग़ का कोई स्क्रू ढीला पड़ गया है ! फिर मान लो, रो-झींककर तुमने पाँच हज़ार रुपये इकट्ठे भी कर लिए, तो दो वर्ष में चारों ओर फैल जाने वाली अपकीर्ति को तुरन्त कैसे धोओगे ?"

बात कुछ दिलीप के विवेक को स्पर्श कर रही थी। फिर भी अभी उसकी उत्तेजना कम नहीं हुई थी। तत्काल उसके मुँह से निकल गया—"पैसे से सम्बन्ध रखनेवाली कीर्ति और अपकीर्ति की आयु केवल तीन मिनट की होती है ! सौदा तै हो गया, एग्रीमेंट लिख लिया गया, अथवा आवेदन-मन्तव्य स्वीकृत हो गया, बात एक ही है। फिर भुगतान हो गया; चेक में हुआ तब तो और भी जल्दी हो गई। अन्यथा रुपया सँभाल लिया गया और रेवन्यू-स्टैम्प लगी हुई रसीद पर हस्ताक्षर कर दिए गए। बस; खेल खत्म हो गया।

वाद-विवाद की बात मैं नहीं करता; लेकिन निश्चय की स्वीकृति का काम समाप्त करने में केवल तीन मिनट लगते हैं। और मैं कहता हूँ—इन्हीं तीन मिनटों में ताजमहल ख़रीदा जा सकता है ! लेकिन विश्व-भर की सम्पदा बापू के बलिदान को नहीं खरीद सकती। मैं जो आज इधर-उधर भटक रहा हूँ, उसका कारण मेरी लाज है। मैं अपराध के उस आरोप को भी सहन नहीं कर सकता, जो मैंने किया तो नहीं, लेकिन मेरी ज़िम्मेदारी में हो गया है। मैं पूछता हूँ, रुपये चुका देने के बाद फिर ऐसा कौन माई का लाल होगा, जो मुझ पर अविश्वास करेगा ?"

पी०एन० पेंसिल को मत्थे पर टेके हुए था। वह यकायक मुसकराने लगा और बोला—"जल्दी मत करो। बहुत दौड़कर मत चलो। बात कहने से पहले, सोच लो कि हम क्या कह रहे हैं और काम करने से पहले सोच लो कि हम क्या कर रहे हैं। यह तुमने क्या बात कही कि ताजमहल खरीदा जा

सकता है ? मेरी मान्यता है कि ताज के साथ जो ऐतिहासिक गौरव है, उसे कोई नहीं खरीद सकता !"

"अच्छा जी, बहस करने पर तुल ही गए आख़िर !" दिलीप कुछ विस्मय और व्यंग्य के साथ बोला—"स्वागतम् ! लेकिन आप मेरा अभिप्रायः नहीं समझे । ताज के साथ बड़ा भारी ऐतिहासिक गौरव है, मानता हूँ । लेकिन उस गौरव का मूलाधार है वह राजकीय सम्पत्ति, जो प्रजा की होती है । शाहजहाँ ने वह सम्पत्ति अपने एकाधिकार का उपयोग करके लगाई होगी । और इस एकाधिकार के साथ भारत की तत्कालीन प्रजा की कोई स्वीकृति भी न रही होगी । इस प्रकार ताज मुगल-सम्राट् शाहजहाँ के पत्नी-प्रेम का प्रतीक तो बाद को है, राजकीय सम्पत्ति के स्वच्छन्द उपभोग का प्रतीक वह पहले है । और जहाँ तक उपभोगात्मक प्रतीक का सम्बन्ध है, ताज को न मैं अन्तिम समझता हूँ, न अमूल्य । वह अमिट और अविनश्वर नहीं है । यदि समय-समय पर उसके संरक्षण की व्यवस्था न हो, तो प्रकृति के निर्मम आघात, कालान्तर में, उसे खँडहर और फिर साधारण धरती का रूप भी दे सकते हैं ! लेकिन सन् सैंतालीस के पन्द्रह अगस्त के बाद आनेवाली सन् ४८ की तीस जनवरी का ऐतिहासिक गौरव अमर रहेगा ।"

"तब मैं कहना चाहता हूँ कि जिन लोगों ने बाढ़-पीड़ित जनता के लिए सैकड़ों-हज़ारों रुपये तुमको मिनटों में उठा दिए, वे यह नहीं जानते थे कि दिलीप एक बिलकुल असहाय युवक है । कुसमय में उस पर यदि ऐसा कोई संकट आ पड़े, तो वह उसका निर्वाह भी न कर पायगा ! मान लिया, वर्ष-दो-वर्ष बाद तुमने रुपये चुका भी दिए । पर जिस जनता की जीवन-रक्षा के लिए वह रुपया दिया गया, उस जनता के दुःख-दर्द भी क्या तब तक लटके रहेंगे ! मेरी समझ से तुमने रुपये का तुरंत भुगतान न करके इतनी भारी भूल की है, जिसका संशोधन असम्भव है । लेकिन अब इस सम्बन्ध में देर मत करो । पाँच हज़ार रुपये तुम मुझसे ले जाओ—आज, अभी, इसी क्षण ! जब तुम्हारी इच्छा हो तब दे देना । बस ? हालाँकि मुझे ये रुपये

था। उसी दशा में, अपना काला मुँह लेकर, मैं तुम्हारे पास न आ सका! यद्यपि अब मैं सोचता हूँ कि किसी पापी को माँ के सामने जाने में कभी संकोच नहीं होना चाहिए। जो हो, जनता का विश्वास ही मेरे प्राणों की एक-मात्र निधि है। उस विश्वास को मैं कैसे खो सकता हूँ! दुनिया में चाहे जो-कुछ होता रहे; किन्तु बापू की यह वाणी मैं कैसे भूल सकता हूँ कि निरन्तर विपत्तियाँ भोगना और सत्य का पालन करना ही भगवान् के निकट पहुँचने का एक सीधा और सच्चा मार्ग है। मुझे उनके वे वचन कभी नहीं भूल सकते, जिनमें उन्होंने कहा था—

'मुझे यह कहते हुए बड़ा आनन्द होता है कि अनेक बार संकटों के अवसर पर ईश्वर ने मेरे को बरबस बचा लिया है। जब चारों ओर से आशाएँ छोड़ बैठने का अवसर आ जाता है, हाथ-पैर ढीले पड़ने लगते हैं, तब कहीं-न-कहीं से उस परम पिता की रक्षा का हाथ मेरे सिर पर आ ही जाता है!'

सो आज उसका हाथ जब मेरे सिर पर आ गया, तभी बाढ़-पीड़ितों के सहायतार्थ मिली हुई वह सम्पूर्ण निधि चैक द्वारा मैं आपके पास भेज पा रहा हूँ। विलम्ब तो हो गया। पर एक अबोध सन्तान समझकर, आशा है, सम्बन्धित जनता की ओर से तुम मुझे क्षमा कर दोगी।

तुम्हारा एक दुखी पुत्र—
दिलीपकुमार।"

इस पत्र की शब्दावली की बातें सोचता हुआ वह दिन जोड़ने लगा, कितने दिन हो गए इस घटना को हुए!

कालीचरन साथ में था और पीछे-पीछे चल रहा था। दशाश्वमेध घाट पर आकर दिलीप सीढ़ियाँ उतरने लगा। एक साधु सिर नीचा किये हुए शीर्षासन की दशा में था। कुछ लोग उसे घेरकर खड़े हुए थे।…एक साधु खंजड़ी बजाबजा कर गा रहा था—"मेरे जनम-मरण के साथी—तोहिं ना बिसरूँ दिन राती।" कई लोग नहा रहे थे और एक वेश्या बजरे से सदल-बल उतर रही थी।

"जनम-मरण के साथी!" दिलीप सोचने लगा—'लक्षणा ने कहा

था—'मैं छाया की भाँति तुम्हारे साथ रहना चाहती हूँ !'

मन्दाकिनी मन्द-मन्द बह रही थीं। सामने कुछ लोग नावों पर बैठे इधर-से-उधर आते-जाते दिखाई दे रहे थे। दिलीप बोला—"क्या इरादा है कालीचरन ? नाव पर चलेगा, घूमेगा थोड़ी देर ?"

कालीचरन बोला—"ज़रूर छोटे सरकार !" वह इस समय बड़े उत्साह में था।

दोनों एक नाव पर बैठ गए। केवट ने पूछा—"कहाँ ले चलें बाबू साहब ?"

"बस, जितने भी घाट हैं मैया के किनारे-किनारे, एक साथ सब दिखा दो केवट ! लेकिन पहले बाईं ओर, फिर दाईं ओर।" दिलीप जब बोला, तब उसकी दृष्टि उन नावों पर भी जा रही थी जो निकट से बहती हुई दीख पड़ रही थीं।

• • • • • •

"इधर कई दिनों से मुझे कुछ ऐसे स्वप्न दिखाई दे रहे हैं भाभी, जिनसे मैं एकाएक घबरा जाती हूँ। एक तरह का डर-सा लगने लगता है मुझे। कुछ कह तो नहीं पाती, लेकिन प्राण काँप-काँप उठते हैं !"

"जिन लोगों का हृदय बहुत कोमल और भाव-प्रवण होता है, वे बड़े ही कल्पनाशील होते हैं। और स्वप्न अन्तर्मन से खेलने वाली आशंकाओं से युक्त कल्पना का एक रूपान्तर-मात्र है।"

"मुझे तो कुछ ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे किसी भारी संकट में हों। एक दिन मैंने क्या देखा कि मैं बीमार हूँ। वे मेरी चारपाई के पास आ बैठे हैं। उनके हाथ में एक अखबार है। उसको दिखलाकर वे कह रहे हैं—"ज़रा देखो तो लक्षणा, यह क्या है ?"

…और मैं क्या देखती हूँ कि उनका फ़ोटोग्राफ़ छपा है। उसके नीचे लिखा है—'यह युवक एक घटना-चक्र में पड़कर, अपने घर और समाज को छोड़कर, कहीं अज्ञातवास कर रहा है। इसकी नाक के ठीक ऊपर, दोनों भौहों के बीच, तिल के समान एक चेचक का दाग़ है।'…भाभी, कहीं ऐसा

अपनी होम-गवर्नमेंट के एकाउंट से लेने पड़ेंगे; लेकिन वह सब मैं कर लूँगा।"

इस कथन में 'होम गवर्नमेंट' शब्द का प्रयोग करते क्षण पी० एन० की मुसकराहट ने दिलीप को कम प्रभावित नहीं किया। वस्तुतः वह पी० एन० से ऐसे सद्भावपूर्ण उत्तर की आशा नहीं करता था। बात-की-बात में जैसे उसकी आँखों पर एक नशा-सा उतर आया हो! उसे ऐसा मालूम पड़ा, जैसे जलाशय में डूब जाने के बाद वह एकदम से तट पर ही नहीं आ पहुँचा, बल्कि उसकी साँस भी चलने लगी है! जीवन में कभी उसने पैसे का इतना अधिक मूल्य नहीं समझा था, जितना इस क्षण वह अनुभव कर रहा था। एकाएक उसके सारे शरीर में एक बिजली सी दौड़ गई और दूसरे ही क्षण उसके मुँह से निकल गया—"लाओ, पाँच हज़ार एक सौ सत्ताइस रुपये का चेक काट दो। मैं पहले रजिस्ट्री कर आऊँ, तब उसके बाद गंगा-स्नान करने जाऊँगा।"

दस मिनट में यह संकट टल गया। रजिस्टरी के लिए दिलीप स्वयं ही गया। पी० एन० ने बहुत कहा कि सरजू कर आयगा। तुम बेकार तकलीफ़ करते हो। पर दिलीप बोला—"नहीं, मुझे स्वयं ही जाने दो।"

थोड़ी देर में जब दिलीप लौटकर आया तो उसकी आँखों में आँसू भरे हुए थे। रुद्ध कंठ से उसने कह दिया—"तुम्हारा यह अहसान मैं जीवन में कभी नहीं भूलूँगा पी० एन०!"

पी० एन० हँसने लगा। बोला—"कोई बात नहीं दिलीप! जीवन में कभी-कभी ऐसे प्रसंग आ ही जाते हैं। मैं भी वह दिन नहीं भूला, जब पिता-जी का मनीऑर्डर नहीं आया था और वाइफ़ की बीमारी का तार आने पर परिस्थिति नाज़ुक देखकर, तुमने बिना माँगे मुझे सौ रुपये का एक हरा नोट टिका दिया था!"

'समस्या के समाधान का बल देकर दिलीप सोचने लगा—'पी० एन० ने मेरी आँखें खोल दीं। वीर-से-वीर और बुद्धिमान व्यक्ति भी कितना अपूर्ण, कायर, मूर्ख और असहाय है, यदि वह अकेला है और समाज का बल उसे प्राप्त नहीं है। जिन बाढ़-पीड़ितों की जीवन-रक्षा की चिन्ता मेरे क्षण-क्षण

के चिन्तन का विषय थी, उनको मैंने केवल होनहार—केवल अनिश्चित भविष्य—पर छोड़ दिया ! सहायता का रुपया समाज का था, उस समाज का, जो मुझ पर विश्वास करता है। जब वह रुपया मेरे हाथ से निकल गया, तब मने उसको अपनी व्यक्तिगत हानि का रूप क्यों दे दिया ! उस रुपये से जिस जनता का हित-साधन होता, उस जनता की हानि का ध्यान मैंने क्यों नहीं रखा ? अपनी जायदाद का एक स्वामी होकर भी मैंने उसका उपयोग इस अवसर पर क्यों नहीं किया ? माना कि सारी सत्ता चाचाजी के हाथ में है। माना कि साधारण रूप से वे कभी मेरा हित नहीं देखते। पर उस हित की ओर देखने को क्या उन्हें विवश नहीं किया जा सकता !'

'कुछ नहीं जी, ये सब व्यक्तिवाद और अहंवाद के खेल हैं। और संकट के समय साधु और भावुक आदमी भी मूर्ख, कायर, भीरु और अकर्मण्य हो जाता है !

उसे अपनी स्थिति पर तरस आ गया और वह सोचने लगा कि 'इसी बल पर मैं होनहार से लड़ने चला था ! आदमी कितने भ्रम में रहता है।'

अब क्षण-क्षण पर वह सर्प-दंश-जैसा अनुभव कर रहा था। प्रत्यक्ष रूप से वह मौन था, पर उसके अन्दर भट्ठियाँ धधक रही थीं !...अभी तो कई दिन लगगे दीदी के पास चेक पहुँचने में। तब तक पता नहीं क्या-क्या हो जाय ! दीदी को चेक के साथ उसने जो पत्र लिखा, वह संक्षिप्त किन्तु मार्मिक था। उसकी शब्दावली इस प्रकार थी—

काशी

ता० ११-८-५१

"मेरी प्यारी माँ,

तिकुनवाँ-स्टेशन पर मुझे मृत्यु का जो निमंत्रण मिला था, उसकी चर्चा समाचार-पत्रों में आ चुकी है। उससे तुम अब तक पूर्ण अवगत हो चुकी होगी। उसके बाद फिर तत्काल मुझे नियति का दूसरा निमंत्रण मिला और अज्ञानावस्था में उसने मेरा गला घोंट डाला ! अब दशा यह है कि केवल साँस ले रहा हूँ। जिस अटैची-केस में सहायता-कोष के रुपये थे, वह बदल गया

दूसरी नाव में हलचल मच गई। संकेत भाषा का भार वहन कर रहे थे। भाषा संकेतों का अवलम्ब ले रही थीं। शब्दों की सीमाएँ सिमिट रही थीं। अस्त-व्यस्त वेश-विन्यास सांस्कृतिक तल पर आ गए थे।

"मैया की गोद इतनी संकुचित नहीं भाईसाहब कि एकान्त का आग्रह बहन के लिए ईर्ष्या का विषय हो!··· वैसे कोई बात न थी। पर बहन का जब ऐसा आग्रह है, तब भाई को उसका मान भी करना चाहिए!"

लक्षणा लेटी हुई थी और उसका मुख तटवर्ती मंदिरों और घाटों की ओर न होकर उसके प्रतिकूल था। दिलीप उसे स्पष्ट रूप से देख न सका। और अभिधा और शेफाली से तो वह पहले से परिचित भी न था। अतएव तरंगित दिलीप बोला—"हिंदू संस्कृति की प्रतीक इस महा नगरी में युग-युग से बिछड़े भाई-बहन अगर मिलने का संयोग भी पायँ, तो बहनें झट अनुशासन का अवलम्ब ग्रहण करके उन बन्धुओं को दूर भगा दें, मैं बाबा विश्वनाथजी से कहूँगा, यह बात मुझे कुछ जँच नहीं रही है!···वैसे कोई बात न थी, पर जेठी-बड़ी बहन जब अपने छोटे भैया के विनयपूर्ण कथन को, उसके भोले बाल-हठ को, थोड़ा भी लाड़-प्यार न देना चाहे, तब मैं कैसे समझूँ कि हमारी सभ्यता अभी जीवित है!"

एक बार फिर सन्नाटा छा गया। बड़े कुतूहल और उल्लास से ये कथोपकथन चल रहे थे। शेफाली चकित थी और अभिधा को भी इस नगर में रहते बीस वर्ष हो चुके थे; पर अब तक नौका-विहार में उसको भी ऐसा कोई संयोग न मिला था।

लक्षणा को कुछ-कुछ सन्देह हो रहा था; पर वार्तालाप के बीच में बोल उठना उसने उचित नहीं समझा। लेकिन अब भाभी और दीदी दोनों को निरुत्तर देखकर उसे उठना पड़ा। वह सँभलकर बैठ गई और दिलीप की ओर इकटक देखती हुई बोली—"सभ्यता जीवित न होती, तो भाई बनकर तृषित नयनों की साध मिटाने के लिए, यहाँ हम लोगों के बीच, अचानक कूद न पड़ते छद्मवेशी युवा संन्यासी!"

शेफाली और अभिधा ने तत्काल ताली बजा दी! दिलीप ने धूप का

चश्मा उतार लिया। लक्षणा मुसकान-माधुरी बिखेरती हुई संकुचित होकर दीदी की ओर घूम गई। शेफाली ने अवगुण्ठन थोड़ा और मस्तक तक खींच लिया। लेकिन दीदी बहुत आश्चर्य में पड़ गई। पर लक्षणा को मदिर हास के झकोर में देख उन्होंने उसी से जो धीरे से पूछा—"अपना दिलीप तो नहीं है री लक्षणा ?" लक्षणा ने शब्दों में तो कोई उत्तर न दिया, पर अधर, नासापुट और नयन उसके जैसे एक साथ विकसित, अस्थिर और नमित होकर कह उठे—"हाँ-हाँ, वही-वही।"

Patwar

: २८ :

अभिधा के स्वामी मुनीश्वर बाबू जीवन में बहुत सफल व्यक्ति हैं। उनका व्यक्तित्व ही नहीं, समस्त कार्य-व्यवहार भी सदा द्रुत गति, तीव्रता, हलचल और तूफ़ान का परिचय दिया करता है। कॉलेज खुलता है प्रायः नौ जुलाई को, लेकिन यदि कोई विद्यार्थी उस दिन नवीं श्रेणी से लेकर बारहवीं श्रेणी में प्रवेश करने जाय, तो उसे सिनेमाघर की भाँति 'हाउस फुल' मिलेगा। फिर जैसे बालकनी का दो रुपये वाला टिकट चार रुपये में, वैसे ही दौड़ो बड़ी-से-बड़ी सिफ़ारिश लेकर या अपना प्रमाण-पत्र दिखलाकर यह सिद्ध करो कि हमने प्रथम श्रेणी प्राप्त की है और हमको साइंस या इंगलिश में डिस्टिंक्शन मिला है। तात्पर्य यह कि साधारण विद्यार्थी वहाँ प्रवेश ही नहीं कर सकता। उनकी दृष्टि में यह संसार केवल असाधारण व्यक्तियों के लिए बना है। वे जब भोजन करने बैठते हैं, तो रोटी उलट-पुलट कर देखते हैं, फिर उसे फ़र्श पर पटककर अभिधा से पूछते हैं, इसमें कोई नवीनता क्यों नहीं है ? रोज़-रोज़ रोटी-रोटी-रोटी ! सो भी हमेशा एक सी ! क्यों जी, इसमें कोई प्रगति नहीं हो सकती ? कभी चना-पिट्ठी मिलाकर बनाओ, कभी उड़द या मूंगपिट्ठी। कभी सत्तू भरकर बनाओ, कभी आलू या कभी घिया तोरई भरकर। ऐसा क्रम रखो कि सप्ताह-भर तक तो

तो नहीं है कि वे····!"

"इस अवस्था की कुमारी युवतियों के नयनों से, मैया की देह पर, जब आँसू ढुलकते हैं, तब माता अन्नपूर्णा दुखी होती है लक्षणा! कम-से-कम इतना तो ध्यान रखा कर।"

"क्या-क्या ध्यान रखूँ दीदी? स्वप्नावस्था में मेरा बस ही क्या रह जाता है! उस समय अनायास जो देखती हूँ, काश, तुम जान सकतीं कि चेतन अवस्था में उसे कितना भुलाकर रखती हूँ!"

"हम उन्हें भुलाने के लिए नहीं कहतीं रानी बिटिया! हमारा कहना तो केवल यह है कि बहुतेरे दुःख वास्तव में वैसे कुछ होते नहीं, जैसा हम उन्हें सोच-सोचकर बना और बढ़ा लेते हैं।···एक दिन तुम्हारे जीजा बतला रहे थे कि जो बच्चे हमको जितने अधिक प्यारे होते हैं, जब वे हमसे दूर होते हैं, तब उनके सम्बन्ध में हम उतनी ही अधिक अमांगलिक आशंकाएँ करने लगते हैं। उनके कुशल-क्षेम की तीव्र भावना के प्रति सशंक रहना भी तो हमारे प्रेम का ही एक लक्षण होता है।"

अभिधा का इतना कहना था कि लक्षणा संकुचित हो उठी। झीना रेशमी रूमाल उसने अपने मुँह पर डाल लिया, तो पवन के वेग के साथ वह फर-फर उड़ने लगा।

तीनों अब गंगा के तट पर बसी काशी की शोभा देख रही थीं। शेफाली नें अपने तकिये को लक्षणा की ओर बढ़ाते हुए अभिधा से पूछा—"दीदी, ये मंदिर और घाट, जो पचासों वर्षों से यहाँ चुपचाप खड़े हैं, ये भी किसी विशेष दिन, अवसर और क्षण की प्रतीक्षा में होंगे!"

"पर अब उनकी वह प्रतीक्षा पूर्ण हो चुकी है।" अभिधा बोली—"पहली सीढ़ी पर ही जब शेफाली रानी ने अपने गुलाबी चरण रख दिए थे; तभी इन सब देव-मंदिरों ने शंख-ध्वनियों से उनका अभिषेक किया था!"

"मैं व्यंग-विनोद की बात नहीं करती दीदी! मुझे सचमुच ऐसा जान पड़ता है, जैसे इन घाटों और मंदिरों के अन्दर प्रवेश करने पर श्रद्धा और अर्चना की भावना जो हमारे मन में उत्पन्न होती है, वह भी केवल इसलिए

कि हम दुखी हैं, उलझनों से स्त हैं और इन दुःखों तथा संकटों से मुक्त होने के लिए हमें उस महाशक्ति का अवलम्ब चाहिए, जो अदृष्ट है, किन्तु अपनी कल्पना के अनुसार जिसको हम इन देवस्थानों में अनुभव करने का अवसर पाते हैं।"

जब ये बातें हो रही थीं, तब एक दूसरी नाव भी उसके समानान्तर लगी हुई आगे बढ़ती जा रही थी।

.. .. ..

उस पार का आकर्षण प्रायः सबको होता है। विशेष रूप से तब, जब हम आत्मलीन होते हैं और इधर-उधर न देखकर केवल अपने-आपको देखते हैं। इस पार, जन-समूह में, अपने को देखने का अवसर प्रायः कम मिलता है।

उस पार धारा के भीतर, तट से लगी, दो नावें खड़ी थीं, जिनमें से एक में अभिधा, लक्षणा तथा शेफाली बैठी हुई थीं। अभिधा बोली—"ए केवट इनसे कह दो, अपनी नाव कहीं दूर जाकर लगायँ। यहाँ हम एकान्त के लिए आए हैं।"

दिलीप की आँखों पर धूप का चश्मा चढ़ा हुआ था। उसकी दाढ़ी भी अब काफ़ी उग आई थी। केशव दिलीप की स्वच्छन्द प्रकृति से परिचित था, इसलिए न उसने कभी टोका, न दिलीप ने कभी इस ओर ध्यान दिया। फिर अन्तर्मन से वह जैसे यही चाहता भी था कि झटपट मैं कुछ ऐसा बन जाऊँ कि सहसा कोई मुझे पहचान न पाय। इसका एक कारण यह भी था कि एक बार दिलीप डेढ़-दो साल तक दाढ़ी रखा भी चुका था। कदाचित् इसी-लिए पी० एन० ने भी इस विषय में उससे कुछ नहीं कहा था। इसके सिवा नई उगती हुई दाढ़ी में दिलीप ज़रा भी अशोभन नहीं प्रतीत होता था। बल्कि गेरुआ वस्त्र धारण कर लेने पर कोई भी उसे ब्रह्मचारी अथवा कुमारयोगी कह सकता था। तब दिलीप ने उत्तर दिया—

"मैया की गोद में एकान्त का आग्रह केवल भाई से ईर्ष्या रखने के कारण सम्भव हो सकता है बहन!"

खाना भी मैं पेट भर नहीं खा पाती !"

आँसुओं से भीगी इस मर्म-व्यथा को सुनकर मुनीश्वर बाबू को बड़ा दुःख और आश्चर्य हुआ। मुसकराते हुए वे बोले—"तुम बिलकुल पगली हो अभिधा रानी। ऐसी बात थी तो तुमने मुझसे कहा क्यों नहीं ? मन में ऐसा कुछ चुरा के रखना, जो दुःख का हेतु हो, और फिर उसको स्वामी से छिपाना मन के रोग का ही लक्षण है। खैर, कोई बात नहीं। आज से तुम इन कर्तव्यों से मुक्त हो।"

अभिधा स्वामी के इस व्यवहार से बहुत प्रसन्न हुई। पर दो दिन बाद वे एक अपटुडेट युवती साथ ले आए और बोले—"अब से बच्चों की देख-रेख यह गवर्नेस करेगी। यह उनको शिक्षा देगी, उनका रहन-सहन परिष्कृत करेगी और साथ ही उनके स्वास्थ्य की भी व्यवस्था रखेगी।"

अभिधा को कम आश्चर्य नहीं हुआ। एक सन्देह भी उसके मन में बैठ गया। पर उसने विरोध नहीं किया। वल्कि एक तरह से उत्साह ही प्रकट किया। बोली—"तुमने यह बहुत अच्छा किया। चलो, अब ये बाल-गोपाल सुधर तो जायँगे।"

गवर्नेस का नाम था—मुरलिका। सुनकर अभिधा अपना हास न रोक सकी। पर उसने उसको बड़े आदर से लिया। हँसी-खुशी के साथ दो कमरे उसके लिए ख़ाली कर दिए।

थोड़े दिनों में अभिधा ने अनुभव किया, अब बच्चे वास्तव में पहले की अपेक्षा अधिक साफ़-सुथरे और सुन्दर मालूम होते हैं। बात करने और जवाब देने में अब उनको संकोच नहीं होता। और उनकी भाषा में भी यथेष्ट परिष्कार मालूम होता है।

लेकिन दो महीने भी न बीते होंगे, एक दिन मुनीश्वर बाबू ने, रात को जब सब लोग सो गए, अभिधा को अपने पास बुलाकर प्रेम-पूर्वक बैठाया और पूछा—"अभिधा, तुमको मुझसे कोई शिकायत तो नहीं है ?"

अभिधा चुप रह गई। वह स्वामी से ऐसे प्रश्न की आशा नहीं करती थी। वह मन के अन्दर तो रो लेती, पर ज़बान पर कोई बात लाते उसे बड़ी

लाज लगती थी। दिन-पर-दिन वह अनुभव करती जाती थी, मेरा अधिकार मझसे छिन गया है। मेरे राज्य पर अब गवर्नेस का सिक्का चल रहा है। निःश्वास उभर-उभरकर रह जाते थे। आहें दबी पड़ी रहती थीं। लेकिन अभिधा चुप थी। वह कह तो कुछ सकती ही न थी। कहने में उसकी मर्यादा नष्ट होती थी, उसका आत्माभिमान मिटता था। उसके मुँह पर एक आभा, एक लाली, एक शोभा, छटा, मार्दव और दर्प था, जो मुँह खोलने-मात्र से म्लान, मन्द और फीका पड़ जा सकता था।

अभिधा बोली—"नहीं तो। पर तुमको ऐसा सन्देह क्यों हुआ?"

मुनीश्वर बाबू हँस पड़े। बोले—"तुम सचमुच पगली हो अभिधा! तुमने आज मार्क नहीं किया, तुम्हारा वज़न दो पौंड के लगभग कम था!"

"तो इससे क्या हुआ?" ऐसा तो यों भी कभी-कभी हो जाता है।" अभिधा ने जान-बूझकर टाल देना चाहा।

पर इतने में मुनीश्वर बाबू बोल उठे—"अगर तुमको नहीं, तो मुझको तुमसे शिकायत है।"

"क्या शिकायत है?" प्रश्न के साथ अभिधा अपने-आपसे खेल रही थी।

मुनीश्वर बाबू बोले—"तुमने मार्क नहीं किया, मुरलिका कितनी वाचाल हो गई है! उसके स्वर कभी-कभी कितने मादक हो उठते हैं! रात को जब सब लोग—यहाँ तक कि तुम भी—सो जाती हो, तब उसको मुझसे बात और बहस करने की सूझती है। वह हँसती है और खूब हँसती है! पर एक बार भी तुमने मुझसे उसकी शिकायत नहीं की! एक बार भी तुमने यह नहीं कहा कि यह किस नाटक का रिहर्सल चल रहा है?"

अभिधा ने मुनीश्वर के पैर थाम लिए। सिसकियाँ भरकर वह रो पड़ी। बोली—"तुम मेरी परीक्षा क्यों लेते हो?"

मुनीश्वर बाबू बोले—"मैं तुम्हारे सामने बच्चों के पालन-पोषण का एक आदर्श रखना चाहता था।"

और दूसरे दिन गवर्नेस को नोटिस मिल गया—"खेद है, मुझे अब आप

यह भिन्नता चला करे! वही दाल, वही चावल, वही गिनी-चुनी साग-सब्जी! वही पानी, वही दूध-दही! यह भी कोई ज़िन्दगी है! दुनिया कितनी बदल गई, मगर तुम अब भी जहाँ की तहाँ खड़ी हो! ···नित्य की इस झिक-झिक का परिणाम यह होता कि वे शाम का भोजन किसी बढ़िया-से-बढ़िया होटल में करने लगते। पर मुश्किल यह थी कि यह सिलसिला भी मास-दो-मास चलता था। जब देखते कि बैंक-बैलेंस में अधोगति प्रारम्भ हो गई, तो फिर 'होटल-त्याग' और 'गार्हस्थ्य जीवन के आदर्श' पर प्रवचन प्रारम्भ हो जाते!

बच्चे एक-दो नहीं सात हैं। सब के लिए एक सी पोशाक पहनना वर्जित है। इससे रुचि-भिन्नता की प्रकृति को आघात पहुँचता है! एकसाथ बैठकर सब खाना नहीं खा सकते।—इससे वे अनुकरण—यानी नकल करना सीखते हैं! 'हम यहाँ बैठेंगे—तुम वहाँ नहीं बैठ सकते, वह मेरी जगह है—हम पहले भात खायँगे, उसके बाद फुलके।··· हूँ, बार-बार सबको अलग-अलग कौन परोसेगा?'···यह सब कुछ नहीं। नौकर खाना परोसता जायगा। दो-दो करके सब अलग-अलग कमरों में बैठकर खाना खायँगे। एक साथ बैठेंगे, तो आपस में लड़ेंगे। और लड़ना-भिड़ना पशु-वृत्ति है—हिंसा का मार्ग। न तो, ऐसा नहीं हो सकता। हम प्रोग्रेस चाहते हैं। हिंसक होकर तो हम फिर पशु हो जायँगे!··· पर यह सिलसिला भी आगे चलकर ठप्प हो जाता। एक दिन खाते और सोचते, सोचते और खाते, फिर खाने को सोचते और सोचने को खाते-खाते कोई ब्रेन-वेव आ जाती। —डॉ० मेहरोत्रा उस दिन कहते थे—'ताज़ी रिसर्च यह है कि खाने, खेलने, वेश-भूषा और पाठ्यविषय चुनने में बच्चों को पूरी सामाजिकता मिलनी चाहिए। खाते, खेलते और पढ़ते समय अगर वे इकट्ठे न होंगे, तो उनमें स्पर्धा, संघर्ष और मनोविनोद का विकास रुक जायगा। ठीक तो है—"तुम लोग सब एक साथ बैठकर खाया करो जी!" झट आदेश निकल जाता और अभिवा खिलखिलाकर हँस पड़ती।

एक दिन कॉलेज से आकर बोले—"एक कमरे में सब बच्चों को सुलाना मोस्ट अनहाईजिनिक है। एक कमरे में दो चारपाई से अधिक नहीं पड़नी

चाहिए। और माता-पिता का धर्म है कि वे रात को उठ-उठकर कम-से-कम दो बार तो उन्हें देख जाया करें। कौन किस तरह लेटा है, बदन ढका है या नहीं, बत्ती तो बेकार नहीं जल रही है। वर्षा ऋतु है, तो खिड़कियों से बौछार तो नहीं आ रही है! बीसों बातें हैं जी, कहाँ तक गिनायँ!" इसलिए अभिधा बेचारी दस बजे अगर सो जाती है, तो दो बजे उसे उठना ही पड़ता है मगर यह कर्तव्य स्वतः उन पर लागू नहीं होता।—"देखो जी, मैं जब सोता रहूँ, तो मुझे कभी जगाया न करो।" सब-कुछ करने पर भी अगर किसी बच्चे को छींकें आने लगीं, नाक से पानी बहना शुरू हो गया कि बस आफ़त आ गई।—"यह सब तुम्हारी लापरवाही है! रात को नींद न खुली होगी। देखा न होगा कि बच्चे का शरीर ढका भी है या नहीं। और रात को नींद ज़्यादा क्यों न आए? मैं कहता हूँ, नींद उसी आदमी को ज़्यादा आती है, जो 'ओवरलोडेड' रहता है। कम खानेवाला आदमी कभी सुस्त हो नहीं सकता!"

इसका परिणाम यह हुआ कि अभिधा बेचारी को तृप्ति-भर शाम का खाना भी दुष्कर हो गया। वह दुर्बल होने लगी।

मुनीश्वर बाबू महीने की हर पहली तारीख को पूरे परिवार का वज़न लेते और नोट करते थे। उस दिन अभिधा का वज़न जो पाँच पौंड कम हो गया, तो रात में—जब बच्चे सो गए—उन्होंने चारपाई के पास बैठालकर अभिधा से इसका कारण पूछा। सुनकर पहले तो वह विस्मय में पड़ गई, पर फिर वह मुनीश्वर बाबू की आँखों की ओर देखती-देखती रो पड़ी!

मुनीश्वर बाबू के आश्चर्य की सीमा न रही। वे मत्था पकड़कर रह गए। फिर उठे और कमरे भर में इधर-से-उधर टहलने लगे। क़समें खिला-खिलाकर उन्होंने पूछा—"तुमको दुःख क्या है मेरे रहते? मैं उस पुरुष का जीवन व्यर्थ मानता हूँ, जिसकी पत्नी को थोड़ा भी ऐसा दुःख बना रहे, जिसको वह उससे कह न पाय।"

तब अभिधा ने मन की सारी बातें उनसे कह दीं। वह बोली—"कच्ची नींद तोड़कर रात को दो बजे मुझसे जगा नहीं जाता! और एक बार जग जाने के बाद फिर तुरन्त मुझे नींद नहीं आती। इसीलिए शाम का

"मैं उसको कहूँगी आत्म-वंचक, भीरु, कायर, नपुंसक और·····।"

"बस-बस, आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं लक्षणा ! तुम्हारा दिलीप आत्म-वंचक, भीरु, कायर नपुंसक और वह सब है, जो तुम आगे कहना चाहती थीं !"

दिलीप उत्तर तो दे गया, लेकिन उसका मुख तमतमा उठा। उसके होठ हिल उठे और भृकुटियों पर तनाव आ गया। झट वह कमरे से बाहर जाने लगा। तभी सामने रास्ता रोकती हुई लक्षणा बोली—"बाहर जाने की ज़रूरत नहीं। सब लोग नहाने गए हैं और मेरी बात भी अभी समाप्त नहीं हुई।" उसे अपने उत्तर पर अब बड़ा दुःख हो रहा था। कथन के समय वह कल्पना भी न कर सकती थी कि दर्पण में मुँह न देखनेवाली बात साधारण रूप से सबके लिए न होकर विशेष रूप से उसकी अपनी है !

कमरे में पलँग पड़ा था। उस पर जो बिस्तर तहाया हुआ रखा था, उस पर गिरकर दिलीप उसी के सहारे लेट गया। उसकी आँखों में आँसू छलछला आये थे। अतः रूमाल निकालकर उसे आँखों पर ले ही जा रहा था कि उसके पहले ही वह फूट-फूटकर रो पड़ा। एक साँस अन्दर समाती न थी कि दूसरीबाहर आने लगती थी।

तब लक्षणा स्वयं पलंग के पैताने जा बैठी। उसका मन कह रहा था—'देवता एक ही होता है मंदिर का। और जब वह उसमें आ चुका है तब दुनिया कुछ कहे, समय पर उसकी अर्चना मुझे करनी ही पड़ेगी।' रूमाल उसके भी हाथ में था। हाथ बढ़ाकर वह दिलीप के आँसू पोंछती हुई कुछ लाड़ के साथ बोली—"भगवान् ने रोने-धोने का काम तो हम लोगों को सौंप रखा है। तुम उसमें भी हस्तक्षेप करने लगे ! भाई यह बात हमें पसन्द नहीं !··· (सिसकियाँ चल रही थीं) साहसी, वीर और पुरुषार्थी लोग तो उस समय भी नहीं रोते, जब रण में उनके पक्ष की हार हो जाती है। तुमने तो ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसके लिए तुमको रोने का अवसर हो! (सिसकियाँ थमना चाहती थीं) शायद तुमको यह न मालूम होगा कि दादा दीदी के यहाँ गये थे।

तुम्हारे हिसाब में पाँच हज़ार रुपये वे उनके यहाँ जमा भी कर आए हैं !"

"क्या कहा ?" दिलीप के स्वर में तीव्रता थी, विस्फारित आँखों में आश्चर्य का दर्प। और आँखों के साथ-साथ टपकते आँसू भी हँस लेना चाहते थे !

"वही जो तुमने सुना।" कहती हुई लक्षणा अब पलँग से उतरकर कुरसी पर जा बैठी। उसके मुख पर एक ऐसे हास की झलक थी, जो दिलीप के दग्ध-जर्जर मन को प्रीति-पोषण दे रहा था।

"सचमुच दादा दीदी से मिले थे ?" दिलीप के आश्चर्य ने उल्लास की बाँह थाम ली थी।

"हाँ मिले थे, मिले थे।" कथन की पुनरुक्ति में लक्षणा के चंचल मन का प्यार था।

"कैसे मिले थे भला ?" इस प्रश्न में कुछ ऐसा कुतूहल था, जो आज दिलीप की प्रकृति के लिए नया था।

"यह मुझे नहीं मालूम" कहती-कहती लक्षणा लज्जा बन गई। यद्यपि वह मुस्करा रही थी, किन्तु नयन उसके अधोमुखी थे। उसकी मुसकान भी उस कली की मुसकान थी जो अभी अधखिली थी।

दिलीप का दुखी मन अब शान्त था। पर अभी कुछ प्रश्न उसके अन्दर से उभर-उभर उठते थे।

उसने पूछा—"दादा किस दिन गये थे दीदी के यहाँ ?"

"जिस दिन सुरेश मामा उनके यहाँ से लौटे थे, उसके दूसरे दिन।" लक्षणा अपने अपूर्ण उत्तरों से जान-बूझकर बात बढ़ा रही थी।

"तो छोटे मामाजी भी दीदी के यहाँ गये थे !"

"उन्होंने आकर तो बतलाया था कि लोगों ने तुम्हारे सम्बन्ध में ऐसी बातें कीं जो उनसे सुनी नहीं गईं। तभी दादा बिना हम लोगों को कुछ बताए चुपचाप वहाँ हो आए। किसी को इस बात का पता भी न चलता अगर सेफ़ में रखने के लिए वे मुझे दीदी के हाथ की रसीद न दे देते।"

"रसीद में कौन सी तारीख पड़ी है ?"

की सेवाओं की आवश्यकता नहीं है।"

.. .. ..

प्रिंसिपल साहब की अपनी एक लाइब्रेरी भी है। पर अलमारियों में ताले बन्द रहते हैं। दिलीप ने पूछा—'अनहाइजिनिक कस्टम्स आव मॉडर्न सोसायटी एण्ड कल्चर' नाम की पुस्तक है आपके यहाँ?'

पुस्तक पढ़ते हुए मुनीश्वर बाबू ने चश्मे को मस्तक तक उठाकर, नाक सिकोड़ते हुए, दिलीप की ओर देखा और बिना कोई उत्तर दिए ड्राअर से गुच्छा निकालकर उसकी ओर फेंक दिया। दिलीप अभी चला ही था कि उनसे बिना बोले रहा नहीं गया। बोले—"जो भी पुस्तक देखनी हो—वहीं देख लेना और फिर उसे उसी जगह रख देना। इधर-उधर ले जाकर पढ़ना यहाँ न चलेगा।··· और सुनो, देखो, कहीं कोई निशान मत लगाना और पेज भी मत मोड़ना।"

पर दिलीप विचारलीन हो चुका था।

दिलीप जब चाबियों का गुच्छा लेकर अन्दर आया, तो अभिधा हँसने लगी। बोली—"बड़े भाग्य हैं तुम्हारे लाला, जो लाइब्रेरी का गुच्छा दे दिया। यों वे किसी को कोई पुस्तक छूने भी नहीं देते।"

दिलीप ने उस दिन सबसे भेंट की। बिस्सू, अभिधा, दादी तथा मौसी सब-की-सब उसे घेरकर बैठ गईं। खाना चलता रहा और साथ में बातें भी। बिस्सू ने पूछा—"आप पर इतना संकट आया; एक आया, फिर दूसरा आया, पर आपने हम लोगों को कभी याद न किया!"

"हाँ, यह सवाल मेरे भी मन में कई बार उठा है बिस्सू भाई! लेकिन मैंने सोचा इन संकटों का सामना करने के लिए मैं स्वयं बहुत काफ़ी हूँ।"

"लेकिन जहाँ आप काफ़ी हैं भी, वहीं आप संकोची, त्यागी, विरक्त और एक दृष्टि से दुर्बल भी कम नहीं हैं। आप-जैसे व्यक्ति के लिए पाँच हज़ार रुपये क्या मूल्य रखते हैं? लेकिन आपने किसी एक मित्र को भी न टटोला! यह अकेले-ही-अकेले सारा-का-सारा मानसिक कष्ट जो आप सहन कर रहे हैं, क्या इसका यह अर्थ नहीं कि आपको अपनी क्षमता

पर असाधारण और उचित से कहीं अधिक विश्वास है और इसीलिए आप कष्ट उठाते हैं ! और हम लोगों के रहते हुए आप जो अकेले-ही-अकेले कष्ट उठाते हैं, यह भी हम लोगों के साथ आपका एक अन्याय है ।"

बिस्सू की यह वात अभी समाप्त ही हुई थी कि अभिधा ने कहा—"आप सीधे यहाँ आए भी नहीं। उतरे भी तो एक ऐसे दोस्त के यहाँ, जो डिप्टी-जेलर है । हम लोग अगर गंगा-स्नान को न जातीं, तो शायद आप यहाँ आते भी नहीं !"

दिलीप के मन में आया कि वह अब तो कह दे कि मैंने आपसे मिलकर ही जाने का निश्चय कर लिया था। पता लगाकर मैं आपसे अवश्य मिलता। पर तब तक रुँधे हुए कण्ट और गीले हो रहे पलकों से मौसी बोल उठीं— "भैया तुमने यह भी न सोचा कि तुम्हारे सुख-दुःख का और भी कोई साथी इस दुनिया में पैदा हो गया है !"

और दादी बोली—"लाखों की सम्पत्ति के मालिक होकर तुम पाँच हज़ार रुपये के लिए भटक रहे हो ! तुमने हमारी भी कोई क़ीमत नहीं आँकी बच्चा ! तुम चलो हमारे साथ । मैं अपने हिसाब का दस हजार रुपया देखो तुम्हें देती हूँ कि नहीं !

फिर लक्षणा ने भी अवसर और संयोग निकालकर उससे कहा— "तुम देवता तो हो, मगर पत्थर के; निर्मोही और जड़ ! तुम मुझसे मिलने नहीं आ सकते थे, तो क्या मुझे एक पत्र भी नहीं लिख सकते थे ?"

भावावेश में दिलीप ने सरल हास के साथ सिर उठाकर उत्तर दिया— "जो अपराध मैंने स्वयं किया है, उसका परिहार भी अगर मैं स्वयं ही करना चाहूँ, तो उनको तो कोई दुःख नहीं होना चाहिए, जिनको मैं अपना मानता हूँ ।"

"तो तुम यह समझाना चाहते हो कि जिनको अपना समझा जाता है, उन्हीं से अपना दुःख-सुख भी छिपाया जाता है ! क्यों ?"

"जो आदमी दर्पण में अपना मुँह देखने से भी भय खाता हो, उसको तुम क्या कहोगी लक्षणा ?"

"पाँच अगस्त।"

दिलीप फिर आत्म-लीन हो गया। उसने चाहा कि करवट बदल लें, तब तक अन्दर से आवाज़ आई—"ले आऊँ छोटी बेटी ?"

"हाँ-हाँ, ले आओ दाई।···लो, उठो, चाय पियो !" लक्षणा बोली और सोचने लगी—'बिना पहले से सूचना दिये दाई को भी यहाँ आना स्वीकार नहीं हुआ !'

दिलीप एकदम से उठ बैठा। बोला—"मैं भी न नहा आऊँ लक्षणा ?"

उत्तर में लक्षणा कहना चाहती थी कि 'मुझको अकेला छोड़कर ?' पर इतने में महराजिन चाय की ट्रे लेकर सामने आ पहुँची। कुछ सोचती हुई लक्षणा बोली—"कल जो मठरीं बनाई थीं, वे नहीं ले आईं दाई ?"

संकोच के साथ दाई कहने लगीं—

—"हँ-हँ। वे तो बासी हो गईं बिटिया ! मुनीसुर जान पायगा, तो नाखुस न होगा !"

दिलीप को आश्चर्य हो रहा था। लक्षणा ने संकेत से कह दिया—"तुम ले भी आओ दाई ! उनकी खुशी और नाखुशी की सीमाओं से हम लोग परे हैं।"

चलनी में चीनी डालती हुई लक्षणा बोली—"जीजाजी से सब लोग यहाँ इतना डरते हैं कि बाहरी आदमी भी उनकी व्यवस्था के विरुद्ध कुछ कर नहीं सकता। पर हर आदमी बात करने में इतना स्वतंत्र है कि कोई भी बात यहाँ छिपाकर नहीं रखी जा सकती !"

किन्तु दिलीप तब भी आत्मलोक में था। एकदम से इहलोक में आकर बोल उठा—"तुम भी मुझे अपराधी समझ रही हो लक्षणा ?"

"मैं तो नहीं समझती; लेकिन मुश्किल यह है कि स्वयं तुम समझते हो !"

दाई दो प्लेट्स में मठरियाँ दे गईं। दिलीप एक मठरी को दाँत से

काटता हुआ बोला—"मेरी समझ में नहीं आता लक्षणा, जो अपराध हमारी अज्ञानावस्था में हो जाते हैं, उनका परिणाम हम क्यों भोगते हैं ?"

"फ़िऱॉसफ़ी की ये सब बड़ी-बड़ी बातें मैं क्या जानूँ! मैं तो केवल इतना जानती हूँ कि इस अपराध का परिहार भी तुम तुरंत कर लेते, अगर चाचाजी के द्वारा तुम इतने तिरस्कृत, उपेक्षित और एक तरह से बहिष्कृत न होते। इसके सिवा मैं तो यह भी सोचती हूँ कि अगर जायदाद के अपने हिस्से और अधिकार का तुम थोड़ा भी उपयोग करते, तो भी बात-की-बात में इस संकट से मुक्त हो जाते। लेकिन सारी कठिनाई तो उसी समय सामने आ खड़ी होती है, जब मर्यादा का पालन करने में हम अपने उस अस्तित्व तक को भुलाये रहते हैं जिस पर हम खड़े हुए हैं। साफ़ कह दूँगी, तो तुम बुरा मान जाओगे। नहीं तो वन्दनीय पिता के मान, महत्त्व और गौरव के एक-मात्र उत्तराधिकारी होने की पृष्ठभूमि अगर तुम्हें न प्राप्त होती, तो कुछ ही घंटों में इतना क्या, इसका दशांश रुपया भी तुम्हें प्राप्त नहीं हो सकता था! इसलिए अगर तुम्हारा कुछ दोष है तो केवल इतना कि एक ओर तो तुम अपने पैत्रिक गौरव का उपभोग करते हो, दूसरी ओर उसकी उपेक्षा। इसी स्थिति को मैं शोचनीय मानती हूँ। यह मैं नहीं जानती कि यह ज्ञानावस्था का अपराध है या अज्ञानावस्था का। इसको तो तुम्हीं तै कर सकते हो।"

लक्षणा ने दिलीप को इतना प्रभावित कभी नहीं किया था, जितना इस समय।

तब कप ख़ाली करता हुआ वह तुरंत बोल उठा—"मैं अब आज ही कानपुर लौट जाना चाहता हूँ। मुझे बटवारे के लिए चाचाजी से लड़ना ही पड़ेगा।"

इतने में बाहर से अट्टहास का स्वर सुनाई पड़ने लगा। यह उस मंडली का था, जो गंगा-स्नान से लौट रही थी।

: २९ :

बातें पुरानी पड़ जाती हैं, रातें दिन बन जाती हैं और घटनाएँ स्मृतियाँ बन-बनकर मन के एकांत कक्ष में सोया या रोया करती हैं। कोई नहीं जानता कि कब किस प्रसंग से आँखें मलती हुईं वे उठ खड़ी होंगी और हम अपना दिल थामकर हक्के-बक्के रह जायँगे !

बहुत दिनों की एक भूली बात उस दिन प्रतिभा को याद हो आई।

रात के नौ अभी नहीं बजे थे। खाना खाकर वह पलंग पर गई ही थीं उसे अपनी एक सखी अलका जैसे सामने आ गई। साधारण बातों के सिलसिले में उसके मुँह से निकल गया था——"यह ठीक है कि दादा का स्वभाव बड़ा उग्र है। पर इसमें क्या कोई सन्देह है कि उनका सारा रोष नैतिक मानों की अवहेलना के लिए है ? फिर जब तुम उन मानों में भी गो-दुग्ध की भाँति पवित्र हो, तब तुम्हारे लिए लज्जा और संकोच का अवसर ही कहाँ रह जाता है ! मेरी राय में तुम्हें उनसे मिलना चाहिए। और वे जो कुछ कहें उसे शान्ति-पूर्वक सुनना भी चाहिए। मधुर वाणी से तो पशु-पक्षी तक वश में हो जाते हैं। वे तो तुम्हारे स्वामी हैं। अहंकार व्यक्तित्व के विकास में सदा सहायक नहीं होता। कभी-कभी ऐसा भी होता है, जब केवल अहंकार के कारण हमारी समस्याएँ सुलझने के बजाय और भी अधिक उलझ जाती हैं। जो लोग समझौता और सन्धि को कायरता, विनयशीलता को दब्बूपन और नीतिमत्ता को धूर्तता मान बैठते हैं, वे उस मूर्ख के समान हैं, जो अपने हिताहित के ज्ञान के अभाव में जीवन-भर एड़ियाँ रगड़ते रह जाते हैं ! दुनिया उनको कभी सफल नहीं मानती जो समय-समय पर केवल यह सोच लिया करते हैं कि अगर मैं इस मार्ग से चलता, इन साधनों और यत्नों का सहारा ग्रहण करता, तो सफलता मेरे क़दम चूमने को मजबूर हो जाती। सफल तो वास्तव में दुनिया उसी को मानती है जो कृतकार्य होकर उसे यह दिखला देता है कि इस भाँति सफलता प्राप्त की जाती है !"

दीदी ने उस समय अलका की इस बात को सुनकर मुसकरा दिया था। उत्तर में उन्होंने एक शब्द भी कहना उचित न समझा था। वे दिन ही और थे। प्रतिहिंसा की भावना तब तक शांत न हो पाई थी। विवाह के बाद वर्ष भर भी तो न बीता था, जब केवल यह जानने के लिए कि सिगरेट पीने में लगती कैसी है ! उसने कहीं उसके दो कश खींच लिए थे। बस, इसी बात पर उन्होंने उन्हें सदा के लिए त्याग दिया था। बार-बार उनके मुँह से यही शब्द निकलते थे कि 'स्वाद जानने के लिए नाना प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग निरन्तर जारी रखनेवाली नारी कभी सती नहीं हो सकती !'

दीदी ने मन-ही-मन स्वामी की इस चुनौती को स्वीकार कर लिया था। उनसे सन्धि कर लेने की कोई बात उन्हें सुहाती न थी। अपने विषय की अधिक-से-अधिक शिक्षा प्राप्त करने और प्राप्त ज्ञान को अनुभव के अवलम्ब से अधिकाधिक उन्नतिशील बनाते रहने में उन्होंने दैहिक भोग के निखिल स्वप्नों की आहुति दे डाली थी। प्रातः काल से रात के ग्यारह बजे तक रोगियों की समस्याओं को सुलझाने में वे इतनी अधिक संलग्न रहतीं कि घंटे-आध-घंटे के विश्राम का भी उन्हें अवसर न मिलता था। इसका परिणाम यह होता कि ज्यों ही वे बिस्तर पर जातीं, त्यों ही उन्हें नींद घेर लेती और फिर तभी वे उठतीं, जब वह पूर्ण हो जाती थी। मुहल्ले में ऐसे व्यक्तियों की कमी न थी, जिनकी यह धारणा सी बन गई थी कि प्रतिभा अपने सौन्दर्य की कमाई खाती है। पर वह इस धारणा के प्रतिकूल साधना के पथ पर निर्विघ्न और निर्भय रूप से अग्रसर होती चली जा रही थी। उसकी व्यस्तता की स्थिति यह थी कि उसका प्रत्येक प्रातःकाल एक नई आशा और नए आयोजन का द्योतक होता था !

रात में जब आबाल-वृद्ध नर-नारी मीठी नींद के झकोरे लिया करते, तब प्रतिभा करवटें बदलती हुई सोचती—'टेलर-मास्टर हीरा की वह सात वर्ष की लड़की, जिसका नाम द्वितीया है, आज पथ्य लेगी। बेचारी सत्ताईस दिन के टाइफायड के बाद आज परवल का रस पायगी !'

'विक्रमलाल-भोजराज फ़र्म के मालिक लाला श्यामलाल की गृहिणी शीला, जो मासिक-धर्म न होने के कारण सन्तान-सुख से ही वंचित थी, अब जच्चा बनेगी ! कितनी निराश थी बेचारी ! रो-रोकर कहती थी—"दीदी, इतना ही इलाज कर दो कि बन्ध्या होने का कलंक तो मिटे !" और अब मरु-भूमि रसाल-वन में परिणत होने जा रही है ! पत्थर पर दूब उगना और किसे कहते हैं !'

जब प्रतिभा की कार सिविल-लाइन्स के किसी बंगले से निकलती, तो फुटपाथ से आते-जाते लोग काना-फूसी करने लगते।···"नहीं तो ऐसी कड़ी धूप और लू में, किसी लेडी-डॉक्टर को अपना बंगला और खस की टट्टी से लहराती पंखे की हवा छोड़ने की ज़रूरत ? अरे साहब, भीष्म पितामह भी अगर इस जमाने में पैदा होते, तो माफ़ कीजियेगा, उनके राजभवन में दस-बीस रानियाँ अवश्य होतीं।"

लेकिन प्रतिभा के समक्ष एक दृश्य होता :

'जिनिंग फैक्टरी के क्लर्क बाबू श्यामबिहारी का विवाह तो हो गया, लेकिन उनके तपस्वी पिता रामनाथ उसमें शामिल नहीं हो पाए। वे ज्वर में थे और उनका तापमान एक सौ दो था। फिर जब उनकी बहू रंजना ने घर में पदार्पण किया, तो उसी दिन उसे कालरा हो गया। जो घर कल-हास की किलकारियों से गुंजित था, वही घबराहट, गम्भीरता और चिन्ता का कारण बन गया। कई दिनों के बाद आज उसे मूँग की दाल का रस मिलेगा। बेचारी कल से ही चिल्ला रही थी। गुलाब की पंखड़ी की तरह मुरझा गई है। इतने धीरे से बोलती है, जैसे किसी चिड़िया का बच्चा चूँ-चूँ करता हो !'

शिशु को गोद में भरे खड़ी-खड़ी उसे हिलाती-डुलाती हुई अलका कह रही थी—"दुनिया में ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो संघर्ष के नाम पर सदा नाश और विध्वंस को निमंत्रण दिया करते हैं। लेकिन उन माताओं के हौसलों को क्या कहियेगा, जो नई सर्जना की भोली आशा में महीनों पूर्व से ही दो सुइयों के सहारे अपने भविष्य के ताने-बाने जोड़ना प्रारम्भ

कर देती हैं ! फिर तुम यह क्यों नहीं सोचतीं दीदी कि किसी की कोख में जन्म लेने के बाद हमारा भी तो यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम भी अपनी कोख में किसी को जन्म दें। कभी सोचा है तुमने कि जगत्-सृष्टि की इस रचना का ऋण चुकाये बिना तुम्हारे लिए गति कहाँ है ?"

मार्मिक प्रसंगों के शब्द चाहे भूल जायँ, लेकिन उनका प्रभाव नहीं भूलता। रोती और हँसती मुद्राएँ नहीं भूलतीं, यहाँ तक कि कथन का कोई एक वाक्य और उसकी ध्वनि तक स्मरण आ जाती है। पुरानी बातों के क्रम और दृश्य की अन्तिम परिणति का यह वाक्य भी दीदी भूली न थी—"कभी सोचा है तुमने कि जगत्-सृष्टि की इस रचना का ऋण चुकाए बिना तुम्हारे लिए गति कहाँ है ?"

बार-बार उसी मौसमपुर हॉस्पिटल में पड़ी-पड़ी वे सोच रही थीं—"···तो तुम्हारे लिए गति कहाँ है ?"

जिसे यौवन की दोपहरी कहते हैं, वह तो बीत चुकी है। अब यह तीसरा प्रहर चल रहा है—और कर्तव्याघात से पीड़ित आत्मा का यह कैसा अबाध अजस्र क्रन्दन है, जो अचानक बिना बुलाए आ-आकर उत्पात मचा देता है !

इसी समय चिक का परदा उठा और धीरे से दीपा ने आकर कह दिया—"एक वृद्ध सज्जन आपसे मिलने आये हैं दीदी !"

उनसे कह दो—"अब सवेरे आयँ। रात हो गई। सोने का वक्त हुआ और इस समय मेरी तबियत भी किसी से मिलने को नहीं कह रही।"

"तुमसे बिना आज्ञा लिये मैं उनको यही उत्तर दे चुकी हूँ दीदी ! पर उनका कहना है कि मैं शहर से आ रहा हूँ और मुझे अभी तुरंत लौट जाना है।" दीपा ने अत्यन्त सरल भाव से कह दिया।

दीदी जब उठने लगीं, तो उनके मन में आ रहा था—'सार्वजनिक जन-सम्पर्क की कर्तव्य-धारा कितनी तीव्र, निर्दय और प्राणपीड़क होती है ! भीगे हुए तन-मन से जो व्यक्ति उठना भी नहीं चाहता, उसे भागना पड़ता है, श्रम-शैथिल्य से जो बोलना भी नहीं चाहता, उसे

चिल्लाना पड़ता है !'

झट-पट वेश-भूषा ठीक करके दीदी अपने टेंट के अस्थायी ड्राइंग-रूम में जा पहुँची। नवागत वृद्ध सज्जन उनके सम्मान में उठ खड़े हुए। दीदी ने उन्हें आपाद-मस्तक एक बार ध्यान से देखा। एकाएक उनके मुँह से निकल गया—"बड़े कुसमय में आप पधारे हैं। कार्य-भार से दवी हुई मैं सोने ही वाली थी। समझ में नहीं आता, क्या सत्कार करूँ मैं आपका ? क्या आप भोजन करना स्वीकार करेंगे ?"

"भोजन तो इस समय मैं करता भी नहीं। पर जिस निमित्त मैं आया हूँ, वह बात अगर आप सुन लेंगी, तो मैं समझूँगा, यही आपका बहुत बड़ा सत्कार है।"

संयम मन की अटूट दृढ़ता का लक्षण है। पर मन में ही यदि कहीं मोह, लालसा, किंवा अतृप्ति की ग्रन्थि पड़ी रह जाती है, तो संयम का बाँध टूट जाता है। कर्म की गति में निरन्तर अटूट दृढ़ता रखने वाले दादा जब उपर्युक्त बात कह रहे थे, तब उनकी वाणी काँप-काँप उठती थी। अतः स्वप्न-लोक से आई चिर परिचित वाणी का चिर दिन अभिनन्दित वह कोमल स्वर सुनते ही सहसा दीदी दादा को विस्फारित नयनों से देखती रह गईं। उनका मुख मानो पीला पड़ गया। गुलाबी वर्ण की उस कमनीय दीप्ति में रक्त-संचार ही मानो रुद्ध हो गया। फिर भी अपने को सँभालती भर्राई हुई आवाज में, वे बोल उठीं—"मैंने आपको कहीं देखा है ! कहाँ देखा है, क्या आप बतला सकते हैं ?"

"लेकिन मैंने आपको कभी नहीं देखा !" दादा की वाणी में अब पुनः एक गुरुता आ गई थी। यद्यपि यह परिवर्तन उनके अटूट संयम का लक्षण था। लेकिन यहीं वे गलती कर बैठे। दीदी जीवन-भर इसी स्वर की मूक अर्चना करती आई थीं। सुदूर छूटे हुए अतीत के एक दिन, जिस गुरु-गम्भीर स्वर ने उनके नारीत्व के दर्प पर पदाघात किया था, आज वही उनके लिए एक अकल्पित सम्मोहन बन गया था।

"देखा है, देखा है; बस इतना ही कह दो—देखा है।" कहते-कहते

दीदी मूर्छित हो गईं। उनकी साँस अब भी फूल रही थी। उनका हृदय अब भी धड़क रहा था। नयनों की पलकें मुँद गई थीं। साड़ी का अंचल नीचे झुक पड़ा था। उनके दोनों हाथ टेबिल पर रखे थे, उनका सिर भी उसी टेबिल पर दाईं बाहु के ऊपर आकर स्थिर हो गया था।

दीपा झट डॉक्टर मुखर्जी को ले आई। वे अब चालीस पार कर चुके थे। उन्होंने दुनिया देखी थी। प्रतिभा की अबाध संयम-साधना से वे परिचित थे। पर उन्हें यह भी विदित था कि वे एक परित्यक्ता नारी हैं। उन्होंने आते ही पहले प्रतिभा की बाँह में एक इंजेक्शन लगाया। फिर दादा से पूछा—"क्या आप ही का बात सुनकर इनको फिट आया है ?"

दादा की आँखों में आँसू भरे थे। रूमाल से उन्हें पोंछते हुए रूद्ध कंठ से वे बोले—"हाँ डॉक्टर साहब, मैं ही वह पाषाण हूँ, जिसका आघात इनकी मूर्च्छा का कारण बन गया है।"

"तो आप अइसा माफिक थोरा-सा-सहारा देकर इनको अन्दर लिटाने का मोदद कीजिये न ? दीपा, तुम बैकबोन पर अइसा माफिक हाथ लगाकर उठाओ।

स्थिति देखकर दादा बोले—"अगर आपको आपत्ति न हो, तो मैं अकेला ही उठाकर पलँग पर लिटा दूँ।"

"यस् यस् यू कैन। यू आर फुल्ली-अथराइज्ड़ टु केरी आन आल एबाउट।" डॉक्टर साहब की अनुमति पाकर दादा ने प्रतिभा को दोनों बाहुओं पर लेकर पलंग पर लिटा दिया। डॉक्टर मुखर्जी साथ चले आए थे। अब उन्होंने पूछा—"कैन आई आस्क यू यौर नेम एण्ड रिलेशन बिथ हर, इफ यू डोंट माइंड ?"

एक निःश्वास लेकर दादा बोले—"नाम मेरा ज्योतिस्वरूप है। रह गया नाता, सो आप उसी से पूछ लीजियेगा।"

उत्तर सुनकर डॉक्टर साहब क्षण-भर आश्चर्य के साथ दादा को देखते रह गए।

इसके बाद डॉक्टर मुखर्जी ने एक शीशी का कार्क खोलकर प्रतिभा

की नाक के नीचे कर दिया। एक मिनट भी न बीतने पाया था कि दीदी ने आँखें खोल दीं। दादा के उत्तर से डॉक्टर साहब का रहा-सहा सन्देह भी दूर हो गया था। अतः वे बोले—"अब मैं जाने सकता हूँ। क्यों सिस्टर, अब मैं जाने सकता हूँ?"

दीदी अपने को सँभालती हुई उठकर बैठने लगीं, तो डॉक्टर साहब बोले—"नो नो, यू शुड टेक रेस्ट नाऊ। हम जाता है।" और इस कथन के साथ वे चले भी गए। स्वस्थ-चित्त होकर दीदी बोलीं—"दीपा बेटी, एक पलँग का प्रबन्ध करना होगा।"

दीपा सहमी हुई-सी खड़ी थी। बोली—"चतुर्वेदीजी आज चले गए हैं। उनका पलँग खाली पड़ा है। उसी को मँगाये लेती हूँ।" और इतना कहकर वह जब चल दी, तो दीदी ने कह दिया—"हाँ, और देख, एक गिलास में कुनकुना दूध और पान-तम्बाकू भी।"

प्रसन्नता छिपाती-सी दीपा बोली—"मैं अभी सब प्रबन्ध करती हूँ दीदी!" और चल दी।

दादा पास पड़ी कुरसी पर दोनों हाथ टेके चुपचाप खड़े थे। दीदी बोलीं—"खड़े क्यों हो? कुरसी खींच लो और यहाँ मेरे पास आकर बैठो।"

एक दीर्घ निःश्वास लेकर दादा पास आ बैठे।

बारम्बार वे सोच रहे थे—'रूप अभी जीवित है। वाणी का अमृत और शालीनता भी पूर्ववत् है!' आँखों में आँसू उभर रहे थे। मगर उन्हें पोंछना उनको स्वीकार न था।

यह स्थिति देखकर दीदी बोलीं—"रोओ मत! लोग देखेंगे, तो क्या कहेंगे!" और झट से उठकर उन्होंने स्वयं दादा के आँसू पोंछ डाले।

"वही कहेंगे जो उन्हें कहना चाहिए।" स्थिर गम्भीर स्वर में पुनः दादा बोले—"दुनिया के कहने का डर अब मैंने छोड़ दिया है प्रतिभा! हर स्थिति में वह सदा कुछ कहती आई है और कहती रहेगी।"

एक दबती हुई आह के साथ प्रतिभा के मुँह से निकल गया—"यह तुम ठीक कहते हो।" ···मगर यह तो कहो, आज इधर भूल कैसे पड़े?"

"असल में मैं दिलीप की भूल का संशोधन करने आया था।" और जेब से पाँच हजार का चेक निकालकर उन्होंने प्रतिभा को दे दिया।

प्रतिभा बोली—"अभी कल उसके मामा सुरेश बाबू भी यहाँ आए थे। जान पड़ता है, वह फिर किसी घटना के जाल में पड़ गया है। यह तुमने बहुत अच्छा किया, जो रुपये लेते आए। मेरे पास होते, तो इस समय मैं तुम्हारा यह चेक न लेती। पर मैं तो अपनी थोड़ी-बहुत जमा पूँजी पहले ही लगा चुकी हूँ।"

दादा बोले—"सुरेश से सब समाचार मुझे कल मिल चुका है।"

इतने में दीपा ने आकर पास ही पलँग बिछा दिया। टेबिल पर दूध भरा गिलास भी उसने रख दिया। तब दीदी बोली—"अब तू जा दीपा! और देख, कल थोड़ा सबेरे उठना होगा। तुम्हारे दादा ने कुछ खाया तो है नहीं। चाय के साथ उन्हें सबेरे कुछ ताज़ा बनाना होगा न? वैसे तो यहाँ सब बनेगा ही। पर इनके लिए वह हम सबके हिसाबवाला नहीं चलेगा। …अब तू जा, बाक़ी मैं फिर बता दूँगी।"

दीपा चली गई। दादा भी लेट रहे। थोड़ी देर तक कोई कुछ नहीं बोला। टेंट के बाहर सामने पेट्रोमैक्स जल रहा था। दरवाज़े पर चिक पड़ी थी; अतः प्रकाश अन्दर छनकर आता था। दूर एक ओर गाँव की बस्तियों से कुत्तों के भौंकने का स्वर आ रहा था, दूसरी ओर कहीं आल्हा हो रहा था, जिसकी एक-आध पंक्ति सुनाई दे जाती थी। झिल्ली झनकार रही थी और कोयल कभी-कभी बोल उठती थी। करवट बदलते हुए दादा बोले—"तुम मुझे अब भी अपराधी समझती हो प्रतिभा?"

प्रतिभा ने भी करवट बदल ली। निर्विकार निर्लिप्त मन से वह दादा की ओर इकटक देखती हुई बोली—"कभी ज़रूर समझती थी, अब नहीं समझती। लेकिन तुम अपने को अवश्य समझते रहे।"

खड़े हाथ के सहारे सिर टिकाकर दादा बोले—"तुम ठीक कहती हो प्रतिभा! बिलकुल यही बात मुझे तुमसे दूर बनाये रही। सदा मैं यही सोचता रहता था, अब किस मुँह से मैं तुमसे मिलूँ? तुमको शायद मालूम

हुआ हो, एक बार मैं त्रिभुवननाथ के यहाँ आकर ठहरा था। रात-भर जागकर, उठ-उठकर मैंने तुम्हारा अध्ययन किया था। कोई प्रसूता तुम्हारे यहाँ ठहरी हुई थी। उसके प्राणों पर संकट आ गया था। ऐसा जान पड़ता था कि या तो बच्चा ही बच पायगा, या जच्चा। पर तुम्हारे चातुर्य से दोनों के प्राण बच गए थे।···फिर एक बार मैं तुम्हारी सभ्यता-समाजवाली गोष्ठी में भी सम्मिलित हुआ था। पर उस समय तुम्हारा भाषण सुनकर मैं पुनः भ्रम में पड़ गया था।

"याद आता है, तुमने कहा था—'शरीर की प्रत्येक स्थिति का निर्माता हमारा मन होता है। मुख की अभिनव शोभा, कपोलों पर गहरी और मंद पड़ती हुई लाली, अधरों के कम्पन और स्फुरण, नयनों के अलस-विलस उत्क्षेप और भ्रू-चापों के निखिल उत्थान-पतन सदा मन के ही आवेग,सलिल-राशि पर तैरनेवाली छोटी-मोटी लहरों की भाँति प्रकट करते रहते हैं। मुख का जो भी आकार-प्रकार हम छोटे-छोटे बच्चों का देखते हैं, उसकी सर्जना माता की रुचियों, प्रवृत्तियों और समयानुसार ग्रहणशील आकर्षणों से होती है। माँ बननेवाली नारी अपने नवजात शिशु में, स्वामी का बाल-रूप पाकर जो फूली नहीं समाती, उसका मूल आधार उसके अन्तर्प्रान्त में फैली हुई वह क्रीड़ा-भूमि होती है, जो कतिपय संवेदनाओं के लिए तब तक किसी कारण अछूती रह जाती है'।" कहते-कहते दादा लेटे न रह सके, वे उठे और पलंग से उतरकर इधर-से-उधर टहलते हुए बोले—"तुम्हारे गहन अध्ययन से निकले हुए इस कथन ने फिर मेरे मन के तार हिला दिए। शब्द-शब्द को विष की घूँट की तरह पीता हुआ मैं सोचने लगा—"अगर इसके कोई सन्तान नहीं हुई,तो इसने इन बातों का अनुभव कैसे किया? केवल ग्रन्थों के अध्ययन से कथन में इतनी गहराई कैसे आ सकती है!' मैं बिलकुल अस्त-व्यस्त हो उठा। मेरी विचलित चेष्टाएँ देखकर त्रिभुवनबाबू जब मेरी ओर देखकर बोले—'मैं आपको विदा कर आऊँ। जान पड़ता है, आपकी तबियत ठीक नहीं है।' तब मैंने खड़े होकर बिना कुछ विचार किये हुए कह दिया था—

'तबियत मेरी वाक़ई ठीक नहीं है, बीस वर्ष पूर्व मुझे एक नागिन ने डस लिया था, तब से यही हाल रहता है !' पर फिर आगे चलकर मुझे अपनी भूल का ज्ञान हो गया। कई बार मेरे मन में आया, मैं आत्मघात कर लूँ। पर फिर यही सोचकर रुक गया कि वह तो और भी कायरता होगी ! युग-युग व्यापी यह विच्छेद स्वतः एक आत्मघात है ! तुम्हें स्मरण होगा प्रतिभा, बापू ने भी तो अपनी आत्मकथा में लिखा है—'स्वाद का असली स्थान जीभ नहीं, बल्कि मन है !' तब मैंने भी यह सोच लिया कि प्रायश्चित्त भी मन से ही हो सकता है। क्षण-क्षण दिन-दिन मास-के-मास, वर्ष-के-वर्ष मैंने केवल यह सोचने और स्थिर करने में बिता दिए कि अभी प्रायश्चित्त पूरा नहीं हुआ। फिर मैं तुमसे मिलने का बहाना सोचने लगा। तब अनायास यह प्रसंग आ गया और आज सहस्र कण्ठों से, तुम्हारे समक्ष, मैं अपनी हार स्वीकार करता हूँ। बुरा-भला जो कुछ कहना हो, आज मुझे कह लो प्रतिभा, मुझे बाहर निकलवा दो। मैं चूँ न करूँगा !"

प्रतिभा उठकर बैठ गई। उसकी भीगी पलकें मोतियों का हास बिखेरने लगीं। क्षण भर बाद स्थिर चित्त होकर वह बोली—"पर तुम्हारी यह हार ही मेरी साधना बन गई। प्रभु की लीला कितनी विचित्र है ! कीचड़ से कमल उत्पन्न होता है। खारी जल से भरे महासागर मानसून बनकर बरसते और इस तप्त धरा को शस्य श्यामला बनाते हैं। मिलन की अति-रंजना से विच्छेद की सृष्टि होती है और फिर वह चिरवियोग ही मिलन को अपने निकट खींच लाता है। घड़ी-घड़ी पल-पल मैं भी तो यही सोचती रहती थी कि तुम्हारी उस दिन की भर्त्सना ने ही तो मेरे इस जीवन का निर्माण किया है। जिसको तुम अपनी हार समझते हो, वह अगर मेरी जीत है, तो उस जीत के भी निर्माता तुम हो। ...बैठो-बैठो। खड़े क्यों हो ? जितना अपमान स्वयं तुमने अपने जीवन का किया है, क्या वह अभी काफ़ी नहीं हुआ जो मुझसे अपमान पाने की तैयारी कर रहे हो ! मान करने पर तो तुमको मनाने में बीस वर्ष लग गए, अपमान करूँगी तो डर है, कहीं बीस जीवनों के लिए वन-गमन का दण्ड न भोगना पड़े।

प्रतिभा अपनी बात समाप्त कर ही रही थी कि घड़ी ने टन-टन करके ग्यारह बजा दिए। दादा पुनः चारपाई पर आ गए। वे लेटने जा ही रहे थे कि प्रतिभा हँसती हुई बोल उठी—"मेरा खयाल है, नाटक समाप्त हो चुका है। इसलिए अब दूध तो पी लो। लेकिन ठहरो ! मैं उसे गरम कर दूँ, ठंडा हो गया होगा।"

प्रतिभा उठकर दूध का गिलास लिये हुए पास ही लगे दूसरे टेंट में जा पहुँची, जहाँ दीपा लेटी हुई थी। आहट पाकर झट उसके मुँह से निकल गया—"कौन ?"

"अरे तू सोई नहीं अभी तक ! दूध ठंडा हो गया है। इसे गरम करना है ज़रा !"

दीपा ने झट उठकर दूध का गिलास प्रतिभा के हाथ से ले लिया। फिर दियासलाई से स्टोव जलाती हुई बोली—"जाने क्या बात है, आज मुझे नींद नहीं आ रही दीदी !"

दीदी हँसती बोली—"तू ला तो सही दूध गरम करके। नींद बुलाने में कितनी देर लगती है !"

प्रतिभा जब पुनः अपने टेंट के अन्दर प्रवेश करने लगी, तो प्रहरी ने झुककर सलाम कर दिया। तब प्रतिभा के मुँह से निकल गया—"कल किसी वक्त आकर अपना इनाम ले जाना।" फिर जब वह अन्दर पहुँची, तो दादा अपना बैग खोलते हुए बोले—"आशा तो नहीं थी कि इतनी सरलता से दण्ड की अवधि समाप्त होकर मुक्ति मिल जायगी। फिर भी पागल मन नहीं माना। थोड़ी-सी नुकती ले आया हूँ।"

इस समय बरबस फिर प्रतिभा की आँखें भर आईं। हँसती और आँसू पोंछती हुई वह बोल उठी—"तुम्हारा यह पागल मन मेरी सतत साधना का एक-मात्र आधार रहा है।"

स्टोव में दूध गरम होते देर कितनी लगती है ! दीपा दूध का गिलास लिये सामने आ खड़ी हुई। झटपट टी-टेबिल पर रखकर वह जब लौटने लगी, तो प्रतिभा ने कह दिया—"नींद बुलाने की दवा तो लेती जा दीपा !"

फिर जिस प्लेट में वह दूध का गिलास रखकर ले आई थी, उसको उसने नुकती से भर दिया। टेंट से बाहर अभी उसने पैर रखा ही था कि प्रमादिनी कोयल बोल उठी—"कुऊ"।

: २९ :

फ़ार्म में पहुँचने पर केशव काम देखने और कार्यकर्त्ताओं को समझाने में इतना उलझ गया कि उस दिन लक्षणा के यहाँ जा न सका। सायंकाल दिया जले जब वह घर पहुँचा, तो व्यंजना ने उसे बतलाया कि दिलीप एक अटैची-केस छोड़ गया है। दोनों ने मिलकर उसे देखा और उसमें रक्खी हुई सब वस्तुएँ देखीं, तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। बाडिस और ब्लाउज़, नाप की दृष्टि से, उसी युवती के हो सकते हैं, जो सोलह वर्ष से अधिक अवस्था की हो नहीं सकती। साड़ी जारजेट की है और उसका रंग बॉटल ग्रीन है। इनके अतिरिक्त शृंगार-प्रसाधन की पूरी सामग्री है। सो भी सस्ते दामोंवाली नहीं। बाज़ार में अच्छे-से-अच्छे प्रकार और अधिक दामों वाली। खिलौने एक-दो नहीं, क़रीब एक दर्जन हैं; सो भी दो-तीन वर्ष के अबोध बच्चों की रुचि के अनुकूल। बड़ी देर तक दोनों विचार करते रहे, यह सामग्री दिलीप अगर मेरे लिए ले आया, तो दे क्यों नहीं गया? संकोच की इसमें बात ही क्या थी!

भोजन करने के अनन्तर दाँत के नीचे आए हुए सौंफ़ के दाने को धीरे से कुतरती हुई व्यंजना बोली—"मान लो, संकोच के कारण ही उसने प्रकट रूप से यह सब सामान देना उचित न समझा हो; तो इसमें बुराई क्या है? देखते नहीं थे। दस बातों के बीच कहीं किसी एक बात का उत्तर वह दे पाता था और फिर उत्तर की शब्दावली भी कितनी संतुलित, सरल और प्रभावमयी होती थी। आज तक ऐसे विशिष्ट व्यक्तित्व का कोई व्यक्ति मैंने नहीं देखा। जितने दिन वह रहा, मुझे ऐसा जान पड़ता था,

जैसे कोई देवदूत आकर मेरे यहाँ ठहर गया है। आज जब वह चला गया है, तब ऐसा लगता है, जैसे हमारे अपने बीच का, खास हमारे प्राणों का, कोई भागीदार हमसे विलग हो गया है!"

गाँव के बीच पेड़ों पर मोर बोल रहे थे।

केशव ने हँसते-हँसते कह दिया—"ऐसा ही था, तो तुमको उससे और अधिक ठहरने का अनुरोध करना चाहिए था।"

"अनुरोध मैं अवश्य करती; पर जब यह तय हो गया कि तुम लक्षणा को देखने के लिए शहर जा रहे हो, तब केवल यह सोचकर मैंने कुछ नहीं कहा कि तुम्हारी अनुपस्थिति में वह अकेला मेरे साथ रहना किसी प्रकार स्वीकार न करेगा।"

"केवल कहने भर की देर थी। वह स्वीकार कर लेता, अवश्य कर लेता, यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ।"

"ऐसे दावे मैंने बहुत सुने हैं। तुम अपने-जैसा सबको समझते हो! समझते रहो सबको, मुझे कोई आपत्ति न होगी। लेकिन दिलीप को जो समझ रहे हो, यही तुम्हारा उसके साथ बहुत बड़ा अन्याय है!"

"अन्याय करना मेरा स्वभाव बन गया है। अब मैं सबके साथ अन्याय ही करता हूँ। तुम बची रहना! कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे साथ भी कभी घोर अन्याय कर बैठूँ!"

केशव खाना खाने के बाद रात को भी घंटे-दो-घंटे काम करता था। हिसाब तो लिखता ही था। पत्र-व्यवहार भी उसी समय करता था। उस दिन दिलीप के प्रसंग से जब ऐसी अप्रिय बातें होने की स्थिति उत्पन्न हो गई, तब व्यंजना उसके पास से उठकर चल दी। ~~दिलीप~~ भी अपने कार्य में लीन हो गया। पर अभी आधा घंटा भी व्यतीत न हुआ था कि सहसा उसकी दृष्टि टेबिल पर रखे ब्लाटिंग-पैड की एक ऐसी लिपि पर स्थिर हो गई, जो न उसके अपने हाथ की थी, न व्यंजना के हाथ की। कई स्थानों पर विविध शैलियों, फूल-पत्तियों, चिड़ियों के पंखों और झुकी टहनियों में पेंसिल से स्पष्ट लिखा हुआ था—व्यंजना। इसके अतिरिक्त एक कोने में कुछ

अस्पष्ट-सा लिखा जान पड़ता था—'व्यंजना · · · व्यंजना—मेरी अभि-व्यंजना ।'

केशव यह देखकर क्षण-भर को स्तम्भित हो उठा । फिर वह वेग के साथ उठा और सीधा व्यंजना के पास जाकर उसको वहीं ले आया और लैंप की रोशनी के निकट उस लिपि को ले जाकर कहने लगा—"आँखें खोलकर पढ़ लो, क्या लिखा है !"

उस समय छत पर दो बिल्लियाँ लड़ रही थीं। ···उत्तर में व्यंजना ने एक शब्द तक नहीं कहा। पर उस समय उसे दिलीप के ये शब्द याद आ रहे थे—"मैं आपको सदा याद रखूँगा। मैं आपकी इस आत्मीयता को कभी न भूलूँगा। जब कभी संकट के क्षण आयँगे, तब यह सोचने में मुझे बड़ा सुख मिलेगा कि मेरा ऐसा भी कोई है, जिसे मैं अपना कह सकता हूँ !" यों चाहे याद न रहते, पर वे उसके लिए इतने प्रीतिकर थे कि रिकॉर्डिंग की भाँति उसके हृदय पर अंकित हो गए थे। ···"अब मैं तुम्हीं से पूछता हूँ, यदि उसके मन में अगर तुम्हारे लिए कोई आकर्षण नहीं है तो उसने ऐसा क्यों लिखा ?"—केशव ने कुछ ऐसी जलन और दृप्त प्रतिक्रिया के भाव से पूछा कि व्यंजना को एक अनुपस्थित आत्मीय की मान-रक्षा के लिए मुँह खोलना पड़ा—"यह तो मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकती कि दिलीप ने ऐसा क्यों लिखा, पर अभी उस दिन तुम्हीं ने मुझसे कहा था—"संकोच उन्हीं व्यक्तियों को अधिक होता है, जो अहंवादी होते हैं। वे समझते हैं कि किसी प्रकार का लोभ, मोह, ममत्व और आकर्षण प्रकट करना हमारी हीनता है। लेकिन मैं इन भावों को मनुष्य की स्वस्थ प्रकृति का एक लक्षण मानता हूँ।"

व्यंजना से यह उत्तर पाकर केशव अवाक् हो उठा। वह दो मिनट तक कुछ नहीं बोला। व्यंजना शयन-कक्ष में चली आई, तो केशव ऑफ़िस से उठकर पुनः उसके पास जा पहुँचा। व्यंजना अभी अपने पलंग पर बैठी थी। केशव कमरे भर में इधर-से-उधर टहलता हुआ कहने लगा—"तो तुम दिलीप को देवता समझती हो ?"

"मेरे मुँह मत लगो। मैं देवता किसी को नहीं समझती; न तुमको—

न उसको। लेकिन छोटी-छोटी तिनके-सी बातें उठाकर किसी को व्यर्थ में बदनाम करना मैं अपनी ही हीनता समझती हूँ।" व्यंजना इतना कहकर पलँग पर चुप-चाप लेट रही। उसे दिलीप के ये शब्द नहीं भूलते थे—'मेरा ऐसा भी कोई है, जिसे मैं अपना कह सकता हूँ।' वह जी भरकर रो लेना चाहती थी, पर रो नहीं सकती थी। उसकी आँखों में आँसू भरे हुए थे, किन्तु वह सिसकी नहीं ले सकती थी!

अब रात के दस बज गए थे। केशव इस समय प्रायः सो जाया करता था। सोने से पहले व्यंजना उसे दूध पिलाने आती थी। पर आज अभी तक वे बहस में ही जुटे हुए थे!..केशव भी पास लगे पलंग पर लेट गया। उसका मन अशान्त था। रह-रहकर सारी बातें विद्युत् के आघात की भाँति उसके मस्तक से जा लगती थीं। अभी-अभी व्यंजना ने दिलीप के लिए कहा था—"आज तक ऐसे विशिष्ट व्यक्तित्व का कोई व्यक्ति मैंने नहीं देखा।···आज जब वह चला गया है तब ऐसा लगता है, जैसे हमारे अपने बीच का, खास अपने प्राणों का कोई भागीदार, हमसे विलग हो गया है!"

'क्या इसका अर्थ यह नहीं कि दिलीप उसके प्राणों का खास भागीदार है?···आज तक ऐसे विशिष्ट व्यक्तित्व का कोई व्यक्ति उसने नहीं देखा था।·····अर्थात् अगर देख पाती, तो मेरे साथ विवाह का यह अविभाज्य अटूट सम्बन्ध न स्थापित करती।' इधर केशव यह सोचते हुए करवट बदल रहा था। उधर छत पर एक बिल्ली ने रोना शुरू कर दिया था। एकाएक व्यंजना को ध्यान हो आया—'अरे उन्हें दूध पिलाना तो मैं भूल ही गई।' तब चुपचाप उसने आँसू पोंछ डाले। छाती में एक आह छिपाए वह उठी। बरोसी पर दुधांड़ी ढकी रखी थी। गिलास भर दूध उसमें से निकालकर, उसमें चीनी मिलाकर उस पर चम्मच से मलाई अलग से डालकर, वह केशव के पास जा खड़ी हुई भावना की सारी मर्म-व्यथा भूलकर वह बोली—"उठो-उठो, दूध पी लो झट से।" उसके स्वर में अब भी कम्पन भरा हुआ था।

केशव कुछ नहीं बोला। तब व्यंजना समझ गई, जान पड़ता है, सचमुच नाराज़ हो गए हैं। तब गिलास उसने बीच में रखी छोटी टेबिल पर ढककर रख दिया और स्वर में संगीत के साथ कुछ लाड़ का पुट देकर स्व० सहगल के स्वरों में गाने लगी—"मैया मोरी, मैं नहिं माखन खायो!"

मधुर स्वर-लहरी में गाती हुई व्यंजना जब इस चरण तक पहुँची—"चार पहर बंसी-बट भटक्यो, साँझ भये घर आयो," तब मुसकराता हुआ केशव उठ बैठा और बोला—"व्यंजना, आज मुझे मालूम हुआ कि मैं कितना ईर्ष्यालु आदमी हूँ। दिलीप की अत्यधिक प्रशंसा ही मेरे अनुताप का विषय बन गई थी। अब से इस बात का ध्यान रखना। सही हो कि ग़लत, मैं यह नहीं देख सकता कि दुनिया में किसी भी व्यक्ति के लिए तुम्हारे मन में मुझसे अधिक आदर, श्रद्धा और प्रेम हो।" और झट दूध का गिलास उठाकर गट्-गट् पीने लगा।

व्यंजना हँसने लगी। बोली—"लेकिन प्रेम के साथ-साथ इस भोले बड़े भाई के आदर और विचारी श्रद्धा दाई को क्यों घसीटते हो? इन्होंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?"

दूध पीकर व्यंजना की साड़ी से ही मुँह पोंछता हुआ केशव कहने लगा—"बड़े बने हुए हैं दोनों-के-दोनों। दोनों ही अम्मा और बाबू की तरह प्रेम के पोषक हैं। दोनों को मिलकर प्रेम में रूपान्तरित होते देर नहीं लगती।"

व्यंजना जब अपने पलंग पर लेट गई, तब उसकी चेतना के कानों में कोई कह रहा था—'हमारे देश के सभ्य समाज में आज नारी बस इतनी ही स्वतंत्र है, जितनी मैं!'

वह अपने-आप पर हँस रही थी! उसकी आँखें खुली थीं और एक नेवला अपना नोकीला मुँह उठाये उसे घूर रहा था!

.. .. ..

केशव जब लक्षणा के यहाँ पहुँचा, तो दादा से ही उसकी भेंट हो पाई। चिन्ता प्रकट करते हुए बोले,—"तिकुनवाँ-स्टेशन के हत्या-कांड से

बच निकलने पर भी दिलीप पता नहीं किस तरह, कहाँ किस घटना-चक्र में फँस गया कि अब तक वह घर नहीं लौटा। जो रक़म उसके पास थी, वह बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए थी। समय पर जब वह जमा न हो पाई, तो चारों ओर उसकी बदनामी उड़ने लगी। खैर, रक़म तो मैंने जमा कर दी है, पर अब दिलीप को लौटना तो चाहिए। गिरधारी के दुर्व्यवहार से अगर वह त्रस्त न होता, तो इस तरह की कोई बात ही न पैदा होती !"

केशव ने नींबू का शरबत पीते-पीते कह दिया—"दिलीप मेरे यहाँ गया था। उसके साथ कालीचरन भी था। वह कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा, उदास और गम्भीर अवश्य था। वह मेरे यहाँ एक अटैची-केस भी छोड़ गया है, जिसमें किसी सम्पन्न सुहागिन नारी के पहनने योग्य साड़ी, ब्लाउज़, बाडिस, शीशी, साबुन आदि शृंगार की वस्तुएँ रखी हैं। पता नहीं, यह सामग्री उसने किसके लिए खरीदी थी। मेरे यहाँ के लिए ही अगर ले आया था, तो स्पष्ट रूप से मुझे बतला तो देना था। वह अपने आचार-विचार में इतना दृढ़ है कि उस पर अन्य किसी प्रकार का सन्देह करना उसके साथ अन्याय करना है। लेकिन जब तक स्पष्ट रूप से यह न मालूम हो कि आखिर किसके लिए उसने ये सब चीज़ें खरीदी हैं, तब तक सन्देह तो मन से जा नहीं सकता।"

दादा सदा के संशयालु रहे हैं। केशव की यह बात सुनकर वे और भी उद्विग्न हो उठे। क्षुब्ध आशंका से तत्काल उत्तेजित होकर वे बोले—"नये ज़माने के इन युवकों की मति-गति पर मेरा क़तई विश्वास नहीं रह गया। यहाँ आने पर जो व्यक्ति अपने व्यस्त जीवन की चिन्ता में दो-चार घंटे भी ठहरना स्वीकार नहीं करता, वह तुम्हारे यहाँ क्यों किस मतलब से जा पहुँचा, यही मेरी समझ में नहीं आता !"

केशव नहीं जानता था कि उसकी क्षेम-कुशल का हाल-चाल देते ही दादा दिलीप पर इस प्रकार का आरोप कर बैठेंगे। अतएव वह सोच-विचार में पड़ गया। पर उसको चुप देखकर दादा ने पूछा—"आगे

के कार्यक्रम के सम्बन्ध में कुछ बतला रहा था ?"

केशव ने डरते-डरते इतना और कह दिया—"कहता था, 'फ़ौरन मेडिकल-कॉलिज ज्वाइन करना है।' उसके बाद उसने यह भी बतलाया था कि "अदृष्टवाद पर एक बड़ी पुस्तक यहीं तुम्हारे साथ रहकर लिखना चाहता हूँ'।"

"तो यह कहो कि तुम्हारे यहाँ का वातावरण, इस विषय पर पुस्तक लिखने के लिए, एक तरह से प्रेरक ही लगा उसे।···ठहरा था एक-आध दिन ?"

केशव आगे की जितनी भी बातें बतलाता जाता था, दादा के वाक्-जाल में उतना ही और अधिक फँसता जाता था। पर अब वह उस स्थिति पर जा पहुँचा था कि आगे बात बनाने में कुशल न थी। अतएव चुपचाप उसने बिलकुल सही-सही बतला दिया—"एक-आध दिन क्यों, बल्कि चार-पाँच दिन ठहरा था।"

तभी जैसे सन्देह-पर-सन्देह करते हुए दादा के मुंह से निकल गया —"हुँ !"

केशव ने समझा था, बात यहीं से समाप्त हो जायगी। पर क्षण भर बाद दादा फिर बोल उठे—"तुम्हारा मत क्या है उसके सम्बन्ध में ?"

यही वह अवसर था, जब केशव दिलीप के पक्ष में कुछ कह सकता था। अतएव नींबू के शरबत का वह पीला गिलास समाप्त करते हुए उसने कह दिया—"लड़का तो मुझे बड़ा ही आचार-निष्ठ, तेजस्वी, साधु और होनहार जान पड़ता है।"

"तो तुम बिलकुल बुद्धू हो केशव ! दुनिया के रंग-ढंग का तुमको थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं। इतनी सी बात तुम्हारी समझ में नहीं आती कि जिसे तुरन्त मेडिकल-कॉलिज में दाखिल होकर अपनी शिक्षा पूरी करनी चाहिए—और जिसमें अब काफ़ी देर हो चुकी है—वह आखिर इधर-उधर मारा-मारा क्यों फिर रहा है ! तितली-ब्रांड की किसी युवती के लिए शृंगार-प्रसाधन की इस सामग्री को साथ लिये-लिये फिरने का क्या

मतलब है ? तुम समझते हो कि इसके अन्दर कोई राज़ नहीं है ? और फिर इस मस्ती का कुछ ठिकाना है कि जिस सामग्री पर आपने सौ-डेढ़-सौ रुपये खर्च कर डाले, जिसे सुरक्षित रूप से अपने साथ भी ले आये, उसे तुम्हारे यहाँ छोड़ गए ! आचार-निष्ठ और होनहार लड़के का तुम यही लक्षण मानते हो ?"

केशव ने कल्पना भी न की थी कि एक ज़रा सी बात पर दादा इस प्रकार भड़क उठेंगे ! उसे स्मरण हो आए दिलीप के वे शब्द, जिनमें उसने व्यंजना के प्रति अपनी निश्छल हार्दिकता व्यक्त करते हुए ऐसी सुसभ्य भार्या पा जाने पर उसे बधाई दी थी। वह सोचने लगा कि यदि वह दृश्य उनकी ये संशयालु आँखें देख पातीं, तब तो एकदम से अनर्थ ही हो जाता ! तब वार्तालाप का प्रसंग बदल देने के अभिप्राय से उसने पूछा—"लक्षणा की तबियत तो अब ठीक है न ?"

"वे लोग सब-के-सब काशी गए हैं केशव" पान का गलित कोना कैंची से काटते हुए दादा बोला उठे—"तबियत की बात मत पूछो। इस लक्षणा को भी तुम कम शैतान समझते हो ! पता नहीं, कहाँ से, किस तरह उछली कि सीढ़ी से गिरकर एकदम नीचे सीमेंट के फ़र्श पर आ गिरी ! ग़नीमत समझो कि बच गई। गिरा हुआ खून देखकर मैंने तो यही सोच लिया था कि चलो, यह भी कथा समाप्त हुई ! एक की बात हो, तो चित्त को कुछ शान्ति भी मिले। दिलीप के साथ उसके ब्याह का प्रयत्न क्या मैंने शुरू कर दिया, एक आफ़त मोल ले ली। दूसरे किसी योग्य वर की चर्चा करना भी अब घर पर सियापा बैठाना हो गया हैं ! तुम ठहरे नये जमाने के युवक। भला मेरी बात पर क्यों विश्वास करने लगे ! लेकिन धीरे-धीरे अब मेरा यह विचार बिलकुल दृढ़ हो गया है कि घरों की व्यवस्था के सम्बन्ध में एक भी बात स्त्रियों के कान में डालना बर्रों का छत्ता छेड़ना है !"

केशव को दादा की इन बातों पर पहले से ही मन-ही-मन हँसी छूट रही थी कि इतने में लगे-लगाए पान को हाथ में लिये हुए जब एक झटके

के साथ वे बोले—"बरों का छत्ता छेड़ना है ।"—तब सहसा वह पान उनके हाथ से छिटककर दो गज़ दूर फ़र्श पर जा रहा !

अकस्मात् आई हुई हँसी कहीं प्रकट न हो जाय, इसलिए झट केशव ने मुँह फेर लिया । तभी दादा बोल उठे—"कोई बात नहीं । मैं तुमको दूसरा पान अभी तुरंत लगाए देता हूँ ।••और कहो, सब काम ठीक ढंग से चल रहा है ।"

केशव ने घड़ी की तरफ़ देखते हुए जवाब दिया—"आपकी कृपा से सब ठीक है ।"

"क्या ठीक है ? इस साल खर्चा निकालकर कितना रुपया बेंक में डाला ?" चूने पर कत्थे की पुट देते हुए दादा ने तपाक से प्रश्न कर दिया ।

"बेंक में तो विशेष नहीं डाल पाया" केशव दबते-दबते कहने लगा—"क्योंकि कई नई मशीनें खरीद लीं । पर इतना प्रबन्ध तो कर ही लिया कि अब आगे गाड़ी रुकेगी नहीं । भगवान् चाहेगा तो इस साल इतना पपीता हमारे यहाँ पैदा होगा कि आप लोग केले के बजाय पपीता खाना शुरू कर देंगे ।"

"मैं कभी छुऊँगा भी नहीं । यों भी मुझे उसकी हीक से नफ़रत है ।" कहते हुए दादा मुसकराने लगे । फिर केशव को पान देते हुए बोले—"लो, ऐसा पान तुमने बहुत दिनों से न खाया होगा ।"

केशव ने पान लेकर चुपचाप मुँह में रख लिया । फिर जूते में पैर डालकर खड़ा हुआ ही था कि दादा बोल उठे—"अब जाते कहाँ हो ?"

"ज़रा सुरेन्द्र से मिलना है दादा ! सम्भव है, दिलीप ने उसी को कोई पत्र लिखा हो ।"

"अच्छा-अच्छा, खुश रहो ।" चरण-स्पर्श करने पर केशव को आशीष देते हुए वे बोले—"देखो केशव, सुरेन्द्र के यहाँ जाते तो हो, पर दिलीप के सम्बन्ध में कोई बात आये, तो टका-सी चुका देना । समझे कि नहीं ? कैसा भी हो, है तो घर का ही लड़का । फिर अभी उसकी अवस्था ही क्या है !"

केशव अभी दो कदम ही आगे बढ़ पाया था कुछ ज़ोर से दादा बोले—"अरे-अरे सुनो केशव, एक बात तो रह गई ।"

केशव फिर लौट पड़ा । पास आ जाने पर दादा बोले—"बैठो, मैं ताँगा जुतवाए देता हूँ । ऐसे कैसे जाओगे ? .... कहाँ गया रे गनपत ?"

"आया सरकार !" गनपत ने दरवाज़े से ही उत्तर दे दिया । पास आने पर दादा ने पूछा—"इनको पहचानते हो कि नहीं ?"

गनपत हँसने लगा । तब दादा बोले—"तो भले आदमी की तरह ताँगा जोत लो । देखते नहीं हो, इन्हें शहर जाना है ।"

गनपत चला गया । दादा बोले—"अटैची-केस में साड़ी, ब्लाउज बाडी आदि शृंगार-प्रसाधन-सामग्री ले आकर फिर उसे छोड़ जाने वाली बात किसी से कहने की नहीं बेटा! समझे कि नहीं ? यह भी तो हो सकता है कि वह उसे व्यंजना के लिए ही ले गया हो और संकोचवश कह न पाया हो!"

तब एकाएक केशव के मुँह से निकल गया—"और यह भी तो हो सकता है कि अटैची-केस ही कहीं बदल गया हो; क्योंकि वह है भी अपने प्रति एक नम्बर का लापरवाह !"

तब विस्फारित आँखों से दादा केशव की ओर देखते हुए बोले—"हाँ हाँ ! मुझे तो तुम्हारी यही बात बिलकुल सही मालूम होती है । क्योंकि पाँच हज़ार के दस-दस पाँच-पाँच रुपयेवाले नोट्स हो सकता है, उसने उसी में रख छोड़े हों ! शिव शिव ! भगवान् न करे किसी पर ऐसा संकट आये । ऐसी चिन्त्य अवस्था में अगर वह तुम्हारे यहाँ दो-चार दिन ठहर गया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं ।" फिर थोड़ा रुके और आकाश की ओर हाथ जोड़कर बोले उठे—"रक्षा करो प्रभु !" और धोती से आँसू पोंछने लगे ।

.. .. ..

सुरेन्द्र मित्रों के साथ बैठा हुआ ताश खेल रहा था । हुक्म की बीबी उसके सामने थी और वह उस पर अपना बादशाह फेंक रहा था । यद्यपि इक्का उसके हाथ में था, लेकिन विरोधी पार्टी को धोखा देने के लिए वह

कह रहा था—"अब तारीफ़ तब है, जब इसी बात पर तुम अपना इक्का चला दो!"

इसी समय केशव उसके पास जा पहुँचा। सुरेन्द्र अवस्था में भी केशव से छोटा था। इसलिए खेल को वहीं समाप्त करके, वह झट केशव के चरण छूने को उठ खड़ा हुआ, तो केशव ने आशीष देते हुए कह दिया—"प्रसन्न रहो।" फिर गद्दी पर बैठता हुआ बोला—"कहो सब क्षेम-कुशल तो है?"

सुरेन्द्र ने मसनद केशव के पीछे लगा दी और उत्तर दिया—"भगवान् की कृपा से।" फिर क्षण-भर बाद बोल उठा—"हाँ, दिलीप का पता नहीं है। है वह आनन्दपूर्वक, चाहे जहाँ हो। चिट्ठी भी उसकी आई है। पर पता उसमें कहीं का नहीं दिया हुआ है।····पुरुषार्थ चाहे जितनी बड़ी चीज़ हो, मगर भाई साहब, भाग्य के आगे वह मिट्टी है, कूड़ा है! मनुष्य तो उसके हाथ का खिलौना-मात्र है! बन्दर को जिस तरह मदारी नचाया करता है, आदमी को उसी तरह भाग्य। दिलीप का जीवन इस बात का जीता-जागता उदाहरण है।"

"लेक्चर रहने दो। पत्र दिखलाओ उसका।" केशव ने उत्तर में कह दिया। सुरेन्द्र तो उठकर अन्दर चला गया। हाँ, गद्दी के ऊपर जो कैश-बाक्स था, उस पर एक रद्दी कागज़ में लिपटे हुए दो पान रखे थे, केशव जब उन्हें उठाकर खाने लगा, तो सहसा उसकी दृष्टि उस रद्दी काग़ज़ पर भी जा पड़ी। वह उसे फैलाकर ध्यान से देखने लगा। उसमें तिकुनवाँ-स्टेशन पर होनेवाले क़त्ल के मुजरिम बफ़ाती के सम्बन्ध का एक समाचार छपा हुआ था। यद्यपि अब तक काग़ज़ पान के दाग़ों से रंग गया था और समाचार भी उसका पुराना पड़ गया था। पर केशव के लिए वह अब भी एक तरह से नया था। उसमें छपा हुआ था—

"कानपुर ता० २६ जुलाई। नगर का पुराना पाकेटमार और (अब) डाकू बफाती तिकुनवाँ-स्टेशन से कानपुर लौट रहा था। उसके साथ पकड़े गए दो डाकू और थे। पाँच कांस्टेबलों से घिरा, हथकड़ियों में

बँधा हुआ, वह जब रेल से कानपुर आ रहा था, तब डिब्बे में ही उसने आत्मघात का प्रयत्न किया। दवा के बहाने वह जो शीशी पीने जा रहा था, उसमें विष···।"

इसके बाद की शब्दावली वाला कागज़ फट चुका था।

इतने में सुरेन्द्र पत्र लेकर आ पहुँचा और बोला—"वैसे तो खाना भी तैयार है, पर मेरी तबियत है कि पहले थोड़ा जल-पान चल जाय। इसी बहाने मुझे भी मुख-पूजन का थोड़ा अवसर मिल जायगा।"

"मुझे इस समय न पेट-पूजन की जरूरत है, न मुख-पूजन की। मैं इस समय मानस-पूजन का इच्छुक हूँ"—कहते हुए केशव ने पत्र सुरेन्द्र के हाथ से छीन लिया। पहले उसने लिफ़ाफ़े की मुहर देखी। वह उसी सुखदासपुर की थी, जो विक्रमपुर के डाकखाने का होता था। तब वह सोचने लगा, यह पत्र उसने मेरे यहाँ बैठकर लिखा होगा। उसकी शब्दावली इस प्रकार थी।

"प्यारे सुरेन्द्र,

मौत के मुँह से तो मैं बच गया। पर नियति के मुँह से नहीं बच सका। जिस लारी से मौसमपुर जा रहा था, उसमें मेरा अटैची-केस बदल गया। मैंने अभी उस दिन वह नया ही खरीदा था। मेरे अटैची-केस में शेविंग का सामान, नहाने का साबुन, टूथ पेस्ट व ब्रश, एक तौलिया—जिसमें नोट्स लिपटे थे—तथा मेरी प्यारी डायरी थी। और जो उसके बदले में मिला उसमें निकली किसी षोडशी की शृंगार-प्रसाधन की सामग्री और बच्चों के खिलौने !

मेरी हालत तुम जानते ही हो क्या छिपा है तुमसे ? यह भी तुम्हें मालूम है कि वे रुपये मेरे न थे। जिनके और जिनके लिए थे, उनको जवाब देने के लिए अब मेरे पास क्या है ? तुमने उस दिन जो बात मज़ाक में कही थी—

(मुझे मालूम है, तुम आजकल चन्दे की रक़म पर हाथ साफ़ कर रहे हो—शब्दावली चाहे जो रही हो, पर भाव उसका यही था)—

दुनिया की नज़रों में आखिर वह चरितार्थ होकर रही ! अब खुशियाँ मनाओ इसी बात पर दोस्तों को दावत दो कि मेरा वचन कितना सत्य सिद्ध हुआ !

ऐसे अवसर पर मेरी लाज बचाने वाला कौन है ? बार-बार मेरे मन में आया है, मुझे तुरंत तुम्हारे पास आना चाहिए था। पर मेरी भीरु आत्मा ने इसे स्वीकार नहीं किया। बात यह है कि मैं तुम्हें खोना नहीं चाहता। क्योंकि ऐसा भी तो हो सकता है कि तुम मेरे लिए कुछ न कर सको।—मनुष्य परिस्थितियों का दास है।—परन्तु वह 'इन्कार' मुझे कहीं का न रखता। मेरा दिल टूट जाता।

इसके सिवा और भी एक बात है। यह सही है कि व्यक्ति के विकास में मित्र का अवलम्ब अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। परन्तु यह भी उतना ही सही है कि उस अवलम्ब का न तो कोई प्रतिदान हो सकता है, न अवलम्ब देने वाले को कभी उसकी आकांक्षा रखनी चाहिए। लेकिन सुरेन्द्र, आज की दुनिया इस मामले में बिलकुल बाज़ारू हो गई है। वह कृतज्ञता की भी कीमत चाहती है।—वह कीमत भी इतनी अधिक कि सुनकर दिमाग़ चकरा जाय ! इसलिए इस अवसर पर मैंने तुमको जो कष्ट नहीं दिया, उसके लिए तुम मुझे क्षमा कर देना।

देखो, अब कब मिलना होता है !

तुम्हारा—
दिलीप

पुनश्च—नगर-भर में ढिढोरा पिट गया होगा कि दिलीप चन्दे की रक़म लेकर भाग गया है ! हो सकता है कि बात लक्षणा के भी कान में में जा पहुँची हो। यदि ऐसा कुछ हो, तो उसे समझाने और धैर्य देने का प्रयत्न करना। दि०"

दिलीप का पत्र पढ़कर केशव को बड़ा दुःख हुआ। वह दिलीप के शील-सौजन्य से पूर्ण परिचित था। किन्तु वह यह नहीं जानता था कि इस व्यक्ति

के अन्दर क्षुब्ध सत्य की रक्षा के लिए इतनी अग्नि है ! वह सोचने लगा, 'अभी कल इसी व्यक्ति की अत्यधिक प्रशंसा सुनकर मैं व्यंजना से लड़ पड़ा था। पर आज मुझे ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृति नाम की वस्तु का मुझमें सर्वथा अभाव है ! लक्षणा यदि अपने ब्लाटिंग पैड पर, दो-चार क्या, दस-बीस बार मेरा नाम अंकित कर दे, तो यह समझ लेना कितनी बड़ी भूल होगी कि वह मुझसे प्रेम करती है ! मुझे भी तो व्यंजना की अपेक्षा लक्षणा से अधिक स्नेह है। तो क्या इसका यह अभिप्राय है कि मैं लक्षणा के प्रति वासनात्मक भावना रखता हूँ ! अब उसकी समझ में आया कि व्यंजना ने कल कितनी चतुरता से काम लिया ! उसकी परिस्थिति में यदि मैं होता, तो उसकी ओर से अपने को मनाने की कभी चेष्टा न करता। और यह कहना कि स्त्री पति को छोड़कर अन्य पुरुष को आदर और श्रद्धा की दृष्टि से भी न देखे; बिलकुल प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है।'

उसने वह पत्र पुनः उसी लिफाफे में रख लिया। फिर नाक के निकटवर्ती दोनों आँखों के कोने साफ़ करते हुए सुरेन्द्र से उसने पूछा—"तुम्हें इस पत्र की कोई खास जरूरत तो नहीं है ?"

"क्यो, क्या इसे रखना चाहते हो अपने पास ?"

केशव ने कुछ सोचकर मुसकराते हुए उत्तर दिया—"कोई बात नहीं। व्यंजना को दिखलाकर मैं इसे वापस कर दूँगा।"

सुरेन्द्र के मुँह से निकल गया—"पर मैं इसलिए पूछ रहा था कि अच्छा तो यह होगा, मैं दिलीप के सारे पत्रों को इकट्ठा करके आपको सौंप दूँ। फ़ाइल बना लीजियेगा, तो किसी दिन काम दे जायँगे। रह गई मेरी बात; तो मुझे तो यह सब झंझट मालूम होता है। आपकी जगह कोई दूसरा व्यक्ति होता, तो यह पत्र खोजकर निकालना भी मेरे लिए एक परेशानी हो जाती ! मजाक नहीं, कुछ ही दिनों बाद मैं इस क़ाबिल भी न रहूँगा कि स्वयं अपने कपड़े पहन सकूँ !"

उत्तर में केशव यह कहते-कहते रुक गया कि 'ये चोचले तभी तक हैं, जब तक चाचाजी जीवित हैं। उसके बाद देखेंगे कि नाव नदी पर चल रही

है या ठेले पर !'

"चलिये चलिये" इतने में सुरेन्द्र बोल उठा—"अन्दर से माँ बुला रही है ।" केशव सोचता जा रहा था—" 'दिलीप के पत्र' नाम भी बुरा नहीं रहेगा एक पुस्तक का।" वह जब अन्दर की ओर थोड़ा बढ़ गया, तो क्या देखता है गैया अपने नवजात बछड़े का बदन चाट रही है !

: ३० :

लाला गिरधारी पलंग पर पड़े-पड़े कल्था करते थे । वे उठना चाहते थे, पर उठ नहीं सकते थे । वे बैठना चाहते थे, पर बैठ नहीं सकते थे । पड़े-पड़े उनकी कमर दुखने लगी थी । सुरेश कभी उन्हें गोद में लेकर बैठता भी, तो दो-चार मिनट के बाद वे फिर हाँफने और कराहने लगते । सिर को कभी दाईं ओर के कन्धे पर गिराने लगते, कभी बाईं ओर के । उनके जोड़ों में दर्द था, उनकी अंतड़ियों में भी दर्द था । उनकी कमर का दर्द तो कभी जाता ही न था। पहले खाँसी बिलकुल न थी, अब यह हालत थी कि खाँसते-खाँसते खून आने लगता था !

उनकी आँखें काफ़ी बड़ी थीं । स्वस्थ अवस्था में तेज उनसे फूटा पड़ता था । बच्चे तो उनकी भौंहें चढ़ी देखकर ही डर जाते थे । केवल आँखों के द्वारा भय, अनुशासन प्यार और मोह प्रकट करने में वे बड़े कुशल थे। मुसकराते तो ऐसा जान पड़ता जैसे कोई सेनापति मस्ती में आ गया है। और मुसकराहट भी उनकी विविध शैलियों की होती थी। उनकी कुटिल मुसकान कभी छिपती न थी । उनकी एक विचित्र मुसकान तो उसी समय देखने में आती थी, जब वे किसी को ठगना या धोखा देना चाहते थे । किन्तु उनकी वह मुसकान प्रायः दुर्लभ रहती थी, जिसमें मोह-लुब्ध हार्दिक लास्य मुखरित हो उठता । जब शारदा घुटनों के बल चलती हुई उनको कहीं निकट पा जाती और हाथ उठाकर उनकी धोती पकड़

लेती, लाला जी उसे उठाकर चूमने लगते, अथवा माँ की गोद में भी उसका रोना बन्द न होता, तब लाला जी उसे हिलाते-डुलाते थपकियाँ दे-देकर दुलराते हुए केवल उसका रोना ही बन्द न कर देते वरन् उसे सुला भी देते, तब उनकी आँखों का हास देखते ही बनता था।

आज उनकी वे ही बड़ी-बड़ी आँखें भयानक हो उठी थीं। सुरेश को कभी-कभी ऐसा जान पड़ता जैसे उन आँखों पर मृत्यु की छाया पड़ गई है। शारदा, विमला और सरला दिन-भर में दो-चार बार उन्हें देख जाती थीं। उन्हें दूध पिलाने या सेब के टुकड़े उठा-उठाकर देने में उन्हें एक तरह की प्रसन्नता ही होती थी। पर अब वे उनके स्वर से भी घबराती थीं! केवल शारदा कभी-कभी आ जाती थी। उसे लालाजी के प्रति श्रद्धा तो थी ही, मोह भी कम नहीं था। पर अधिक देर तक उनके पास बैठना या सहारा देकर उन्हें दवा पिलाना उसे भी स्वीकार न होता। अन्दर-ही-अन्दर वह जान सी गई थी कि अब वे नहीं बचेंगे। उसे उसका दुःख भी कम न था। बल्कि रात को अपनी चारपाई पर पड़ी दो-एक बार वह उनके शीघ्र निधन की कल्पना करके रो भी चुकी थी; किन्तु मरण-तुल्य पिता की सेवा की अपेक्षा उसे अपने आनन्द-विनोद अधिक प्यारे थे।

विमला केवल चिक के बाहर खड़ी होकर झाँकती हुई उन्हें देख जाती थी। अब बाबू को थोड़ी झपकी लग गई है,अब वे उठकर ज़रा कमर सीधी कर रहे हैं, अब अम्मा ने उन्हें लिटा दिया है। अब सुरेश मामा उन्हें गीता पढ़कर सुना रहे हैं, अब बाबू ग्रामोफ़ोन पर 'हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो' वाला रिकार्ड सुनते-सुनते रो पड़े हैं। सिसकियाँ ले-लेकर ऐसे रो रहे हैं कि आँसुओं का तार ही नहीं टूट रहा है—घर वालों को इन्हीं अवस्थाओं का संवाद देने-मात्र से उसका कर्तव्य अपने हिसाब से पूरा हो जाता था।

सरला का दृष्टिकोण इस विषय में सबसे अलग था। वह लालाजी के पास दिन-भर में दस चक्कर लगाती थी। यह बात दूसरी थी कि दस-पाँच मिनट से अधिक बैठना उसे भी खल जाता था। पर एक प्रश्न सदा

उसकी ज़बान पर धरा रहता—"अब कैसी तबियत है बाबू ?" वह कभी-कभी इस तरह भी पूछती—"सेब का जूस तैयार करूँ ?····थोड़ा सा दलिया बना दूँ सोंधा-सोंधा ?····बाबू, वैद्यजी कहते थे—मूंग के पापड़ का एक टुकड़ा खाने में तो कोई हर्ज है नहीं ! —और बाबू, बड़ी चाची कहती थीं—लाला जी बेकार घबराते हैं। मैंने सपने में देखा है कि वे अच्छे-भले बैठे हँस रहे हैं।"

कमला टाइफ़ायड़ से छुट्टी पाकर पनप रही थी। पर अभी वह चल-फिर नहीं सकती थी और शारदा की माँ नित्य सवेरे निर्मला को गोद में लेकर लाला जी को दिखला जाती थी। हाथ उठाकर नमस्ते करना वह सीख चुकी थी। और इस कर्तव्य-पालन में भूल करना उसके लिए सम्भव न था।

बड़ी चाची का पूजन-पाठ ज्यों-का-त्यों चल रहा था। वे यह जानती थीं कि गिरधारी अब बचेंगे नहीं। पर यह बात वे किसी तरह प्रकट न कर सकती थीं। इसलिए नहीं कि वे घर के लोगों से यह बात छिपाना चाहती थीं। वरन् इसलिए जब घर के लोगों को रोगी के निधन का पूर्ण विश्वास हो जाता है, तब वे मन से उसकी सेवा और परिचर्या भी नहीं करते। इसका फल यह होता है कि रोगी मरने से पहले ही मर जाता है। 'गिरधारी ने अपने जीवन में जो कुछ किया सो किया, पर मृत्यु की घड़ियों में तो उसे शान्ति ही मिलनी चाहिए ! परिवार और इष्ट मित्रों का यह धर्म है कि वे मृत-प्राय रोगी के कल्याण की ही कामना करें। जो इस संसार का सब-कुछ छोड़ रहा है, उसके दोषों और अपराधों का ध्यान तो संसार को भी छोड़ ही देना चाहिए।'···भजन के समय जब वे भगवान का ध्यान करतीं; तब उनकी कामना की प्रत्येक दिशा से यही पुकार उठती थी—'प्रभू, अपनी रचना के अवगुणों को भी कल्याण की ज्योति दिखलाओ। अहो मंगलमय, अपनी संतान का मंगल-मार्ग प्रशस्त करो। अहो ज्योतिर्मय, अपने खिलौनों पर प्रकाश की किरणें बिखराओ।'

दिलीप की माँ को जीवन में यह अनुभव करने का अवसर ही न

मिला था कि दुःख कहते किसे हैं ! पति का निधन हुए अभी दिन ही कौन बहुत बीते हैं ! घर में गिरधारीलाला और शारदा की माँ चाहे जितने कपट और छल-छन्द का आचरण करती रहतीं, पर उनके जीवन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। मुरारी बाबू अत्यन्त साधु प्रकृति के व्यक्ति थे। दुराव-छिपाव, असमान व्यवहार, वचन और कर्म का विभेद झूठ-सच, मिथ्या दोषारोप और अन्याय चारों ओर चाहे जितने फैले रहते, पर वे उनकी चर्चा सुनकर प्रायः मुसकरा दिया करते। उनका मन समुद्र की भाँति गहन, गगन की भाँति मूक और बालरवि की भाँति उदार था। सारे उलहनों उपालम्भों, और अशान्तिकर व्यापारों के लिए उनके पास यही उत्तर था—'जो ना-समझ, अबोध और मूर्ख हैं, ज्ञान की आँखें ही जिन्हें नहीं मिलीं, उन पर क्रोध का क्या करना, क्षोभ क्या दिखलाना ? समय उन्हें अपने-आप सब सिखा देगा, जीवन स्वयं उन्हें सब दिखा देगा, समाज स्वतःउन्हें सब बता देगा। फिर बदला लेना या वैर-विरोध का आचरण करके हम अपने मन को क्यों दुखी बनायें ? अपना काम किये जाओ, अपना कर्तव्य निभाये जाओ, अपना-धर्म-कर्म स्थिर रखो। तब तुम देखोगे, हम सब अपने हैं, समाज और संसार अपना है। अपने ही लोग तो सब-कुछ करते हैं। इसमें बुरा मानने का अवसर कहाँ है ?'

स्वामी की इस सीख को दिलीप की माँ ने चरितार्थ करके दिखला दिया था। गिरधारी ने दिलीप का चाहे जो अनिष्ट किया हो, किन्तु आज तो उनके ज्ञान के कपाट खुल गए हैं, आज तो उनके पाप-कर्म धुल रहे हैं। ऐसी दशा में मरण की ओर प्रस्थान करनेवाली उनकी आत्मा को चिरशान्ति मिलनी ही चाहिए।···गिरधारी लाला जब कभी अत्यधिक अधीर होकर रो उठते, तो बड़ी चाची उन्हें समझाने लगतीं—"ज्यादा न रोओ गिरधारी, उस पार देखो, भगवान् सूर्य की ओर देखो, तारों की ओर निहारो, रंग-बिरंगे पेड़-पत्तियों और फूलों पशु-पक्षियों की ओर ध्यान दो। पहाड़ों, झरनों और लहराते समुद्र की याद करो। देखो कितना आनन्द है, कैसी शान्ति है, कैसा प्यारा गीत है !

हवा में कितनी ठंडक है ? शीतल जल में कितना स्वाद है ? आग में कितनी गरमी है ? धरती में कितनी ममता और आकाश में कितना फैलाव है। दुःख कहाँ है ? सुख भी क्या है ? सब अपने हैं, पराया कौन है ? छूटता क्या है ? मिलता भी क्या है ? जाना कहाँ है ? ठहरना कहाँ है ? रोना किसके लिए ? हँसना कितनी देर ? सीमा किसके लिए ? सब को आना है, सबको जाना है। रहता कौन है ? जाता कौन है ?"

बच्चे इन बातों को सुनते तो हँसने लगते, शारदा की माँ सुनती, तो समझतीं—'जीजी को अब थोड़ा-थोड़ा पागलपन का रोग शुरू हुआ है। मँझली चाची सुनती तो स्तम्भित हो उठतीं ! सोनी सुनती, तो उस समय तो चुप रहती, पर घर के भीतर पहुँचकर झट उनके पैर थाम कर उन्हें दाबना प्रारम्भ कर देती। चिरौरी करती हुई कहती—"तुम्हें मेरे इस अधम पापी सरीर की कसम है, जो फिर से ऐसी बातें हमें न सुनाओ। हाय अब तक मैं कितने भुलावे में रही ! इतनी भी न जान सकी कि जसोदा मैया तो अपने घर ही में विराजमान हैं !"

जिसको संसार की माया-ममता सबसे अधिक सताती थी, जो सुख-दुःख के नाना-प्रसंगों का रत्ती-रत्ती नाप-तौल किया करती थी, उस अत्यन्त श्रमशीला नारी सोनी को ही लालाजी की मृत्यु-कल्पना पर सबसे अधिक दुःख था। लेना-देना और तनखाह की कमी-बेशी को वह उतना क़ीमती नहीं समझती थी, जितना आदमी के शील स्वभाव को। तभी उसे यह सोचकर कम पीड़ा न होती थी कि छोटी चाची तो दूसरे चौथे भला-बुरा सुनाती ही रहती है। पर लालाजी ने आज तक मुझसे कभी कोई कड़ी बात की ही नहीं। कभी किसी बात को लेकर मैंने ढिठाई भी दिखलाई, तो उन्होंने यही कह दिया—"तू आप काम देख सोनी, मेरे पीछे न पड़ !·····जा जा, दिमाग़ न चाट मेरा !····तू मेरी बात भी सुनेगी या अपनी ही नाधे जायगी !"···इन शब्दों में वह एक नाता देखती थी। ऐसा नाता, जो पैसे से नहीं खरीदा जा सकता। उसे उसमें उस तरह का प्यार जान पड़ता था, जो नौकर और मालिक के सम्बन्ध

से सर्वथा ऊपर है। उनकी कही हुई कोई भी बात याद हो आती, तो झट से उसकी आँखें भर आतीं, जल्दी-जल्दी बरतन मलने में चिर अभ्यस्त हाथ एकाएक धीमे पड़ जाते, तो मैले-कुचैले हाथों से आँसू पोंछने में फूहड़-पन का अनुभव करके घुटने में आँखें लगाकर उन्हें पोछ डालती। वह प्रकट में रोती, छिप-छिपकर रोती—यहाँ तक कि सोने से पहले और उठने के बाद मन के अन्दर भी रोया करती। वह एक आह भरकर मन-ही-मन कहने लगती—"हाय अब होगा क्या? इतनी भारी गिरस्ती का भार अब सँभालेगा कौन? कौन करेगा छोटी-बड़ी पाँच लड़कियों के ब्याह? जिस तरह लालाजी गद्दी पर बैठे-बैठे सिर्फ़ बातों से सोना ढाला करते थे, उस तरह दिलीप भैया से कुछ करते बनेगा कैसे?" नौकरानी होकर वह घर की एक ज़िम्मेदार वयस्क संतान की तरह सोचती थी। ऐसा सोचते समय वह यह भूल जाती थी कि मुझे इन बातों से क्या मतलब? वह 'कोई नृप होइ, हमें का हानी' वाली नीति से बहुत दूर थी। वह जितनी कर्मठ थी, उससे कहीं अधिक निष्ठावान थी।

एक दिन की बात है, एकाएक पुकार हुई—"सोनी कहाँ है? बुलाओ सोनी को।" और सोनी शारदा और विमला के कपड़ों में साबुन लगा रही थी। सुनकर एकाएक घबरा गई—कोई काम तो नहीं बिगड़ गया! किसी बात की सुधि तो नहीं बिसर गई। झट-से हाथ धो-पोंछकर वह लालाजी के कमरे में पहुँची। वहाँ शशि बाबू बैठे हुए थे। दिलीप की बहू के लिए वे सारे आभूषण बनवाकर ले आये थे। सोनी को आया जानकर लालाजी बोले—"दिलीप के ब्याह की खुशी में तुझे क्या-क्या बनवाना है सोनी? पहले से बता दे, जिसमें फिर बाद को शिकायत रहने का मौक़ा न आय। मेरा कुछ ठिकाना नहीं। कब कूच कर दूँ!"

बात जितने हौसले, प्यार और सुप्रबन्ध की थी, उतनी ही अधिक निराशा और वेदना की। सोनी रो पड़ी। बोली—"ऐसा न कहो चाचाजी!" शारदा, दिलीप की माँ और बड़ी चाची पास बैठी थीं। वे सब भी रोने लगीं। कोहराम मच गया। लालाजी सिर थामकर लेट गए

और बोले—"हटाओ इन सब को यहाँ से !"

सुनकर सभी उठ गईं, शारदा की माँ तब भी खड़ी रही। उन्होंने आँसू पोंछ डाले। बोली—"यह सब तुम क्या कर रहे हो? बच्चों के लिए भी कुछ रखोगे या सब लुटाकर जाओगे ?"

तत्काल लालाजी के मुँह से निकल गया—"सुरेश, इसको निकालो यहाँ से ! यह इतना भी नहीं समझती कि मैं जमा कर रहा हूँ !"

शारदा की माँ उठकर चल दीं। सोनी तब भी खड़ी रही। बोली—"म आपकी बात टालना नहीं चाहती चाचाजी ! आप अपनी खुशी से जो बनवा देंगे, वही मेरे लिए बड़ी चीज़ होगी।"

तब लालाजी के मुँह से निकल गया—"इसके लिए एक सोने की जंजीर बनेगी शशिबाबू !"

सोनी की आँखें फिर भर आईं। उसे कालीचरन की भी याद हो आई और वह सोचने लगी—उसको ऐसे मौक़े पर यहाँ होना चाहिए था।"

तभी लालाजी बोले—"कालीचरन तो दिलीप के साथ है। खैर एक अँगूठी और जाड़े की पोशाक उसके लिए भी। सुरेश, ध्यान रखना इन सब बातों का। आँ !"

एक दिन सबेरा होते ही लालाजी बोले—" और तो सब ठीक ही ठीक चल रहा है सुरेश; पर मैं चाहता हूँ, लगे हाथों बटवारा भी करता जाऊँ। इसमें क्या राय है तुम्हारी ?

सुरेश के मुँह से निकल गया—"आप इस वक़्त जो कुछ भी सोचते हैं जीजाजी, वही आपके साथ जायगा। बाक़ी तो सब मन का धन है।"

"लेकिन तुमने कभी इस बात का इशारा भी न किया ! तुम सोचते थे। गिरधारी के मन में खोट है। क्यों ? सच-ही-सच बता दो आज। मैं बुरा न मानूँगा।"

सुरेश को आश्चर्य हो रहा था कि लालाजी को आज हो क्या गया है ! उसने भी मन की बात बता दी। बोला—"असल में मैं इस बार इसी

के लिए आया था जीजा जी ! जब आप सच-ही-सच पूछ रहे हैं, तो मैं भी बात छिपाऊँगा नहीं।"

तब लालाजी के मुँह से निकल गया—"और दादा इसी काम के लिए तुमको अपने साथ ले भी आये थे। डिप्टी साहब के साथ चले आने की बात तो एक बहाना भर थी। क्यों ?"

सुरेश सुनकर अवाक् हो उठा और बोला—"आपके इन चरणों की क़सम खाकर कहता हूँ, ऐसा वीर, साहसी और तजुरबेकार आदमी मैंने आज तक नहीं देखा !"

"अच्छा सुरेश, तुम बता सकते हो, मुक्ति क्या चीज़ है ?"

सुरेश को फिर आश्चर्य का एक झटका सा लग गया। वह सोचने लगा, ये सभी लक्षण तो यही सिद्ध कर रहे हैं कि अब इनकी चला-चली की बेला निकट है।

: ३१ :

वेदना चाहे महापुरुष की हो, चाहे घोर नारकीय व्यक्ति की, प्रकृति के लिए एक-सी होती है। ऐसा भी होता है कि महापुरुषों का बाह्य रूप तो बहुत उज्ज्वल रहता है; क्योंकि उस पर प्रचार और प्रदर्शन का आडम्बर छाया रहता है। पर आन्तरिक रूप कहीं-न-कहीं अत्यन्त निम्न स्तर का, नाना प्रकार की विकृतियों से भरा और काला होता है। ऐसा भी होता है कि पापी-से-पापी व्यक्ति के हृदय का कोई कोना अत्यन्त ग़ीला, कोमल और निर्मल हो; पर कुसंगति में पड़कर उसने अपना वह छिपा कोमल कोना भी नष्ट कर डाला हो !

वफाती का जीवन कुछ-कुछ इसी प्रकार का था। उसका सबसे बड़ा गुण था दुखियों के प्रति दया और सहानुभूति—और उसका सबसे बड़ा ऐब था चोरी और डाकाज़नी। पर उसका संग-साथ ऐसे लोगों का था,

जिनमें वफ़ाती के गुणों का अभाव था और दुर्गुणों का प्राबल्य। साधारण जीवन में दूसरे आदमियों को वे नित्य बेवकूफ बनाते, उन्हें ठगते और उनके साथ विश्वास-घात करते। यहाँ तक कि मौक़ा पड़ने पर वे अपने साथियों से भी दाँवबाज़ी करने में न चूकते।

उस दिन जब दिलीप उसे खूब अच्छी तरह समझाकर आया था कि भले काम का फल अवश्य भला होता है; किन्तु उस भले फल की लालसा में मूल काम को बुरा रखने और बनाने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। समाज एक ऐसे संगठन में बँधा हुआ है कि अराजकता का अवलम्ब लेकर हम उसका नवनिर्माण नहीं कर सकते। उसके लिए तो हमको समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठाना पड़ेगा। यह सही है कि दुनिया में गरीबी बहुत बुरी तरह से बढ़ी हुई है, यह भी सही है कि पूंजीवाद और फासिस्टवाद का राक्षस मानव-संस्कृति का जी खोलकर सर्वनाश कर रहा है। पर जनता का राज्य क़ायम करने का यह कोई अच्छा या सही रास्ता नहीं है कि जिसके पास पैसा देखा, उसे पिस्तौल दिखाकर या कत्ल करके लूट लिया! गुस्से में आकर जो आदमी किसी को गाली दे बैठता है, जाहिर है कि उसके पास बुद्धि का बल नहीं है; भाषा का संयम नहीं है, प्रभावात्मक शैली की मौलिकता नहीं है। इसी प्रकार जो आदमी हिंसा के द्वारा एक समाज या समूह को अपने विचार मानने पर विवश करना चाहता है, जाहिर है कि उसके पास भी ज्ञान, बुद्धि और तर्क का बल नहीं है। आपको ग़रीबों से सहानुभूति है तो आप उनका संगठन करके ऐसी समाज-व्यवस्था स्थिर करने का आयोजन कीजिये, जिसको मानने के लिए अमीरों और पूंजीपतियों को भी विवश होना पड़े। किन्तु हिंसा के द्वारा अगर आप मजदूरों और दुनिया के दुःख दूर करना चाहें, तो मुझे साफ़ कहना पड़ेगा कि यह रास्ता गलत है; इसका परिणाम कभी अच्छा नहीं हो सकता।

दिलीप ने बफ़ाती को यही बात संक्षेप रूप से समझाने की चेष्टा की थी। बफ़ाती दिलीप को बड़ा मानता था; क्योंकि वह जानता था

कि उसके हृदय में दीन-दुखियों और समाज के शोषित और पीड़ित वर्ग के लिए बड़ा स्थान है। वह उसकी शिक्षा मानने और उसके निर्देशन पर चलने का वचन भी दे चुका था। पर वह फिर उन्हीं लोगों के चक्कर में फँस गया, जो उसके दल के थे और समय पर उससे सभी तरह का सहयोग लेतेरहते थे।

उस दिन दोपहर को लगभग तीन बजे एकाएक उसे सूचना मिली' आज फिर शिकार पर चलना है। उसने सूचना देनेवाले से जब प्रश्न किया—"कौनसा आदमी है, जिसका शिकार करना है ?" तब उसे उत्तर मिला—"तुमको आम खाने से मतलब है या पेड़ गिनने से ?"

और बफ़ाती को सचमुच आम खाने से ही मतलब था। इस प्रकार, जैसा कि बफ़ाती ने कहा भी था, उसे वास्तव में इस बात का बिलकुल पता न चल सका कि उसे शिकार किसी अन्य व्यक्ति का नहीं, उस व्यक्ति का करने जाना है, जिसके प्रति वह अदम्य श्रद्धा रखता है; यहाँ तक कि उसको देवता समझता है।

वफाती बहुत पढ़ा-लिखा न था। बहुत सधारण सी उसकी शिक्षा थी। और दुनिया के रंग-ढंग का उसे विशेष ज्ञान भी न था। दुःख-दैन्य की मार कैसी होती है, केवल इतना वह अभी जान पाया था। तब वह यह कैसे जान सकता था कि जो कुछ हम समझा करते हैं, वह कभी-कभी कितना उलटा होता है ! उसे कैसे इस बात का परिचय मिलता कि रात को जिस बिस्तर पर हम सोया करते हैं, उसमें भी सायंकाल से साँप का बच्चा चुपचाप छिपा हुआ बैठा रह सकता है !…वह कैसे कल्पना करता कि ऐसा भी हो सकता है कोई बहन कढ़ाई में घी गरम कर रही हो। इतने में छत पर से छिपकली का बच्चा, उस खौलते हुए घी में, ऐसे समय गिर पड़ा हो, जब वह अपने खेलते हुए बच्चे को उठाने भर के लिए—एक मिनट को ही—उस कढ़ाई के सामने से अलग हुई थी !…साँप या बिच्छू जब आदमी को अचानक काट खाते हैं, तब तुरंत दवा करके जो लोग नीरोग हो जाया करते हैं वे भी इस घटना के छिपे पहलू पर कब ध्यान देते हैं ?

संसार में ऐसे कितने आदमी हैं जो हर घटना के आधारभूत रहस्यों की छान-बीन करने बैठते हों ? होनहार क्या बला होती है, अदृष्ट की वास्तविक स्थिति क्या है, आज के व्यस्त जीवन में इन प्रश्नों पर विचार करने का किसे अवकाश है ? फिर आज तो हम सभ्यता की दौड़ में पड़कर ईश्वर की ईश्वरता तक को भूल जाना चाहते हैं ! हम इस विषय पर विचार ही नहीं करना चाहते कि हमारे हर कार्य और प्रयत्न के पीछे किसी ऐसी सत्ता का भी हाथ है, जो दृश्य जगत् से सर्वथा परे है। हमारे अनेक बुद्धिजीवी पथ-निर्देशक तो परिहास के व्याज में यहाँ तक कह डालने का साहस कर बैठते हैं कि प्रतिक्रियावादी लोगों के पास इस तरह की बकवास के सिवा और है क्या ? इस प्रकार यदि बफाती को धोखा हो गया, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है ?

पर अब बफाती की स्थिति दयनीय कितनी हो गई थी ! एक तो मुक़दमा लड़ने के लिए उसे इतने अधिक रुपये की आवश्यकता थी, जिसका प्रबन्ध ज़मानत पर छूटे बिना हो सकना सर्वथा असम्भव था। और जब प्रत्यक्ष रूप से उसने दिलीप की हत्या में भाग लिया तब उसकी ज़मानत कौन करता ?

उसके दोस्तों में दूसरे जो लोग फँसे थे, उनसे पचीस-पचीस हज़ार रुपये की नक़द ज़मानतें माँगी गई थीं। अतः जेल में भेंट करने पर जब गनी ने ज़मानत की चर्चा की तो बफाती हँसने लगा। बोला—"मज़ाक करने आये हो ?"

ग़नी ने जवाब दिया—"मज़ाक नहीं वफ़ाती, मैं कोशिश में लगा हूँ। ख़ुदा ने चाहा, तो मैं तुमको छुड़ाकर मानूँगा !"

बफ़ाती ख़ुदा का नाम जब किसी के मुँह से सुनता, तो उसका दिल पानी हो जाता। जी भरकर रो लेने की तबियत हो उठती। वह बोला—"ख़ुदा क्या चाहता है, इसको तुम्हारे या हमारे-जैसे लोग समझेंगे ! ख़ुदा यह कभी नहीं चाह सकता कि मैं ज़मानत पर छोड़ा जाऊँ। और सच्ची बात तो यह है कि मैं ख़ुद भी नहीं चाहता। मैं दुनिया

को अपनी यह मनहूस शक्ल नहीं दिखलाना चाहता गनी ! तुम्हें पता नहीं, मैंने खुदकशी करने की भी कोशिश की थी !"

"मुझे पता है बफ़ाती। मुझे सब पता है।"

"दिलीप भैया का भी कुछ .पता है तुमको ? मैंने तो सुना है, वे खुद भी लापता हैं।"

"वे एक बला से छूटे, तो दूसरी में फँस गए। रक़म थी चन्दे की, और थी अटैची-केस में। लारी पर जाते हुए कहीं वह अटैची-केस ही बदल गया। उसका पता अब चल पाया है। सुनते हैं, आज के अखबार में दीदी ने छपवा दिया है कि रक़म मय अटैची-केस के उनके पास जमा हो गई है !"

"चलो, यह बड़ा अच्छा हुआ।" कहते-कहते बफाती एक ठंडी-साँस लेकर बोला—"बहुत सी बातें हैं गनी और टाइम भी खतम होने पर है। खैर, अगर कोई बैरंग खत-वत (कहते-कहते उसने आँख दबाकर एक संकेत सा कर दिया) आ जाय किसी का, तो उसे लौटाना नहीं।··· अच्छा गनी, मिलते रहना।"

"खुदा हाफ़िज़।"

कत्ल के बाद बफाती को अपने दो साथियों, सुखवासी और सूबेदार, के साथ तीन दिन हवालात में बन्द रहना पड़ा था। उसने अपनी ज़मानत के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। उसे अब जीवित रहने में कोई रस नहीं जान पड़ता था। सबसे अधिक दुःख की बात यह थी कि जिन साथियों का उसने साथ पकड़ा था, उनके जीवन का कोई उद्देश्य न था। डाका डालना और हत्या करना उनका पेशा था। बातों में वे ज़रूर उसे क्रान्तिकारी जान पड़े थे, पर काम उन्होंने एक नर-पशु का किया था। कम-से-कम उन्होंमे इसी बात का खयाल किया होता कि जिस व्यक्ति की वे हत्या करने जा रहे हैं, वह खादी पहनता है ! और यह कोई जवाब नहीं है कि खादी तो वे मिल-मालिक भी पहनते हैं, रात-दिन मजदूरों का खून चूसना जिनका पेशा है।···मिल-ओनर्स में ऐसे कितने लोग हैं, जो हमेशा

खादी की पोशाक में रहते हैं ? मारने से पहले उन्होंने उस नौजवान का चेहरा तो देखा होता। उनका कहना यह है कि स्टेशन-मास्टर का लड़का भी खादी का सूट पहनता है। उसकी उम्र, देह और चेहरे की बानक भी दिलीप से मिलती-जुलती है। फिर अंधेरे में हमको इन बातों का पता भी कैसे चल सकता था !

पर इस मामले में सबसे अधिक विचार करने की बात वफाती के सामने यह थी कि अगर उस लड़के की जगह पर दिलीप ही होता, तो ? और बस, यही प्रश्न बफाती की सारी विचार-धारा को उलट-पुलट डालता था। उसे इस बात का अब खयाल भी न आता था कि हत्या में उसने सहयोग भी दिया, फिर भी उसके हाथ कुछ न आया। वह सोचता था कि खुदा की इतनी रियायत कम है कि उसने दिलीप भैया को बचा लिया सब लोग जब कहते हैं कि उसने दिलीप को बचा लिया, तब वे यह कैसे जान सकते हैं कि उसने मुझको भी एक बड़े गुनाह से बचा लिया। बार-बार उसके मन में आता, अगर कहीं वे मेरे जरिये से·····! वह सोचता—'जिस बात का महज़ खयाल करने से दिल दहल उठता है, वह कहीं हो जाती, तो आज मेरी भी वही हालत होती, जो स्टेशन-मास्टर की हुई है ! आखिर रुपये के लालच ने ही तो उसने अपने लड़के की जान गँवा दी !'

ईश्वर की ईश्वरता भी कोई चीज है, बफाती को यह सोचने का कभी मौक़ा ही न मिला था। अब जब उसने प्रत्यक्ष देख लिया कि उसकी इच्छा के बिना कुछ हो नहीं सकता, तब वे सब घटनाएँ उसे याद हो आईं, जिनके पापों से उसके हाथ रँगे हुए थे। उसके आँसू नहीं निकलते थे, लेकिन उसका दिल रोता था। उसे ऐसा जान पड़ता था, जैसे वाक़ई मेरा चेहरा काला पड़ गया है। उसे फाँसी का ज़रा भी भय नहीं था। केवल एक विचार बार-बार उसकी चेतना से टकराता था—अगर मुझे फाँसी दे दी गई, तो मेरी ज़िन्दगी का मकसद पूरा होने से रह जायगा। रात को सोते-सोते वह जग पड़ता। इतने तरह की बातें और पीड़ाएँ उसके अन्दर से उभर आतीं कि कभी-कभी वह बिलकुल न सो पाता। वह सोचता

'उन अनाथ बेवाओं और मासूम बच्चों का क्या होगा, जिनको मुझसे सहारा मिला करता था !'

उसे एक दिन वचपन की एक घटना याद हो आई। ज़ीनत नाम की एक लड़की थी। सुन्दर तो अधिक न थी, पर शोख़ बहुत थी। मुहल्ले की बात ठहरी, रास्ते में भी कभी-कभी मिल जाती थी। मैट्रिक कर लिया था उसने। लेकिन पता नहीं क्यों, वह बफ़ाती को परेशान क्यों करती थी ! उसकी बातें भी विचित्र सी होती थीं।

एक बार बफ़ाती ने नया मफलर खरीदा। कहीं उसकी नज़र पड़ गई, तो बोली—"यह मफ़लर तुमको अच्छा नहीं लगता।" और इतना कहकर उसने नाक सिकोड़ ली। फिर दो क़दम आगे बढ़कर मुड़ गई। बोली—"लाओ हमें दे दो !"

बफ़ाती ने एक क्षण भी रुके बिना उतारकर उसे दे दिया। पर दो दिन बाद जब वह फिर मिल गई तो बोली—"अपना मफ़लर ले लो !"

बफ़ाती ने पूछा—"क्यों ?"

ज़ीनत ने जवाब दिया—"इसमें ब्लेड की बू आती है।" और इतना कहकर उसने फ़र्श पर थूक दिया।

वह सोचने लगा—'उस वक़्त मेरी छाती पर इस घटना का कितना ज़बरदस्त धक्का लगा था। धक्का-वक्का खाक लगा था, बेशरम और बेग़ैरत और किसको कहते हैं।'

एक बार वह अपनी रिश्तेदारी में लखनऊ गया हुआ था। हमीदा उसकी बहन होती थी। उसी की शादी का मौक़ा था। लोगों ने हमीदा को तरह-तरह की चीजें भेंट की थीं। लेकिन ज़ीनत उसको एक सबक़ जो दे गई थी। इसी डर की वजह से उसने हमीदा को कोई चीज़ न दी। लेकिन पता नहीं क्या बात थी कि हमीदा इस बात को पचा न सकी। वह बफ़ाती को बहुत प्यार करती थी। रुख़सत से एक घंटे पहले जब उसकी आँखों में आँसू भरे हुए थे, हँसते-हँसते उसने कहा था—"तुमने हमको एक रूमाल तक न दिया भैया !"

बफ़ाती ने सकुचाते शरमाते हुए कह दिया—"मैं डर रहा था कि कहीं मेरी भेंट की हुई चीज़ों में ब्लेड की बू न आने लगे !"

हमीदा हँसी । वह बोली—"ओः अब मैं समझी ! पर इन बातों का इतना खयाल करते हो, तो कोई और काम क्यों नहीं तलाश लेते !"

बफ़ाती ने वादा किया था कि वह यह काम छोड़ देगा । कुछ ऐसा उसे प्रतीत हुआ, जैसे स्वतः उसकी आत्मा उसे धिक्कार रही हो ।

'...तुम झूठे हो ! मक्कार, दग़ाबाज़, शोहदे और बदमाश हो ! तुम क़ौम को धोखा देते हो !—ग़द्दार हो तुम ! दिलीप से भी तुमने यही वादा किया था !'

तब उसने निश्चय किया—

'बफ़ाती न फाँसी पर चढ़ेगा न मौत के मुँह में जायगा । वह उसी ज़िन्दगी में एक शरीफ़ बनकर रहेगा । ज़ीनत उस से भेंट करने आयगी—हमीदा उससे मिलकर खुश होगी !'

घोषणा तो लोग किया ही करते हैं । सपने हैं, लोग देखा ही करते हैं । लेकिन प्रश्न तो यह है कि वे पूरे कितने लोगों के होते हैं !

: ३२ :

मुनीश्वर बाबू नौ बजे खाने की टेबिल पर बैठ जाते थे । इसलिए दस बजते-बजते स्त्रियों की क्षुधा भी कुलबुलाने लगती थी । लक्षणा के साथ भोजन करके शेफाली अभी उठी ही थी कि मुनीश्वर बाबू की डाक आ गई । आज उस डाक में एक पत्र शेफाली के नाम भी निकल पड़ा । अभिधा को यह देखकर पहले तो आश्चर्य हुआ । आश्चर्य न कहकर उसे ईर्ष्या कहें, तो अभिधा के साथ अधिक न्याय होगा । क्योंकि वह स्वयं सोचने लगी—जब मैं स्वयं किसी को पत्र नहीं लिखती, तो कोई मुझे क्यों लिखने लगा ! जो हो, अभिधा ने पत्र शेफाली को दे दिया । पते की लिपि देखते

ही शेफाली उछल पड़ी। बोली—"जान पड़ता है, मझली दीदी का पत्र आया है बड़ी दीदी!"

अभिधा मुसकराने लगी। बोली—"सुनाओ, क्या लिखा है?"

शेफाली ने लिफ़ाफ़े की मोड़ पर ब्लेड चला दिया। उसे खोला तो, एक पत्र उसमें अभिधा के भी नाम निकल पड़ा। शेफाली ने दुअन्नी भर अधर खोलकर पहले मुसकरा दिया, फिर उसे अभिधा को देते हुए कहा—"मेरा पत्र ज़्यादा मज़ेदार है कि तुम्हारा, यह आज देखना है।"

दोनों अपना-अपना पत्र पढ़ने लगीं।

अभिधा के पत्र की शब्दावली इस प्रकार थी—

विक्रमपुर (कानपुर)
ता. ८-८-५१

पूज्य दिदिया,

सबसे पहले दाई को मेरा प्रणाम कहना, फिर अम्मा को। फिर तुम मेरा प्रणाम स्वीकार करना। और बिस्सू भैया को शुभाशीष, रानी बिटिया को प्यार। भाभी को मैं अलग से पत्र लिख ही रही हूँ। असल में यह पत्र मैं भेजती तुम्हारे ही नाम। पर फिर भेजा भाभी के नाम इसलिए कि कहीं ऐसा न हो, ननदोई राजा अपनी मिठाई समझकर चट से हाथ मारना शुरू कर दें।

रानी बिटिया सीढ़ी से गिर पड़ी थीं। आशा है, वह अब पूर्ण स्वस्थ होगीं। उसको देखने के लिए मैं कानपुर आनेवाली थी। पर फिर यह सोचकर मन मारकर रह गई कि उनको अकेला छोड़कर कैसे जाऊँ। अम्मा की तबियत अब इस योग्य नहीं कि वे तुम्हारे उनके लायक़ पसन्द की सभी चीज़ें बना कर खिला सकें। एक-दो दिन की बात होती, तो किसी तरह उन्हें मना भी लेती। पर अम्मा का प्यार मुझे जल्दी लौटने ही न देता। इसलिए विवश होकर उन्हीं को भेजना पड़ा। पर लौटने पर मालूम हुआ सब लोग काशी चले गए; तो मन में आता है, काश मैं भी चिड़िया बनकर उड़ सकती!

आज अम्मा से (और तुमसे भी) एक शिकायत करनी है मुझे। जब मेरा यह ब्याह तै हो रहा था, तब घर के सभी लोग कहा करते थे—"हम अपनी प्यारी दुलारी बिटिया का ब्याह किसी बड़े शहर ही में करेंगे।" फिर जब यह ब्याह तै होने लगा, तो दादा ने कहा था—"लड़का रहने वाला जरूर देहात का है। मगर बू-वास तो उसकी शहर की है। शहर में पढ़ रहा है। शहर में ही कहीं कोई शानदार नौकरी करेगा।" पर होनहार को कौन टाल सकता है ? कृषि-शास्त्र के महा पंडित का प्रमाण-पत्र लेकर उनको सूझा भी क्या है ?——खेती। सो दिन रात खेती खाना, खेती पहनना और खेती ओढ़ना ही लगा रहता है ! लेकिन पूछा है कभी उनसे कि खेती का वह नन्दन-कानन दिखलाने के लिए मुझे कितनी बार साथ में ले गए हैं ? एक वह हैं कि कानपुर जैसा नगरों का नगर देखकर भी जब तबियत ऊबने लगती है, तो इधर-उधर भी एक ट्रिप मार देती है। कभी सोचा है उन्होंने और दिदिया, तुमने भी, कि व्यंजना सुख के कितने अगाध सागर में जल-क्रीड़ा करती रहती है।

यह तो हुई प्यार की बात। अब दुलार की यह रही कि जब तुम सदल बल दशाश्वमेध घाट पर नहाने जाना, तब एक डुबकी मेरे नाम की भी लगा लेना और बाबा विश्वनाथ के दरबार में पहुँचना तो उनसे हाथ जोड़कर विनती करना कि मुझे भी अपने पास कभी छठे-छमाहे बुला लिया करें।

बाक़ी सब ओ. के.

तुम्हारी पीठ पर की
व्यंजना

और शेफाली के पत्र में लिखा—

विक्रमपुर (कानपुर) ता. ८-८-५१

मेरी प्यारी भाभी,

ये चुपके से काशी-कलकत्ता की सैर करने के प्रोग्राम ! खूब !! बधाई देती हूँ इस सफलता पर। मगर बच के रहना। मुझे सब मालूम हो गया है।

और सुनो, तुमको एक ख़ुशबूदार बात बतायें। उनको तो तुम जानती होगी। समझ जाओ। तुम्हारे यहाँ हो भी तो आये हैं शायद। दादा ने जिनको रानी बिटिया के लिए सोचा है। वे संयोग से हमारे यहाँ आ गए थे। तुम्हारे ननदोई उनके अन्यतम मित्र थे, पहले से। मुझे बड़े प्यारे लगे। उनका अद्‌भुत व्यक्तित्व, उनका अपने प्रति खोया-खोया-सा जीवन, उनकी अनुशीलनशील दृष्टि, उनके चिरनिश्चित दृढ़ विचार और संक्षिप्त किंतु गहन अध्ययन से भरी हुई 'अभिव्यंजना' (मेरा नाम यहाँ कितना फ़िट बैठ रहा है, न कहना !) ने मुझे प्रभावित कर दिया। फिर क्या था ? ठन गई लड़ाई आपस में—उनके विदा हो जाने के बाद। उन्होंने मुझ पर सन्देह तक प्रकट कर दिया। अन्त में मैंने जब उन्हें किसी तरह मना पाया, तो खुले। बोले—'अब से मुझको छोड़कर किसी को आदर की दृष्टि से देखना छोड़ दो।' देखा तुमने ? यह हमारी स्वतन्त्रता है !

अब इस संदेह की आधार-भूमि सुनो। उनके टेबिल पर जो ब्लाटिंग पैड रखा था, कहीं दिलीप जी उस पर जा बैठे होंगे। मन की तरंग ठहरी उन्होंने पैंसिल से उस पर मेरा नाम कई जगह लिख भी दिया। बल्कि छिपाऊँ क्यों, एक जगह यह लिख भी दिया—'व्यंजना, व्यंजना—मेरी अभिव्यंजना।' सभ्य देशवासी बुद्धिवादी इस तरह की स्वतन्त्र प्रवृत्तियों का कितना आदर करते हैं ! मगर यही उनको खल गया। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि तुम उसको देवता समझती हो और वह तुम्हारी वंदना के गीत लिखता है ! अब कमी क्या रह गई ? फल यह हुआ कि उनको मना लिया मैंने ! पर मैं स्वयं रात-भर, भीतर और बाहर, रोती रही ! सोचती हूँ, कहीं दिलीप जी को इस घटना की सूचना मिल जाय, तो वे बेचारे कितने दुखी होंगे ! तुम कहीं चर्चा न कर बैठना ! रानी बिटिया को मेरा प्यार।

तुम्हारी मझिली रानी
व्यंजना

शेफाली पत्र पढ़कर गम्भीर हो गई। झट ब्लाउज़ के भीतर डाल

लिया। बोली—"मेरे पत्र में कोई खास बात नहीं है दिदिया! कोई रस नहीं, कोई दिलचस्पी नहीं। फिर उसने ब्लाउज से निकालकर झट फाड़ डाला वहीं-का-वहीं !

अभिधा बहुत सीधी-सादी बहुत भली नारी थी। वह कुछ समझी, कुछ नहीं समझी। समझी इतना ही कि नई उमर ठहरी। कोई हँसी-मजाक की ऐसी बात लिख दी होगी, जो मुझको सुनाने लायक न होगी। और न समझ पाई यह कि पहले तो इतना छिपाया कि ब्लाउज़ के अन्दर स्थान दिया, फिर इतना तिरस्कार दिखलाया कि फाड़ भी डाला !

लेकिन इस विषय में कहा कुछ नहीं अभिधा ने।

दिलीप दूसरे दिन भी अभिधा के यहाँ से निकल नहीं पाया। तीसरे दिन जो पी०एन० से मिला, तो मालूम हुआ कि उसके पुत्र हुआ है। बहुत प्रसन्न था वह। अन्दर सोहर गाये जा रहे थे, बाहर मिट्टी की तश्तरियों का ढेर लगा था। सहज ही पता चल गया, लड्डू बाँटे गए हैं! थोड़ी ही देर बैठ पाया था कि पी० एन० फिर प्रबन्ध-कार्य में लग गया। तब दिलीप ने कह दिया—"रुपये का प्रबन्ध हो गया था। कुछ पता नहीं चला था, जमा हुए भी एक हफ़्ता हो गया। बाहर रहने के कारण कुछ पता नहीं चला। मैं शीघ्र कानपुर जाकर तुमको चेक लौटा दूँगा।"

पी०एन० हँसने लगा। बोला—"तुम तो इतने निराश थे उस दिन कि अगर श्रीमती के एकाउंट में रुपया न भी होता, तो मुझे जेलर साहब से माँगना पड़ता। पर भगवान् के बहुत बड़े हाथ हैं। उनकी छाया में ही हम पनपते, खेलते और सो जाते हैं।"

कुछ सोचता हुआ दिलीप बोला—"अच्छा, अब हम चलेंगे पी० एन०! तुम्हारी कृपा कभी नहीं भूलेंगे।"

वह ताँगा लेकर आया था। पी० एन० ने असबाब उस पर रखवा दिया। दोनों ने फिर हाथ मिलाये।

जब ताँगा चल पड़ा, तो पी० एन० मुसकराता हुआ बोला—"कभी-कभी याद कर लिया करो हमारी भी!"

दिलीप सोच रहा था—'यह आदमी व्यावहारिक कितना है !'

थोड़ी देर में जब दिलीप अभिधा के यहाँ पहुँचा, तो मालूम हुआ कानपुर से दादा ने तार भेजा है। और तार का लिफाफा बिस्सू ने दिलीप के हाथ पर रख दिया। उस में लिखा था।

कानपुर ता. १०-८-५१ एक्सप्रेस

विशेषण वर्म्मा C/o मुनीश्वर

प्रिंसिपल काशी-इंटर-कालेज,

बनारस,

लाला जी बहुत बीमार हैं। दिलीप को साथ लेकर सब तुरन्त लौट आओ !

ज्योतिस्वरूप वर्मा

सब लोग पहले से ही तैयार बैठे थे। कालीचरण झट दो ताँगे ले आया। प्रिंसिपल साहब पन्द्रह अगस्त की तैयारियों में व्यस्त थे, इस कारण अभी कालेज से लौटे नहीं थे और पाँच का समय हो रहा था। दिलीप ने झट उनके लिए एक चिट्ठी लिख दी—

आदरणीय वर्माजी,

आपके यहाँ आकर मुझे बड़ा सुख मिला। उससे भी अधिक प्रेरणाएं और उनके स्वप्न मिले। सदा आभार मानूंगा। चाचाजी बीमार हैं, इस कारण जल्दी में चलते समय भेंट नहीं हो पाई, सो क्षमा कर दीजियेगा।

अनुचर—

दिलीप

अब तक शेफाली ने दिलीप से परिचय नहीं स्थापित किया था। ताँगे पर जब वह बिस्सू के साथ बैठा, तो उसने यह बात ताड़ ली कि शेफाली उनसे लजाती है। तब उसी ने परिचय करवा दिया। पर दिलीप ने जब उस को देखा तो वह स्वयं संकुचित हो उठा।

अब शेफाली बिना बोले नहीं रह सकी। उसने कह दिया—"आप विक्रमपुर भी तो हो आए हैं।"

दिलीप आश्चर्य में पड़ गया। बोला—"आप को कैसे मालूम हुआ ?"

शेफाली ने दबी मुसकान से कह दिया—"मैं लिफ़ाफ़ा देखकर खत का मज़बून भाँप लेती हूँ !"

दिलीप ट्रेन में बैठा बार-बार यही सोचने लगता था—'मुझसे कोई भूल तो नहीं हो गई !' अन्त में वह इलाहाबाद-स्टेशन पर शेफाली से पूछ ही बैठा—"मुझसे कोई भूल तो नहीं हो गई ?"

शेफाली का उत्तर था—"आप ऐसी भूलें करते हैं कि भक्त लोग आपस में लड़ बैठते हैं !"

लक्षणा सोने के बहाने चुपके-चुपके सब बातें सुन रही थी। अब वह करवट बदलती हुई बोल उठी—"भाभी, क्या तुम मुझे सोने न दोगी ?'

शेफाली का उत्तर था—"गोस्वामीजी ने इसी अवसर की कल्पना करके पहले से कह दिया था—'जो जागता हुआ सोता है उसे उपदेश देना उचित नहीं होता' !"

दिलीप पता नहीं किस विचार में लीन था।

•• •• ••

इतने में दादा आ गए। सुरेश बोला—"बस-बस, अब काम बन गया। और लालाजी बोल उठे—"आओ दादा ! मैं याद कर ही रहा था तुम्हारी !"

दादा ने जूते द्वार पर खोल दिए। अन्दर तखत के ऊपर गद्दा फिर चादर बिछा दी गई थी। दादा उसी पर बैठ गए। सुरेश मूल विषय पर आने को ही था कि दादा ने पूछा—"अब कैसी तबियत है गिरधारी ?"

लालाजी ने एक आह भरते हुए कह दिया—"तबियत की न पूछो दादा ! सारे बदन में जैसे छुरियाँ चल रही हैं। तुम्हारी एक-एक बात पत्थर की लकीर बनती जा रही है। आज मुझे प्रत्यक्ष दीख पड़ रहा है कि मृत्यु द्वार पर••वह ! वह !••मुँह बाये खड़ी है और मैं हर घड़ी उसकी ओर खिंचता चला जा रहा हूँ। कोई उपाय है उसको वापस कर देने का ? कोई यत्न है उससे छुटकारा पाने का ? कोई अवलम्ब नहीं है दादा ?

सब बेकार है ! अरे सुरेश, दादा को जल-पान कराओ भाई ! मैं चला भी जाऊँ, तो इस परिवार की परम्परा को तो नहीं जानी चाहिए !"

दादा झट बोल उठे—"इस समय मैं जल-पान नहीं करूँगा गिरधारी ! मैं घर से दूध पीकर चला हूँ ।"

"सच कह रहे हो ?" दुबले मुँह में बड़ी-बड़ी आँखें फैला कर गिरधारी ने कुछ ऐसे ढंग से प्रश्न कर दिया कि दादा आतंकित हो उठे ! पर कुछ सोचते हुए बोले—"एक विचारक का मत है कि 'भले ही धर्म की रक्षा का प्रश्न हो, फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि सत्य को नंगा करके ही गवाही के लिए न्यायालय में खड़ा किया जाय !' जब मैंने कह दिया कि मैं जल-पान नहीं करूँगा, तब सच-झूठ का तो प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए गिरधारी ।"

"ओः मैं समझ गया दादा ! मैं अच्छी तरह समझ गया ।" लालाजी बोल उठे—"अच्छी बात है । तो सुरेश भैया, जरा एक कागज-पेंसिल लेकर बैठो और जो-जो मैं बोलता जाऊँ, उसे लिखते चलो !"

दादा को आश्चर्य हो रहा था कि गिरधारी यह कह क्या रहे हैं ! उन्होंने एक प्रश्न-सूचक दृष्टि से पहले उनकी ओर देखा, फिर सुरेश की ओर । तब लालाजी बोल उठे—"हिस्से तीन नहीं दो होंगे । एक मेरा दूसरा मुरारी भैया का । वे स्वर्ग में हैं, तो भी मैं भूलूँगा नहीं कि इच्छा उनकी भी यही थी । जमीदारी का रूप चाहे जो रहे, उसका और खेती-बारी का सारा इंतजाम दिलीप करेगा !" फिर पूछना पड़ा—"उसका कुछ पता चला दादा ?"

दादा ने प्रसन्नता से कह दिया—"मैं यही समाचार देने आया था कि वह काशी में है । मैंने उसे तुम्हारी बीमारी की सूचना तार से दे दी है जिसमें यह बात साफ़ तौर से लिख दी है कि घर के और लोगों के साथ वह भी अवश्य आ जाय ।"

"तो वह आ रहा है ? मेरा दिलीप आ रहा है !—कहते-कहते लालाजी प्रसन्नता के साथ जैसे पागल हो उठे और बोले—"अरे सुरेश

शहनाईवाले ठीक कर लो। कूच करने से पहले उसका तिलक तो करता जाऊं! कोई साध अधूरी नहीं छोड़नी चाहिए। क्यों दादा?...अच्छा दादा मुक्ति के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या मत है?" दादा पहले मुसकरा उठे, फिर एकाएक गम्भीरतापूर्वक उनके मुँह से निकल गया—"वेद-शास्त्र तो मैंने नहीं पढ़े गिरधारी! महात्मा लोगों की बातचीत अलबत्ता सुना करता हूँ। सो, मुझे तो कुछ ऐसा जान पड़ता है कि मृतक अगर कोई चिन्ता न ले जाय, कोई शोक, मोह, तृष्णा और अधूरी प्यास न ले जाय, निर्विकार-निर्लिप्त-निष्पन्न होकर जाय, तो उसे आवागमन से छुट्टी मिल जाती है।"

सुनकर लालाजी प्रसन्न हो उठे। सुरेश ने अनुभव किया, जिसे बाद में दादा ने भी स्वीकार किया, इतने प्रसन्न वे उधर अच्छे-भले होने पर भी नहीं दिखाई पड़े थे। फिर हँसते-हँसते वे बोले—"हाँ, तो हम फिर मूल विषय पर आ जायँ।...इस इंतज़ाम के लिए दिलीप को जीवन-भर दो सौ रुपये महीने मिलते रहेंगे। बैंकों में नक़द रुपया तीन लाख सत्तर हज़ार है। घर में अभी लोग जिस तरह रहते हैं, उसी तरह रहेंगे। इस कमरे में मेरा दिलीप रहेगा, और इसके बगलवाले में मेरी बहू। दादा, बहू को आज ही मेरे घर आ जाना चाहिए। सुरेश पुरोहितजी को बुलाओ। मैं उनसे बहुत शुभ मुहूर्त्त निकलवाऊँगा। मैं जो-जो कहता जाऊँ, तुम उसे···हाँ··ठीक है, नोट करते जाओ।...हाँ, तो इस मकान के सिवाय जो और चार मकान हैं उनका किराया कोई नौ सौ बीस या तीस आता है। बैंकों का आधा रुपया जो मेरे हिस्से का है, लड़कियों के व्याह के समय उठेगा। उससे पहले नहीं। घर का खर्चा मकान भाड़े से चलेगा।···शारदा के एक मामा जी हैं। वे अपनी जायदाद सिनेमा के धंधे में फूंक-तापकर बराबर कर चुके हैं! दो बार तो वे दिवाला भी निकाल चुके हैं! उनको इस घर और जायदाद में से फूटी कौड़ी उधार भी कभी न मिलेगी। जब कभी तशरीफ ले आयें, उनके स्वागत-सत्कार में कमी न हो, बस। अब सिर्फ़ रह गया लेन-देन और गहन-धरी का धंधा; सो उसको सँभालने में सुरेश तुम सहारा दोगे। इस काम में

शशि बाबू का हाथ तुम्हारे कंधों पर रहेगा। दो-चार वर्ष में दिलीप सब कारोबार सँभाल लेगा। तब तक तुमको खाने-कपड़े के अलावा डेढ़ सौ रुपये महीने मिलते रहेंगे। मंजूर करते हो न? तुम तो कई भाई हो। अपने भानजे दिलीप के लिए क्या इतना भी न करोगे!"

सुरेश की आँखों में आँसू झलक आए। उन्हें पोंछते हुए वह बोला—"मुझे कुछ नहीं चाहिए जीजाजी! आप मुझे काँटों में क्यों घसीट रहे हैं!"

"नहीं-नहीं सुरेश, ऐसी क्या बात है? काम करोगे, मेहनत करोगे, समय दोगे, तो तुमको कुछ मिलना भी तो चाहिए। धंधे और रोज़गार के मामले में निःस्वार्थ सेवा पर मेरा क़तई विश्वास नहीं है।···दादा, तुम चुप क्यों बैठे हो?"

दादा ने रुद्ध कंठ से उत्तर दिया—"मैंने उसी दिन कहा था गिरधारी, तुमको समझना बड़ा कठिन है!"

लालाजी बोले—"बस, मेरे खयाल से यह काम भी पूरा हुआ। मगर एक बात अब भी छूट गई। शारदा की माँ के बाद मेरी जायदाद क़ायदे से पाँचों लड़कियों की होगी। पर इन बातों को वाटर-मार्क काग़ज़ पर लिख लो। मैं उस पर स्टैम्प लगावाकर हस्ताक्षर कर दूंगा। फिर तुम उसकी रजिस्ट्ररी करवा लेना।" बात समाप्त भी न हो पाई थी कि दरवाज़े पर अखबारवाला चिल्लाता हुआ सुनाई पड़ा—

"बफ़ाती डाकू जेल से ग़ायब हो गया!" और दादा के ताँगे की घोड़ी दरवाज़े पर खड़ी खड़ी हिनहिनाने लगी।

इसी समय बड़ी चाची आती दिखाई पड़ीं। उनके एक हाथ में थाल था, जिसमें पूजा के पुष्प-अक्षत, धूप-दीप और नैवेद्य-सामग्री रखी थी। दूसरे हाथ में पंचपात्र और आचमनी थी। वे श्वेत खादी की धोती धारण किये हुए थीं। सारी पूजा-सामग्री को उन्होंने पास पड़ी तिपाई पर रख दिया। उसके पश्चात् निर्माल्य-पुष्प गिरधारी के हाथों में देती हुई दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने प्रार्थना की—

'हे प्रभु, मनुष्य-मात्र का कल्याण करो।
हे दिवाकर !
जो दीन और दुखी हैं
जो हीन और अनाश्रित हैं
जो असहाय और अस्वस्थ हैं
उन पर बुद्धि, शक्ति और उत्साह की
ऐसी किरणें डालो, ऐसा प्रकाश फैलाओ,
कि उनके समस्त संताप दूर हो जायँ
उनके विकास का प्रकृत पथ कभी अवरुद्ध न हो
और निखिल मानव-संस्कृति एक बन जाय।
हे नवग्रह !
प्रातःकाल की इस पुण्यवेला में
हमारे नवस्वाधीन देश की नई पौध
तुम्हारी पावन अनुकम्पा की मूक याचना कर रही है।
फूट, द्वेष और अहंकार में डूबी,
पथ-भ्रष्ट, हमारी मानवी दुर्बलताएँ अनन्त हैं।
तो भी तुम्हारा वरद हस्त यदि अनुकूल रहे,
तो कोई विघ्न, कोई बाधा,
हमारे अनिवार्य अभ्युत्थान को रोक न पायगी।
इसलिए देव !
हम सबको अपने पोषण का कुछ ऐसा अवलम्ब दो
कि कोई भी अभाव हमें निर्बल न बनाये।
हमारे सारे मनोरथ पूर्ण हों।
ओ अष्टसिद्धियो !
ओ नवनिधियो !
हमें निश्चित सफलता की ओर ले चलो—
हमें पूर्णता की ओर ले चलो।

जीवन-संग्राम में हमें निश्चित विजय की ओर ले चलो।

अहो मंगलमय !

मंगल करो, मंगल करो, मं . . . . .ग. . . . . .ल. . . . . क. . . . .रो !''

प्रार्थना समाप्त हुई। बड़ी चाची ने आचमनी से, पहले गिरधारी और फिर दादा तथा सुरेश पर गंगा-जल छिड़का, सबको नैवेद्य वितरित किया और तदनन्तर पूजा के थाल और पंच-पात्र को लेकर वे पुनः धीरे-धीरे पदक्षेप करती हुई लौट गईं।

इतने में दरवाज़े पर नेवला आ गया। एक बार उसने सबकी ओर देखकर अपना नोकदार मुँह उठाया, इधर से उधर किया और फिर झट से वह दाईं ओर चल दिया।

लालाजी ऊर्ध्व श्वास ले रहे थे। सुरेश ने दवा की शीशी उठाकर कप में एक ख़ूराक उँडेली और उसे लालाजी के मुँह में छोड़ दिया। थोड़ी देर में जब लालाजी कुछ स्वस्थ हुए, तो दादा से बोले—"अब मुझे तुमसे सिर्फ़ दो बातें कहनी हैं। एक तुम्हें मालूम ही है कि दिलीप को अब मैं तुम्हें सौंपता हूँ।"

पाषाण भी रुदन करते हैं, दादा स्पष्ट देख रहे थे।

"मैं रोता नहीं हूँ। मैं तो हँस रहा हूँ दादा !" गिरधारी लाला सचमुच आँसू टपकाते हुए भी हँस-से रहे थे। बोले—"दूसरी बात की तुम कल्पना भी न कर पाओगे। ख़ैर, सुनो उसे भी। वह यह है कि मैंने दीदी को कभी देखा नहीं, मगर जितना कुछ उनके सम्बन्ध में सुना है, उसके आधार पर मैं चाहता हूँ, अब तुम उसे अपना बना लो।"

एकाएक दादा पहले कुछ हँसे और फिर रो पड़े !

.. .. ..

अभी दस भी नहीं बजे थे कि मकान भर में कोलाहल मच गया।

"भाई साहब आ गए !"

"दिलीप आ गया !"

"आ जा मेरे लाल !"

दादा आज लक्षणा को भी साथ ले आए थे। वह भी पास ही बैठी थी।

और क्षण-भर में गिरधारी लाला का दायाँ हाथ दिलीप के सिर पर, उसके बालों से उलझता हुआ पीठ पर और फिर सदा के लिए लक्षणा के सिर पर जा गिरा। वे केवल इतना कह सके—"आ जा रे दिलीप, जरा मेरे पास तो आ जा ! अरे कोई राई-नोन उतारो मेरे लाल पर ! रुपये, गिन्नियाँ करो निछावर मेरी लक्षणा पर !"

दिलीप-सहित सारा घर क्रन्दन से गूँजने लगा।

•• •• ••

अन्त में एक दिन ऐसा भी आ गया, जब रक्षा-दल की आवश्यकता न रह गई और दीदी ने सब लोगों से विदा माँगी। बच्चे, बूढ़े, प्रौढ़, नौजवान, बहू-बेटियाँ और वृद्धाएँ एक-एक करके दौड़ पड़ीं। सभी कार्य-कर्त्ताजन एकत्र हो गये, तब दीदी बोलीं—"अब हम आप लोगों से विदा माँगती हैं। जिस तरुण महाप्राण नवयुवक की पुकार पर मैं आप लोगों की सेवा के लिए यहाँ चली आई थी, जो एक के बाद दूसरी और तीसरी दुर्घटना में पड़कर हमारे दृष्टि-पथ से ओझल हो गया था, सौभाग्य से इस समय हमारे सामने है। अनेक संकटों से घिरे रहने पर भी भगवान् ने किस प्रकार से उसकी रक्षा की, यह सब जब आप लोग सुनेंगे, तो आश्चर्य में पड़ जायँगे। वह अपने प्रभाव से इस काम की सहायता के लिए जो रक़म ले आ रहा था, अटैची-केस बदल जाने से वह उसके हाथ से निकल गई थी। फिर बाद में उस रक़म की ज़मानत में मेरे पास दूनी रक़म तो जमा हो ही गई, बल्कि वह अटैची-केस भी मय रक़म के हमारे पास आ गया। इस परिस्थिति के सँभालने में दो-चार दिन के विलम्ब पर कुछ लोगों को जो अविश्वास हुआ, उसके लिए मुझे दुःख है। क्योंकि मैं जानती हूँ, हर सन्देह और अविश्वास हमारी चेतना स्वयं उत्पन्न करती है। खैर, देश और समाज में ऐसे संकट तो आ ही जाते हैं, जैसा यहाँ बाढ़ के समय आ गया था। मुझसे जो सेवा बन पड़ी; वह मैंने की। हमारे साथियों ने बड़ा परिश्रम किया। बड़ी तत्परता और कार्यशीलता का उन्होंने परिचय दिया। इस प्रसंग से उगते राष्ट्र के निर्माण-शील जागरण की सच्ची—पर एक धुंधली-सी—रूप-रेखा बनाकर देखने का

भी हमें अवसर मिला। शिकायतों और उलहनों की सम्भावनाएँ तो सदा बनी रहती हैं। उनमें सुधार होता है और वे मिट भी जाती हैं। यह काल-चक्र और विधि-गति ही कुछ ऐसी है कि आकस्मिक संकट हमारे शांत कार्यक्रम को एकदम से अस्त-व्यस्त कर डालते हैं। लेकिन उत्थान और उन्नति के पावन और प्रशस्त पथ का कारवाँ तो चलता ही रहता है!"

दीदी अभी बोल ही रही थीं कि एक बच्चा बोल उठा--"अब अमको बिछकुत कौन दिया कलेगा?"

दीदी ने उस बच्चे को गोद में उठा लिया। उसकी चुम्मी लेते हुए वे बोलीं--"बिछकुत अब तुमको तुम्हारे गाँवों की जनता और तुम्हारी अपनी पंचायत और पाठशालाएँ देंगी। हमारे सारे स्वप्न चाहे पूरे न हों; जैसे आम के बौर की सारी-की-सारी नन्हीं-नन्हीं अँबियाँ हमें पके आम के रूप में खाने को नहीं मिलतीं, बहुतेरी तो आँधियों में, अपने बचपन में ही, गिर जाती हैं! ऐसे ही जीवन के सारे स्वप्न कभी पूरे नहीं होते। लेकिन हमारी स्वप्न देखते रहने की आदत को क्या कीजियेगा! फलीभूत होने में देर भले ही लग जाय, लेकिन एक-न-एक दिन हमारे स्वाधीन राष्ट्र के ये सपने पूरे होकर रहेंगे। आज मैं भी उस दिन का स्वप्न देख रही हूँ, जब हमारे देश के बच्चे अपने-अपने घरों में ही उछलते-कूदते हुए बिसकुट खायँगे। माँगकर खाने अथवा कोई दे, तब उन्हें खाने का अवसर मिले, ऐसी दयनीय स्थिति को वे अपने लिए अपमान की बात समझेंगे।

मनुष्य से भूलें हो जाती हैं। मुझसे भी हो सकती हैं। अज्ञान ज्ञान की छाया में विश्राम लेता है। फिर सेवा के पथ में स्वयं कर्त्तव्य को भी अज्ञान बनते देर नहीं लगती। अतएव यदि कोई ऐसी भूल हो गई हो, तो मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ।"

दीदी के सम्मान में कुछ थोड़े जल-पान के साथ-साथ चाय-पान का भी प्रबन्ध किया गया था। अतः उनको धन्यवाद देने के कतिपय कथनों के बाद दीदी ने उस बच्चे को स्वयं अपने हाथ से बिसकुट खिलाते हुए विदाई की इस सभा को चाय-पार्टी में बदल दिया।

चाचा का शान्ति-संस्कार करने के कारण दिलीप ने पार्टी में सक्रिय भाग नहीं लिया था। ऐसे अवसर पर वह वहाँ केवल अपनी उपस्थिति चाहता था। वह सोच रहा था—'हर एक स्वप्न अपने साथ एक इतिहास छोड़ जाता है।'

थोड़ी देर बाद अपने दल के साथ जब दीदी चल दीं; तो सभी उपस्थित बहू-बेटियाँ और महिलाएँ रो पड़ीं। कई बच्चे मचल उठे। अपनी-अपनी माताओं से लिपटकर वे कहने लगे—"हम भी जायँगे—दीदी के साथ हम भी जायँगे!"

कार में बैठी दीदी चली जा रही थीं और बच्चों के ये कथन धीरे-धीरे उनके कानों के परदों को स्पर्श करते हुए मन्द होते जाते थे।

.. .. ..

लालाजी का शान्ति-संस्कार निर्विघ्न निष्पन्न हो गया, तो एक दिन दीदी ने दिलीप से पूछा—"अब तो तुम्हारे सिर पर नई ज़िम्मेदारियाँ आ गई हैं दिलीप। डॉक्टर बनने का स्वप्न कैसे पूरा करोगे?" उस समय वहाँ दादा, सुरेश और लक्षणा भी उपस्थित थीं। सुरेन्द्र सामने आता दिखाई पड़ रहा था।

"वह स्वप्न केवल मेरा नहीं है दीदी" दिलीप अपनी प्रकृत सरलता के साथ बोला—"उसके निर्माण में चाचाजी का ही मुख्य हाथ था। पिताजी तो मुझे बैरिस्टर बनाना चाहते थे। वे स्वयं न्याय की कुरसी पर रहते थे, इसलिए उनका स्वप्न भी उसी क्रम, दिशा और अनुभव की कल्पना से बना था। पर यह कितना अच्छा हुआ कि चाचाजी उनकी इच्छा के सामने नहीं झुके। क्योंकि मैडिकल-कालिज में अपने विषय का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ मैंने सेवा-धर्म की प्रेरणा भी प्राप्त कर ली।"

दीदी ने आकर पान की तश्तरी सबके सामने कर दी। सुरेश ने दो पान उठा लिये,पर उन्हें मुख के हवाले करने से पहले उसने कह दिया—"लेकिन दिलीप,सेवा-धर्म से घर-गृहस्थी का भरण-पोषण तो हो नहीं सकता। उसके लिए जीविका का कोई एक निश्चित साधन तो होना ही चाहिए।"

सुरेन्द्र बोल उठा—"सुख-शान्ति के साथ जीवन व्यतीत हो, यही सबसे बड़ा सेवा-धर्म—बल्कि मेवा-धर्म है !"

सुनकर सब लोग एक साथ हँस पड़े।

दिलीप ने जेब से एक मोटा वाटर-मार्क काग़ज़ निकालकर एक कृषि-फ़ार्म की योजना उपस्थित कर दी। उसने कहा—"हमारी जमींदारी में कुछ ज़मीन—बल्कि कहना होगा काफ़ी ज़मीन—अब भी ऐसी है,जिस पर खेती होती है। उसका प्रबन्ध अपनी योग्यता और चाचाजी की इच्छा के अनुसार मुंशी लोग करते रहे हैं। अब उसकी देख-रेख मैं करूँगा। वियोग से पहले चाचाजी जो आदेश-पत्र लिखकर छोड़ गए हैं, उसका पालन तो मुझको करना ही पड़ेगा। घर-गृहस्थी के भरण-पोषण के लिए क्या वह यथेष्ट न होगा, जब हम उसी भूमि पर नए ढंग से खेती करेंगे ?"

"लेकिन समस्या तो यह है कि तुम मैडिकल-कालेज में मनुष्य-शरीर की हड्डियों और मांस-पेशियों का अध्ययन पूरा करोगे, या खेती-बारी का यह काम देखोगे ?"

सुरेश बोला—"समझ में नहीं आता कि मुख्य समस्या पर अब भी तुम्हारा ध्यान क्यों नहीं जा रहा है। मान लो, डॉक्टरी पास करके तुम आ गए। अब सवाल यह उठता है कि तुम अपनी मैडिकल प्रैक्टिस तो करोगे शहर में और कृषि-उद्योग तुम्हारा रहेगा देहात में। आदमी एक है, मगर नावें दो हैं। वह कौन सा पतवार है, जो दो नावों का निर्देशन कर सके ?"

तब दीदी मुसकराने लगी। बोलीं—"दिलीप कभी पूरी बात नहीं कहता। जो कुछ उसके मन में रहता है, उसका दुअन्नी भर ही वह प्रकट करता है। बाक़ी को इतना छिपाकर रखता है कि कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता।" और दाहिनी ओर पास बैठी लक्षणा के कन्धे पर हाथ रखकर उसे कुछ दबाती हुई उठ खड़ी हुईं।

दो नवागन्तुक चिक की आड़ में चुपचाप खड़े होकर यह बातचीत सुन रहे थे।

दीदी को कहीं जाते देखकर लक्षणा भी उनके साथ जाने को तत्पर हो चुकी थी कि इसी समय वह अपनी साड़ी का आँचल और भी अधिक सँभालती हुई बोल उठीं—"आप लोग यहाँ सब-के-सब बुज़ुर्ग ही विराजमान हैं। मुझे बोलना तो न चाहिए। पर अचानक मेरे मन में एक बात उठ रही है। आज्ञा दें, तो कहूँ ?"

दादा परम प्रसन्न हो उठे। बोले—"ज़रूर कहो बेटा ! ज्ञान और अनुभव प्राप्त करने का काम अवश्य अब तक उम्र पर निर्भर रहा है ; पर बुद्धि के प्रयोग और योजनाओं की कल्पना में प्रतिभा का सहयो हमारे लिए सदा वाञ्छनीय रहेगा !"

दादा के कथन में 'प्रतिभा' शब्द-प्रयोग पर अन्य लोगों की हँसी के साथ-साथ दीदी के मुख पर भी मुसकराहट झलक उठी। फिर भी उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कह दिया—"कितना अच्छा होता, यदि वर्माजी 'प्रतिभा' शब्द के पूर्व 'नवीन' विशेषण लगाकर इस श्लेष से भी अपनी रक्षा कर लेते !"

दादा कुछ हँसे, कुछ संकुचित हुए।

इसी समय चिक का परदा उठ गया और बिस्सू ने प्रवेश करते हुए कह दिया—"व्यंजना और केशव जीजा आ रहे हैं।"

दीदी उनको लेने के लिए बाहर चली आईं। तभी लक्षणा बोल उठीं—"जिनके सम्बन्ध की बात चल रही है, जब वे चुप हैं, तब मैं कहना चाहती हूँ, यदि वे अपने सेवा-धर्म का कार्य-क्षेत्र नगर के बजाय ग्राम में रखना चाहते हों तो ?" और इतना कहकर वह भी व्यंजना से मिलने के लिए बाहर चल दी।

तब पुलकित दिलीप बोल उठा—"सचमुच मामाजी, बात कुछ ऐसी ही है। नगर से सम्बन्ध हमारा पूरा रहेगा। पर कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से तो अब हमको गाँवों की ओर ही बढ़ना पड़ेगा।"

इतने में केशव सामने आ पड़ा। दिलीप ने दृष्टि पड़ते ही पूछा—"कब आये केशव ?" उसके बाद व्यंजना आ पहुँची। तब कुछ संकुचाते और

मुसकराते हुए दिलीप के मुँह से निकल गया—"आओ व्यंजना !"

व्यंजना ने लक्षणा को बाँहों में भर लिया। दादा और सुरेश एक साथ उठे और बाहर चले आए। दीदी उस समय रायसाहब से बातें कर रही थीं। उन्होंने उनका परिचय देते हुए अन्त में यह भी कह दिया कि "वह अटैची-केस आपकी ही जल्दबाजी का परिणाम था।"

"मुझे उसके लिए बड़ा दुःख है।" रायसाहब बोले।

"लेकिन आपने उसको लौटाकर जिस संस्कृति का परिचय दिया है, क्या हम कभी उसे भूल सकते हैं !" जब दीदी ने उत्तर में कह दिया, तब सुरेश अलग ले जाकर दादा के कान में कह रहा था—"जीजाजी ने शारदा के लिए जो लड़का पसन्द किया था, वह आपका सगा भतीजा है।"

इतने में रायसाहब बोल उठे—"दिलीप साहब मिलें, तो उनसे कह दीजियेगा, कभी मेरी कुटिया को भी पवित्र करने की कृपा करें।"

दीदी तभी बोलीं—"आइये चलिये, मैं अभी आपको उससे मिला दूँ।"

तब दीदी उनको अन्दर ले गईं। लेकिन व्यंजना, लक्षणा, सुरेन्द्र और दिलीप सब-के-सब उनका परिचय पाकर दंग रह गए। केशव व्यंजना की ओर देखता हुआ बोला—" 'अदृष्टवाद' पर पुस्तक लिखने कब आ रहे हो दिलीप ?"

दिलीप के मुँह खोलने से पहले व्यंजना बोल उठी—"जब वे लक्षणा को साथ ला सकें।" और रायसाहब के मुँह से निकल गया—"पुस्तक तो वह मेरे यहाँ लिखी जायगी।"

तब दिलीप ने रायसाहब से कह दिया—"मैं आपका यह सौजन्य जीवन-भर न भूलूंगा।"

इधर ये बातें चलने लगीं, उधर बरसाती के पास एक लँगड़ा व्यक्ति आकर इधर-उधर देखने लगा। वह एक सूट पहने हुए था। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी। उसके केश भी बढ़े हुए थे। सिर पर वह सिखों का-सा साफ़ा बाँधे हुए था। उसकी कनपटी पर घाव का एक ताजा चिह्न था। अपनी दोनों बाहें वह एक बैसाखी पर टिकाये हुए था।

कालीचरन उसे अपने साथ ले आया था ; पर बँगले के अन्दर भेज कर वह तुरन्त लौट गया था ।

बरसाती में एक पिंजड़ा टँगा था । उसमें बैठी मैना इतने में बोल उठी—"आप कहाँ से आये हैं ? आपका शुभ नाम ?"

लँगड़ा व्यक्ति उसकी ओर इकटक देख ही रहा था कि तत्काल दरवाज़ा खुल गया और दीपा ने वही प्रश्न दोहरा दिये—"आप कहाँ से आये हैं ? आपका शुभ नाम ?"

उस व्यक्ति ने कुछ तोतली भाषा में उत्तर दिया—(उसने कुछ दाँत निकलवा डाले थे) "मेरा नाम विश्वनाथ है । दिलीप भैया हों, तो आप मुझे—ज़रा अलग—उनसे मिला दीजिये ।"

थोड़ी देर में विश्वनाथ दिलीप के सामने था। पर वह उसको देखते ही वैसाखी का आधार त्यागकर फ़र्श पर गिर गया। दिलीप चप्पल पहने हुए था । उन्हीं पर अपना सिर रखकर वह उसके पैरों पर मत्था रगड़ने लगा ।

दिलीप हक्का-बक्का-सा रह गया ! बोला—"यह आप क्या कह रहे हैं !"

तब वह उठकर बैठ गया। उनकी आँखों की पुतलियाँ फैली हुई थीं । उसके होंठ अस्थिर थे, वे थर-थर काँप रहे थे ।

एक भर्राई हुई विकृत आवाज़ में उसने उत्तर दिया—"जिनके लिए मैं हत्यारा बना हूँ, उन्हें अब मैं आपको सौंपे जाता हूँ । बस यही कहने के लिए मैं आया था।····मुझे माफ़ कर देना भैया !"

दिलीप ने उसे छाती से लगा लिया । उसकी आँखें गीली हो आईं ! एक धीमी और काँपती हुई आवाज़ में उसके मुँह से निकल गया—"तुम सचमुच वीर हो विश्वनाथ । भगवान् तुम्हें अवश्य क्षमा कर देगा ।"

लेकिन तब तक सशस्त्र पुलिस ने उस कमरे को घेर लिया था। कमरा अन्दर से बन्द भी न था । पिस्टल हाथ में लिये हुए कई लोग एक के बाद एक अन्दर आ गए । विश्वनाथ को कोई आश्चर्य नहीं हुआ ।